का॰ मार्क्स फ्रे॰ एंगेल्स

संकलित रचनाएं

तीन खण्डों में

खण्ड २

भाग १

प्रगति प्रकाशन - मास्को
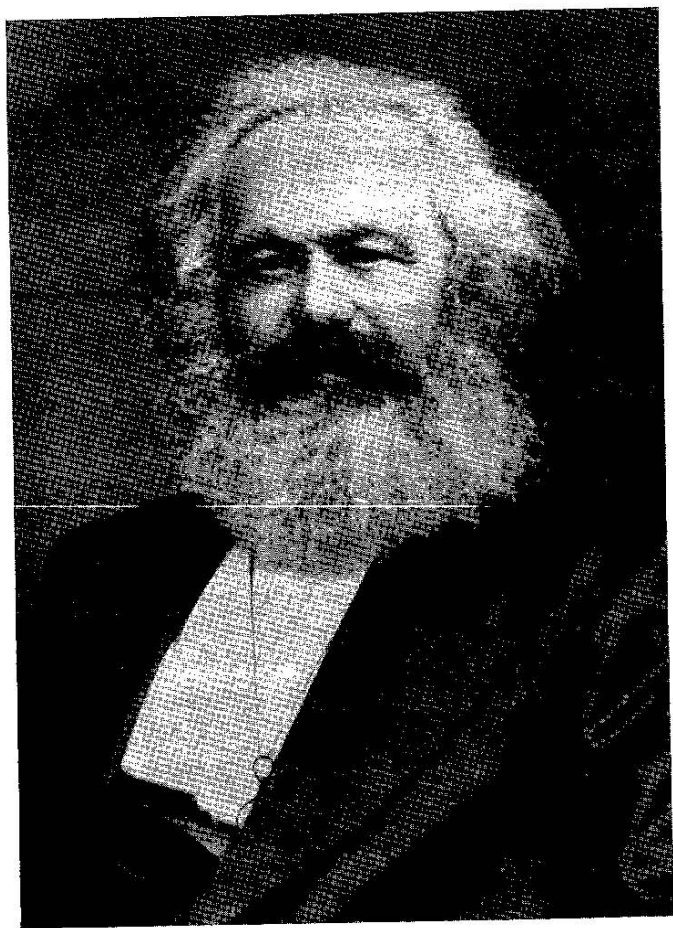
Karl Marx

अनुवादक और संपादक : सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक की ओर से

इस संकलन में जो कृतियां शामिल हैं उनका अनुवाद कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स की संकलित रचनाओं के तीन खण्डों वाले संस्करण (खण्ड २) के मुताबिक़ किया गया है।

पाठकों की सुविधा के लिए इस खण्ड को दो भागों में बांटा गया है।

К. МАРКС и Ф. ЭНГЕЛЬС

Избранные произведения

ТОМ II, часть I

на яз. хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

М $\frac{10101-033}{015(01)-77}$ 655—77

विषय-सूची

पृष्ठ

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की उद्घाटन-घोषणा

२८ सितम्बर १८६४ को लन्दन में लांग ऐक्र के सेंट मार्टिन हाल में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में स्थापित[1]

मज़दूरो,

यह निर्विवाद तथ्य है कि १८४८ से लेकर १८६४ तक मज़दूर जनसमुदाय की ग़रीबी कम नहीं हुई है हालांकि उद्योग के विकास तथा वाणिज्य की वृद्धि के मामले में यह अवधि इतिहास में बेमिसाल है। १८५० में ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के नरम विचारों वाले और अच्छी-ख़ासी जानकारी रखनेवाले एक मुखपत्र ने भविष्यवाणी की थी कि यदि इंगलैंड के आयात और निर्यात में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाये तो इस देश से दरिद्रता लुप्त हो जायेगी। परन्तु अफ़सोस! ७ अप्रैल १८६४ को ब्रिटिश राजस्व मंत्री* ने अपने संसदीय श्रोताओं को इस बयान से पुलकित कर दिया कि इंगलैंड का कुल आयात-निर्यात व्यापार १८६३ में बढ़कर "४४,३९,५५,००० स्टर्लिंग तक पहुंच गया है! यह विस्मयकारी राशि १८४३ की हाल की अवधि के व्यापार से लगभग तिगुनी है!" यह सब होते हुए भी राजस्व मंत्री "दरिद्रता" के बारे में बहुत भावुकता से बोले। उन्होंने विस्मयबोधक स्वर में कहा—"ज़रा सोचें उनके बारे में जो ग़रीबी की सीमा-रेखा पर खड़े हैं," "उजरत..." के बारे में "जो नहीं बढ़ी है," "उस मानव-जीवन के बारे में... जो दस में से नौ के मामले में अस्तित्व के लिए संघर्ष मात्र है!" उन्होंने आयरलैंड के लोगों की चर्चा नहीं की जिनका स्थान, उत्तर में धीरे-धीरे मशीनें तथा दक्षिण में भेड़ों के रेवड़ लेते जा रहे हैं; यह सच है कि उस बदनसीब देश में भेड़ों तक की तादाद में कमी हो रही है, हालांकि उस रफ़्तार से नहीं जिस रफ़्तार से इन्सानों की तादाद में। उन्होंने वह भेद की बात नहीं दुहरायी जिसे अभिजातों के सर्वोच्च प्रतिनिधियों ने भय का एकाएक

* विलियम ग्लैडस्टन। — सं०

दौरा पड़ जाने पर प्रकट कर दिया था। जब "गला घोंटनेवालों"[2] के आतंक ने बढ़कर एक निश्चित आकार ग्रहण कर लिया तो हाउस आफ़ लार्ड्स ने निर्वासन तथा कठोर-श्रम कारावास की जांच करने तथा एक रिपोर्ट प्रकाशित करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। सचाई १८६३ की बृहद् नीली पुस्तक[3] के पन्नों में सामने आ गयी और सरकारी तथ्यों तथा आंकड़ों से यह सिद्ध हो गया कि इंगलैंड तथा स्काटलैंड के सबसे ख़राब अपराधी – कड़ी क़ैद की सज़ा प्राप्त लोग भी – इंगलैंड तथा स्काटलैंड के खेत-मज़दूरों से कहीं कम परिश्रम करते हैं तथा उनसे कहीं बेहतर हालत में हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं था। जब अमरीका में गृहयुद्ध[4] के फलस्वरूप लैंकाशायर तथा चेशायर के मज़दूरों को बेरोज़गार बनाकर सड़कों पर धकेल दिया गया तो उसी हाउस आफ़ लार्ड्स ने एक डाक्टर को औद्योगिक ज़िलों में भेजा, उसे यह पता लगाने का काम सौंपा गया कि सबसे सस्ते तथा सादे रूप में दिये जानेवाले कार्बन और नाइट्रोजन की कितनी औसत मात्रा "भूखजनित रोगों को रोकने" के लिए पर्याप्त होगी। मेडिकल अधिकारी डा० स्मिथ ने तय किया कि २८,००० ग्रेन कार्बन तथा १,३३० ग्रेन नाइट्रोजन से सप्ताह में वह न्यूनतम मात्रा बनती है जो औसत वयस्क के जीवन को ... भूख-जनित रोगों के स्तर से ज़रा बाहर रखेगी; उसने यह भी पता लगाया कि यह मात्रा लगभग पूरी तरह अत्यल्प आहार के बराबर है जिससे कपड़ा मिल-मज़दूरों को घोर अभावावस्था के कारण वस्तुतः सन्तुष्ट होना पड़ता है।* पर अब ज़रा ध्यान दें! उन्हीं मेडिकल अफ़सर को फिर मज़दूर वर्ग के सबसे दरिद्र भाग के आहार की जांच करने का काम सौंपा गया। उनकी खोजों के परिणाम चालू वर्ष में संसद के आदेश पर प्रकाशित 'सार्वजनिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में छठी रिपोर्ट' में मूर्त हैं। डाक्टर ने क्या खोजा? कि रेशमी वस्त्रों के बुनकर, दर्ज़िनें, दस्ताने तथा मोज़े बुननेवाले, आदि लोग औसतन** सूती कपड़ा मिल-मज़दूरों को बेरोज़गारी के समय दिया जानेवाला जितना राशन तक नहीं पाते, वे उतना कार्बन तथा

---

*हमें पाठक को यह याद दिलाने की विशेष आवश्यकता नहीं है कि पानी तथा कतिपय अकार्बनिक पदार्थों के अलावा कार्बन तथा नाइट्रोजन मानव-भोजन की सामग्री हैं। परन्तु मानव-शरीर के आहार के लिए उन सामान्य रासायनिक अवयवों को साग-सब्ज़ी या पशु-जनित पदार्थों के रूप में मुहैया किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए आलू में मुख्यतया कार्बन होता है जबकि गेहूं की डबल रोटी में कार्बनयुक्त तथा नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ उपयुक्त अनुपात में हुआ करते हैं।

जर्मन मूलपाठ में ये शब्द जुड़े हुए हैं "वर्ष-प्रति-वर्ष"। – **सं०

नाइट्रोजन भी नहीं पाते जो "भूखजनित रोगों को रोकने के लिए पर्याप्त" होता है।

"यही नहीं," हम रिपोर्ट को उद्धृत कर रहे हैं, "जहां तक कृषक आबादी के उन परिवारों का सम्बन्ध है, जिनके बारे में जांच की गयी है, यह पाया गया कि इन परिवारों के पांचवें भाग से अधिक को कार्बनयुक्त भोजन अनुमानित पर्याप्त मात्रा से कम मिलता है, कि एक-तिहाई से अधिक को नाइट्रोजनयुक्त भोजन अनुमानित पर्याप्त मात्रा से भी कम मिलता है, कि तीन काउंटियों (बर्कशायर, आक्सफ़ोर्डशायर तथा सोमरसेटशायर) में अपर्याप्त नाइट्रोजनयुक्त भोजन साधारण बात है।" सरकारी रिपोर्ट में आगे चलकर कहा गया है: "यह स्मरण रहना चाहिए कि भोजन की तंगी बहुत अनिच्छापूर्वक स्वीकार की जाती है और नियमतः बहुत ख़राब आहार की बारी दूसरी तमाम तंगियों के बाद ही आती है... यहां तक कि स्वच्छता भी महंगी और कठिन सिद्ध होती है, और इसके बावजूद यदि आत्मसम्मान की दृष्टि से स्वच्छता रखने के प्रयत्न किये जाते हैं तो इस प्रकार का प्रत्येक प्रयत्न भूख की नयी पीड़ाओं का द्योतक होता है।" "ये विचार उस समय और पीड़ादायी बनते हैं जब यह बात स्मरण की जाती है कि जिस ग़रीबी की चर्चा हो रही है, वह निठल्लेपन की औचित्यपूर्ण सजा नहीं है; वह तो सारे मामलों में मेहनतकश आबादी की ग़रीबी है। वस्तुतः वह काम, जिसके लिए मज़दूर यह सीधा-सादा आहार पाते हैं, अधिकतर बहुत लम्बा खिंचता जाता है।"

रिपोर्ट यह विचित्र, कहना चाहिए, अप्रत्याशित तथ्य प्रकाश में लाती है कि "यूनाइटेड किंगडम के सारे भागों"—इंगलैंड, वेल्स, स्काटलैंड तथा आयरलैंड—में से इंगलैंड की, सबसे समृद्ध भाग की कृषक आबादी को सबसे कम आहार मिलता है; परन्तु बर्कशायर, आक्सफ़ोर्डशायर तथा सोमरसेटशायर तक के खेत-मज़दूर पूर्वी लन्दन के उद्योगों में काम करनेवाले हुनरमन्द मज़दूरों से बेहतर हालत में हैं।

ऐसे हैं संसद के आदेश द्वारा १८६४ में, मुक्त व्यापार के स्वर्ण-युग में, ऐसे समय प्रकाशित सरकारी वक्तव्य जब राजस्व मंत्री हाउस आफ़ कामन्स में कह रहे थे—

"ब्रिटिश मज़दूर की औसत हालत इतनी अधिक सुधरी है कि वह असाधारण है तथा किसी भी देश या किसी भी युग के इतिहास में बेमिसाल है।"

इस सरकारी लफ़्फ़ाजी का सरकारी सार्वजनिक स्वास्थ्य रिपोर्ट की शुष्क टिप्पणी तीक्ष्णतापूर्वक खण्डन करती है—

"किसी भी देश के सार्वजनिक स्वास्थ्य का अर्थ है उसके जनसाधारण का स्वास्थ्य, और जनसाधारण मुश्किल से स्वस्थ होंगे अगर वे निचले स्तरों तक सामान्य रूप से समृद्ध नहीं होंगे।"

अपनी आंखों के सामने नृत्य करते "राष्ट्र की प्रगति" के आंकड़ों से चकाचौंध राजस्व मंत्री असीम हर्षोल्लास के साथ कह उठते हैं—

"१८४२ से १८५२ तक देश की कर योग्य आय ६ प्रतिशत बढ़ी है; १८५३ को आधार मानते हुए वह १८५३ से १८६१ तक २० प्रतिशत बढ़ी है! यह तथ्य इतना आश्चर्यजनक है कि वह प्रायः अविश्वसनीय प्रतीत होता है! .." श्री ग्लैडस्टन ने आगे कहा: "समृद्धि तथा शक्ति की यह मदोन्मत्तकारी वृद्धि सर्वथा सम्पत्तिधारी वर्गों तक सीमित है!"

यदि आप यह जानना चाहते हैं कि जर्जर स्वास्थ्य, हौसलापस्ती तथा मानसिक अधःपतन की किन परिस्थितियों के अन्तर्गत मजदूर वर्ग "सर्वथा सम्पत्तिधारी वर्गों तक सीमित" यह "समृद्धि तथा शक्ति की मदोन्मत्तकारी वृद्धि" पैदा कर रहे थे या कर रहे हैं तो जरा दर्ज़ीघरों, छापाखानों और ड्रेसमेकरों के वर्कशापों के विषय में पिछली 'सार्वजनिक स्वास्थ्य रिपोर्ट' में प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट पर नज़र डालें! इस रिपोर्ट की तुलना १८६३ की 'बाल रोज़गार आयोग की रिपोर्ट' से करें जिसमें, उदाहरण के लिए, कहा गया है कि

"कुम्हार, नर और नारी दोनों शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टि से आबादी की अत्यधिक अधःपतित श्रेणी में आते हैं;" कि "अस्वस्थ बच्चा बड़ा होने पर अस्वस्थ मां या बाप बनता है;" कि "नस्ल क्रमिक रूप से बिगड़ती चली जायेगी;" कि "यदि पड़ोस के प्रदेशों से निरन्तर भर्ती न होती रहती तथा अधिक स्वस्थ लोगों के साथ विवाह न होते रहते तो स्टेफ़ोर्डशायर की आबादी का अधःपतन और भी अधिक होता।"

जरा 'नानबाई मजदूर-कारीगरों की शिकायतें' नामक श्री ट्रेमेनहीर की नीली पुस्तक पर नज़र डालें! फ़ैक्टरियों के इन्स्पेक्टरों द्वारा प्रस्तुत तथा रजिस्ट्रार-जनरल द्वारा प्रमाणित किये गये इस विरोधाभासपूर्ण वक्तव्य से किसे कंपकंपी

नहीं आयी होगी कि लैंकाशायर के मज़दूरों को जब राहत के रूप में राशन दिया जाने लगा तो उनका स्वास्थ्य वस्तुतः सुधरता गया क्योंकि वे सूत के अभाव के कारण सूती कपड़ा मिलों से अस्थायी रूप से अलग हो गये थे; कि बाल मृत्यु-दर घट रही थी क्योंकि माताओं को गाडफ़्रे की अफ़ीम मिश्रित दवा के बजाय अब अपने बच्चों को अपना दूध पिलाने की सुविधा तो दे दी गयी थी।

अब सिक्के को उलटकर देखें! २० जुलाई १८६४ को हाउस आफ़ कामन्स के समक्ष प्रस्तुत किया गया आय तथा सम्पत्ति कर सम्बन्धी ब्योरा हमें बताता है कि जिन लोगों की वार्षिक आमदनी कर वसूलनेवालों ने ५०,००० स्टर्लिंग या इससे अधिक आंकी है, उनकी संख्या में ५ अप्रैल १८६२ और ५ अप्रैल १८६३ के बीच १३ की वृद्धि हुई है, वह एक वर्ष के अन्दर-अन्दर ६७ से ८० तक बढ़ी है। यही ब्योरा यह तथ्य भी प्रकाश में लाता है कि लगभग तीन हज़ार व्यक्ति ढाई करोड़ स्टर्लिंग की वार्षिक आय को, या कहना चाहिए उस कुल धनराशि से अधिक को आपस में बांट लेते हैं जो इंगलैंड तथा वेल्स के खेत-मज़दूरों के पूरे समूह के बीच प्रति वर्ष बांटी जाती है। १८६१ की जनगणना पर नज़र डालें, आपको पता चल जायेगा कि इंगलैंड तथा वेल्स में भूस्वामी मर्दों की संख्या, जो १८५१ में १६,६३४ थी, १८६१ में घटकर १५,०६६ रह गयी। इस तरह भूमि का संकेन्द्रण दस वर्षों में ११ प्रतिशत बढ़ा है। यदि देश में ज़मीन चन्द लोगों के हाथों में इसी रफ़्तार से संकेन्द्रित होती रही तो भूमि का प्रश्न उसी अनोखे ढंग से सरलीकृत हो जायेगा जिस ढंग से वह रोमन साम्राज्य में हुआ था, वहां नीरो यह सुनकर विद्वेषपूर्ण ढंग से मुस्कराया था कि आधे अफ़्रीकी प्रदेश पर ६ सज्जनों का स्वामित्व है।

हमने इन "तथ्यों की, जो इतने आश्चर्यजनक हैं कि प्रायः अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं", इतनी देर तक चर्चा इसलिये की कि इंगलैंड वाणिज्य तथा उद्योग में यूरोप के शीर्ष स्थान पर है। स्मरण रहे, लूई फ़िलिप के एक उत्प्रवासी पुत्र ने अंग्रेज़ खेत-मज़दूर को इंगलिश चैनल के पार के अपने कम भाग्यशाली साथियों से बेहतर दशा के लिए सार्वजनिक रूप से बधाई दी थी। निस्सन्देह इंगलैंड के ये तथ्य स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार तथा कुछ संकुचित आकार में महाद्वीप के तमाम औद्योगिक तथा प्रगतिशील देशों में प्रकट होते हैं। उन सब में १८४८ से लेकर उद्योग का अभूतपूर्व विकास और आयात तथा निर्यात का अकल्पनीय विस्तार हुआ है। उन सब में "सर्वथा सम्पत्तिधारी वर्गों तक सीमित समृद्धि तथा शक्ति की वृद्धि" सचमुच "मदोन्मत्तकारी" थी। इंगलैंड

की तरह उन सब में मज़दूर वर्ग की एक अल्पसंख्या को वास्तविक मजूरी कुछ बढ़ी हुई मात्रा में मिली जबकि अधिकांश मज़दूरों की मजूरी में नकद वृद्धि का सुख-सुविधाओं की सुलभता के लिए उसी तरह कोई महत्व नहीं था जिस तरह, उदाहरण के लिए, लन्दन के दरिद्रगृहों तथा अनाथालयों में रहनेवालों के लिए इस तथ्य का कोई महत्व नहीं था कि खाद्य-पदार्थों पर जो ख़र्च १८६१ में ६ पौंड १५ शिलिंग ८ पैंस था, वह १८५२ में ७ पौंड ७ शिलिंग ४ पैंस रह गया। सर्वत्र मज़दूर वर्ग का बहुत बड़ा जन-समूह कम से कम उसी रफ़्तार से नीचे धंसता चला जा रहा था, जिस रफ़्तार से उनके ऊपर के वर्गों का सामाजिक पलड़ा भारी होता जा रहा था। यूरोप के तमाम देशों में प्रत्येक पूर्वाग्रहरहित मस्तिष्क के सामने अब यह सत्य प्रत्यक्ष हो चुका है कि न मशीनों में सुधार, न उत्पादन में विज्ञान का अमल, न संचार के साधनों में उन्नति, न नये उपनिवेश, न उत्प्रवास, न नयी मंडियां, न मुक्त व्यापार और न ही ये सब वस्तुएं मिलकर मेहनतकश जनसाधारण की ग़रीबी मिटा सकती हैं; कि वर्तमान मिथ्या आधार पर श्रम की उत्पादन-शक्ति का कोई भी नया विकास सामाजिक विरोधाभासों को निश्चित रूप से गहन बनायेगा और सामाजिक वैरभावों को तेज़ करेगा; केवल वही लोग, जिनका हित दूसरों को काल्पनिक आनन्द की दुनिया में रोके रहना है, इस सत्य से इन्कार करते हैं। आर्थिक प्रगति के इस "मदोन्मत्तकारी" युग में ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में भूख से मौतों ने प्राय: सामाजिक नियम का चरित्र ग्रहण कर लिया है। यह युग विश्व के इतिहास में सामाजिक महामारी की, जिसका नाम वाणिज्यिक तथा औद्योगिक संकट है, अधिकाधिक द्रुत पुनरावृत्ति, उसकी विस्तृत होती जा रही परिधि तथा उसके अधिक घातक प्रभाव से अंकित है।

१८४८ की क्रान्ति की विफलता के उपरान्त महाद्वीप में मज़दूर वर्ग के सारे पार्टी संगठनों तथा पार्टी अख़बारों को कठोरतापूर्वक कुचल दिया गया; मज़दूर वर्ग के सबसे अग्रणी बेटे निराश हालत में भाग कर अटलांटिक पार के जनतंत्र पहुंचे; और मुक्ति के अल्पकालिक स्वप्न औद्योगिक सरगर्मी, नैतिक क्षय तथा राजनीतिक प्रतिक्रियावाद के युग के आरम्भ होने पर विलीन हो गये। महाद्वीप के मज़दूर वर्ग की पराजय ने, जिसका अंशत: कारण आंग्ल सरकार की कूट-नीति थी, जो आज की तरह पहले भी सेंट-पीटर्सबर्ग के मंत्रिमंडल के साथ बन्धुत्व-पूर्ण एकजुटता क़ायम रखते हुए काम कर रही थी, अपने संक्रामक प्रभावों को जल्द इंगलिश चैनल की दूसरी तरफ़ भी फैला दिया। महाद्वीपीय वर्ग-बन्धुओं

की पराजय ने जहां आंग्ल मज़दूरों का हौसला पस्त कर दिया तथा अपने लक्ष्य में उनका विश्वास भंग कर दिया, वहां उसने ज़मींदारों तथा महाजनों के कुछ हद तक डिग चुके विश्वास को फिर से जगा दिया। वे पहले विज्ञापित की जा चुकी रियायतों से गुस्ताख़ी के साथ मुकर गये। नये स्वर्ण-क्षेत्रों की खोज ने बहुत बड़े पैमाने पर निष्क्रमण को जन्म दिया जो ब्रिटिश सर्वहाराओं की पांतों में पूरी न की जा सकनेवाली रिक्तता छोड़ गया। उसके अन्य भूतपूर्व सक्रिय सदस्य अधिक काम तथा मजूरी की अस्थायी रिश्वत के चक्कर में फंस गये तथा "राजनीतिक हड़तालतोड़क" बन गये। चार्टिस्ट आन्दोलन[5] को बनाये रखने या उसका पुनःसंगठन करने की सारी चेष्टाएं बुरी तरह विफल हो गयीं। जनसाधारण की उदासीनता के कारण मज़दूर वर्ग के अख़बार एक-एक कर बन्द होते गये; और सच तो यह है कि आंग्ल मज़दूर वर्ग राजनीतिक नगण्यता की स्थिति को इस तरह पहले कभी शिरोधार्य करता नहीं दिखायी दिया था। ब्रिटिश तथा महाद्वीपीय मज़दूर वर्ग के बीच यदि पहले कार्रवाई की एकता नहीं रही तो अब उनके बीच बहरसूरत पराजय की एकजुटता तो थी ही।

इसके बावजूद १८४८ की क्रान्तियों के बाद गुज़री अवधि सकारात्मक लक्षणों से वंचित नहीं है। यहां हम केवल दो तथ्यों की ओर संकेत करेंगे।

अत्यन्त प्रशंसनीय धैर्य के साथ लड़ी गयी तीस वर्षीय लड़ाई के बाद अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग ने ज़मींदारों तथा महाजनों के बीच अस्थायी फूट का लाभ उठाते हुए १० घंटे के कार्य-दिवस का विधेयक[6] मंज़ूर कराने में सफलता प्राप्त की। कारख़ाना-मज़दूरों को इसके अपरिमित शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक लाभों को, जिनका अर्द्धवर्षीय वृतान्त कारख़ानों के इन्स्पेक्टरों की रिपोर्टों में दर्ज है, अब सब स्वीकार करते हैं। अधिकांश महाद्वीपीय सरकारों को आंग्ल कारख़ाना-क़ानून न्यूनाधिक संशोधित रूप में स्वीकार करना पड़ा। और स्वयं आंग्ल संसद हर साल इसके कार्यकलाप का क्षेत्र विस्तृत करने के लिए विवश होती रही। मेहनतकशों के इस पग का उनके लिए व्यावहारिक अर्थ तो था ही, इसके अलावा उसकी अद्भुत सफलता का कुछ और भी कारण था। पूंजीपति वर्ग ने प्रोफ़ेसर सीनियर, डा० यूरे और दूसरे बदनाम वैज्ञानिकों तथा उसी ढंग के दूसरे पंडितों के ज़रिए यह भविष्यवाणी की तथा वह निरन्तर यह सिद्ध करता रहा कि काम के घंटों को किसी प्रकार के क़ानून द्वारा सीमित करने की कार्रवाई ब्रिटिश उद्योग के लिए मौत की घंटी होगी जो रक्त चूषक प्रेत की तरह ख़ून चूसकर, बच्चों का ख़ून चूसकर ही जीवित रह सकता है। पुराने ज़माने में बाल-हत्या मोलोख

धर्म का एक गुप्त अनुष्ठान हुआ करता था। कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण उत्सवों के समय, सम्भवतः वर्ष में एक बार यह अनुष्टान किया जाता था, इसके अलावा मोलोख की ग़रीबों के बच्चों के प्रति कोई विशिष्ट आसक्ति नहीं थी। काम के घंटे क़ानून द्वारा सीमित किये जाने के बारे में यह संघर्ष इसलिए और भी उग्रतापूर्वक चला कि लालची मुनाफ़ाख़ोरों के भयभीत होने से निरपेक्ष रूप में यहां मामला पूर्ति तथा मांग के नियम के अंध शासन – जो पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक अर्थशास्त्र का आधार है – तथा सामाजिक दूरदृष्टि द्वारा नियंत्रित सामाजिक उत्पादन – जो मजदूर वर्ग का राजनीतिक अर्थशास्त्र है – के बीच चलनेवाले महान विवाद का था। इस कारण दस घंटे के कार्य-दिवस का विधेयक बहुत बड़ी व्यावहारिक सफलता मात्र नहीं था; वह तो एक सिद्धान्त की विजय था; यह पहला मौक़ा था जब पूंजीपति वर्ग का राजनीतिक अर्थशास्त्र मजदूर वर्ग के अर्थशास्त्र के आगे दिनदहाड़े पीछे हट गया।

परन्तु सम्पत्ति के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर श्रम के राजनीतिक अर्थशास्त्र को अभी और भी बड़ी विजय प्राप्त करनी थी। हम सहकारिता आन्दोलन की, विशेष रूप से चन्द साहसी "हाथों" द्वारा बिना मदद के खड़े किये गये सहकारी कारख़ानों की बात कर रहे हैं। इन बड़े सामाजिक प्रयोगों का मूल्य घटाकर नहीं आंका जा सकता। उन्होंने कथनी से नहीं वरन् करनी से यह दिखा दिया है कि व्यापक तथा आधुनिक विज्ञान की अपेक्षाओं से मेल खानेवाला उत्पादन-कार्य मजदूर वर्ग को नौकर रखनेवाले स्वामियों के वर्ग के अस्तित्व के बिना चलाया जा सकता है; उन्होंने यह दिखा दिया कि सफल उत्पादन के लिए यह जरूरी नहीं है कि स्वयं श्रम करनेवाले पर प्रभुत्व क़ायम करने तथा उससे जबर्दस्ती वसूली करने के साधन के रूप में श्रम के साधनों पर एकाधिकार क़ायम किया जाये; उन्होंने यह दिखा दिया कि भूदास-श्रम की भांति, दास-श्रम की भांति, उजरती श्रम भी एक संक्रमणात्मक और निम्न रूप है जिसका स्वेच्छा, तत्परता तथा उत्साह के साथ किये जानेवाले सामूहिक श्रम के सामने विलोप अवश्यम्भावी है। इंगलैंड में सहकारी प्रणाली के बीज राबर्ट ओवेन ने बोये थे; मेहनतकश लोगों के प्रयोग, जो महाद्वीप में अमल में लाये गये, वस्तुतः उन सिद्धान्तों के प्रथम व्यावहारिक निष्कर्ष थे जिन्हें १८४८ में आविष्कृत नहीं किया गया था, वरन् जोरों से उद्घोषित किया गया था।

साथ ही १८४८ से लेकर १८६४ तक की अवधि के अनुभव ने असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि सहकारी श्रम सिद्धान्त में कितना ही उत्तम क्यों

न हो, व्यवहार में कितना ही उपयोगी क्यों न हो, जब तक उसे अलग-अलग मेहनतकशों के अनियत प्रयत्नों के संकीर्ण दायरे से बाहर नहीं लाया जायेगा वह इजारेदारी की द्रुत वृद्धि को रोकने, जनसाधारण को मुक्त करने, यहां तक कि उनकी ग़रीबी के भार में कोई प्रत्यक्ष कमी लाने में कभी समर्थ नहीं हो सकेगा। सम्भवतः ठीक यही कारण है कि सदाशयी अभिजात लोग, पूंजीवादी वाचाल-परोपकारी, यहां तक कि प्रखर अर्थशास्त्री भी—सब के सब घृणास्पद ढंग से तुरन्त ठीक उसी सहकारी श्रम के पक्ष में हो गये हैं जिसे उन्होंने स्वप्नद्रष्टा का कल्पनाविलास बताकर, समाजवादी ईश्वरनिन्दा बताकर आरम्भ में ही नष्ट करने का विफल यत्न किया था। श्रमिक जनसाधारण की मुक्ति के लिए सहकारी श्रम को राष्ट्रीय पैमाने और फलस्वरूप राष्ट्रीय साधनों के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए। परन्तु भूमि के प्रभु तथा पूंजी के प्रभु अपनी आर्थिक इजारेदारियों की रक्षा करने तथा उन्हें बरकरार रखने के लिए सदैव अपने राजनीतिक विशेषाधिकारों का उपयोग करते रहेंगे। इसलिए श्रम की मुक्ति को बढ़ावा देना तो रहा दूर, वे उसकी राह में हर प्रकार का बाधा पैदा करते रहेंगे। जरा स्मरण करें कि लार्ड पामर्स्टन ने पार्लमेंट के पिछले अधिवेशन में आयरिश पट्टेदार अधिकार क़ानून के समर्थकों को किस तिरस्कारपूर्ण ढंग से ख़ामोश कर दिया था। वह चिल्ला उठे—हाउस आफ़ कामन्स भूमिधारी मालिकों का सदन है।

इसलिए राजनीतिक सत्ता हासिल करना मज़दूर वर्गों का महान कर्तव्य बन गया है। वे यह बात समझ गये प्रतीत होते हैं क्योंकि इंगलैंड, जर्मनी, इटली तथा फ्रांस में मज़दूर पार्टी का एक साथ पुनरुज्जीवन हुआ है तथा उसके राजनीतिक पुनःसंगठन के लिए एक साथ प्रयत्न किये जा रहे हैं।

मज़दूरों के पास सफलता का एक तत्व है, वह है संख्या। परन्तु संख्या तभी निर्णायक होती है जब जनसाधारण संगठन में ऐक्यबद्ध हों तथा ज्ञान उनका नेतृत्व करता हो। अतीत का अनुभव बताता है कि भाईचारे के उस सम्बन्ध-सूत्र की उपेक्षा ने, जो विभिन्न देशों के मेहनतकशों के बीच होना चाहिए और जिसे उनके मुक्ति के संघर्ष में एक-दूसरे के साथ दृढ़तापूर्वक खड़े रहने के लिए प्रेरणा देनी चाहिए, उनके असंलग्न प्रयत्नों को समान विफलता के मुंह में पहुंचाया। इस विचार ने २८ सितम्बर १८६४ को सेंट मार्टिन हाल में जमा होनेवाले विभिन्न देशों के मेहनतकश लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया।

एक और धारणा ने इस सभा में भाग लेनेवालों को अनुप्राणित किया।

यदि मज़दूर वर्ग की मुक्ति मज़दूरों के बन्धुत्वपूर्ण सहयोग की अपेक्षा करती

है तो वे मुजरिमाना मन्सूबों का अनुसरण करनेवाली विदेश नीति के अन्तर्गत जो राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों के साथ खिलवाड़ करती है, जो दस्युतापूर्ण युद्धों में जनता का रक्त तथा उसकी दौलत बरबाद करती है, कैसे अपने महान ध्येय की पूर्ति कर सकते हैं? सत्तारूढ़ वर्गों की बुद्धिमत्ता नहीं, वरन् उनकी मुजरिमाना मूर्खता का इंगलैंड के मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये वीरतापूर्ण प्रतिरोध ने पश्चिमी यूरोप को अटलांटिक के पार दासता बनाये रखने तथा प्रसार करने के लिए बदनाम जेहाद में सीधे कूदने से बचाया। यूरोप के ऊपरी वर्ग जिस बनावटी सहानुभूति अथवा मूर्खतापूर्ण उदासीनता के साथ रूस द्वारा काकेशियाई पर्वतीय दुर्गों पर क़ब्ज़ा और वीर पोलैंड की हत्या देखते रहे, उन्होंने तथा इन कार्रवाइयों के निर्लज्जतापूर्ण अनुमोदन ने, उस बर्बर शक्ति के, जिसका सिर सेंट पीटर्सबर्ग में है तथा जिसके हाथ यूरोप के सारे मंत्रिमंडलों के अन्दर हैं, असीम तथा अप्रतिरोधित अतिक्रमणों ने मज़दूर वर्ग को सिखाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रहस्यों में पारंगत बनना, अपनी-अपनी सरकारों की कूटनीतिक कार्रवाइयों पर नज़र रखना, ज़रूरत पड़ने पर अपनी भरपूर ताक़त से उन्हें विफल बनाना; उन्हें रोकने में असमर्थ होने की हालत में उनकी एक साथ भर्त्सना करने के लिए एकजुट होना और नैतिकता तथा न्याय के सीधे-सादे नियमों की, जिन्हें निजी तौर पर लोगों के सम्बन्ध निदेशित करने चाहिए, राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों के सर्वोच्च नियमों के रूप में रक्षा करना उनका कर्त्तव्य है।

इस प्रकार की विदेश नीति के लिए संघर्ष मज़दूर वर्ग की मुक्ति की आम लड़ाई का अंग है।

दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

अंग्रेज़ी से अनूदित।

मार्क्स द्वारा २१ और २७ अक्तूबर १८६४ के बीच लिखित।

«Address and Provisional Rules of the Working Men's International Association, Established September 28, 1864, at a Public Meeting held at St. Martin's Hall, Long Acre, London» शीर्षक पर्चे में प्रकाशित, नवम्बर १८६४ में लन्दन में मुद्रित। जर्मन भाषा में लेखक का अनुवाद २१ और ३० दिसम्बर १८६४ को *«Social Demokrat»* अख़बार के अंक २ और अंक ३ के परिशिष्ट में प्रकाशित।

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की आम नियमावली [7]

यह ध्यान में रखते हुए

कि मज़दूर वर्गों की मुक्ति स्वयं मज़दूर वर्गों द्वारा हासिल की जानी चाहिए; कि मज़दूर वर्गों की मुक्ति का अर्थ वर्ग-विशेषाधिकारों तथा इजारेदारियों के लिए नहीं, वरन् समान अधिकारों तथा कर्तव्यों और समस्त वर्ग-शासन के उन्मूलन के लिए संघर्ष है;

कि मेहनतकश इन्सान की श्रम के साधनों के, अर्थात् जीवन के स्रोतों के इजारेदार की आर्थिक अधीनता दासता और उसके समस्त रूपों, सारी सामाजिक दरिद्रता, मानसिक अधःपतन तथा राजनीतिक पराधीनता का आधार है;

कि इसलिए मज़दूर वर्गों की आर्थिक मुक्ति एक महान लक्ष्य है, प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन को एक साधन के रूप में उसके अधीन होना चाहिए;

कि उस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए किये गये सारे प्रयत्न हर देश में श्रम के विविध भागों के बीच एकजुटता के अभाव के कारण, विभिन्न देशों के मज़दूर वर्गों के बीच ऐक्यबद्धता के बन्धुत्वपूर्ण सूत्र के अभाव के कारण अब तक विफल रहे हैं;

कि श्रम की मुक्ति न तो स्थानीय और न राष्ट्रीय समस्या है, बल्कि एक सामाजिक समस्या है जिसकी परिधि में वे सारे देश आ जाते हैं जहां आधुनिक समाज का अस्तित्व है, और जिसका समाधान सबसे उन्नत देशों के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सहयोग पर निर्भर करता है;

कि यूरोप के सबसे अधिक विकसित औद्योगिक देशों में मज़दूर वर्गों का वर्तमान नवीन पुनरुत्थान जहां नयी आशा को जन्म देता है, वहां वह पुरानी ग़लतियों की पुनरावृत्ति किये जाने के बारे में गम्भीर चेतावनी भी देता है तथा अभी तक असम्बद्ध आन्दोलनों को तत्काल सूत्रबद्ध करने का आह्वान करता है;

इन कारणों से—

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की स्थापना की गयी है।

वह घोषित करता है:

कि उससे संलग्न होनेवाली समस्त सोसायटियां तथा व्यक्ति सत्य, न्याय तथा नैतिकता को एक-दूसरे के प्रति तथा शरीर के रंग, धार्मिक विश्वास या जातीयता का ख़्याल किये बिना समस्त लोगों के प्रति अपने व्यवहार के आधार के रूप में शिरोधार्य करेंगे;

कि वह **कर्त्तव्यों से रहित किसी भी अधिकार को तथा अधिकारों से रहित किसी भी कर्त्तव्य को** स्वीकार **नहीं** करता;

और इस भावना में निम्न नियमावली तैयार की गयी है।

१. यह संघ विभिन्न देशों में विद्यमान तथा एक ही लक्ष्य के लिए, अर्थात् मज़दूर वर्गों की रक्षा, उन्नति तथा पूर्ण मुक्ति के लिए काम करनेवाली मज़दूरों की सोसायटियों के बीच संपर्क तथा सहयोग का एक केन्द्र बनाने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है।

२. सोसायटी का नाम "अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ" होगा।

३. प्रति वर्ष आम मज़दूर कांग्रेस हुआ करेगी जिसमें संघ की शाखाओं के प्रतिनिधि शामिल होंगे। कांग्रेस को मज़दूर वर्ग की समान आकांक्षाएं उद्घोषित करनी होंगी, अन्तर्राष्ट्रीय संघ के कार्य की सफलता के लिए आवश्यक पग उठाने होंगे तथा संघ की जनरल कौंसिल की स्थापना करनी होगी।

४. प्रत्येक कांग्रेस आगामी कांग्रेस के आयोजन के लिए स्थान तथा समय निश्चित करेगी। प्रतिनिधि किसी विशेष निमंत्रण के बिना नियत समय तथा स्थान पर जमा होंगे। जनरल कौंसिल आवश्यकता पड़ने पर स्थान बदल सकती है परन्तु उसे सभा का समय स्थगित करने का कोई अधिकार नहीं है। कांग्रेस प्रति वर्ष जनरल कौंसिल का स्थान तय करेगी तथा उसके सदस्य निर्वाचित करेगी। इस प्रकार निर्वाचित जनरल कौंसिल को अपने सदस्यों की संख्या बढ़ाने का अधिकार होगा।

आम कांग्रेस अपने वार्षिक अधिवेशनों में जनरल कौंसिल के सालाना कार्यों की सार्वजनिक रिपोर्ट पर विचार किया करेगी। जनरल कौंसिल संकट की स्थिति में नियमित वार्षिक कार्यकाल से पहले भी आम कांग्रेस बुला सकती है।

५. जनरल कौंसिल अन्तर्राष्ट्रीय संघ में विभिन्न देशों के प्रतिनिधित्व प्राप्त मज़दूरों को लेकर बनेगी। वह कामकाज के संचालन के लिए अपने सदस्यों में

से अधिकारी चुना करेगी, जैसे कोषाध्यक्ष, महासचिव, विभिन्न देशों के लिए सहयोगी सचिव, आदि।

६. जनरल कौंसिल संघ के विभिन्न राष्ट्रीय तथा स्थानीय संगठनों के मध्य एक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय गठित करेगी ताकि एक देश के मज़दूरों को हर अन्य देश में अपने वर्ग के आन्दोलनों से निरन्तर अवगत रखा जा सके; ताकि यूरोप के विभिन्न देशों की सामाजिक दशा के बारे में एक साथ तथा समान निर्देशन में जांच की जा सके; ताकि एक सोसायटी में उठनेवाले समान दिलचस्पी के सवालों पर सबमें विचार हो सके; ताकि जब कभी तत्काल व्यावहारिक पग—उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के बारे में—उठाने ज़रूरी हों, संघ की सोसायटियां एक साथ कार्रवाई कर सकें तथा उसमें एकरूपता हो। जब भी उपयुक्त हो, जनरल कौंसिल विभिन्न राष्ट्रीय अथवा स्थानीय सोसायटियों के समक्ष प्रस्ताव रखने के लिए पहलक़दमी करेगी। सम्पर्कों को सुगम बनाने के लिए जनरल कौंसिल समय-समय पर रिपोर्टें प्रकाशित किया करेगी।

७. चूंकि प्रत्येक देश में मज़दूर आन्दोलन की सफलता ऐक्यबद्धता तथा संगठन की शक्ति के अलावा और किसी तरह सुनिश्चित नहीं की जा सकती, और चूंकि दूसरी ओर जनरल कौंसिल की उपयोगिता बहुत कुछ इस परिस्थिति पर निर्भर करती है कि उसे मज़दूरों की संस्थाओं के चन्द राष्ट्रीय केन्द्रों से अथवा छोटी-छोटी, असम्बद्ध स्थानीय सोसायटियों की बहुत बड़ी तादाद से निबटना पड़ता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यों को मज़दूरों की अपने-अपने देशों की असम्बद्ध सोसायटियों को राष्ट्रीय संगठनों में, जिनका केन्द्रीय राष्ट्रीय निकाय प्रतिनिधित्व करें, मिलाने के लिए अधिकतम प्रयास करने चाहिए। परन्तु यह स्वतःस्पष्ट है कि इस नियम का लागू किया जाना हर देश के विशिष्ट क़ानूनों पर निर्भर करता है, और स्थानीय बाधाओं के अलावा किसी भी अन्य स्थिति में कोई भी स्वतन्त्र स्थानीय सोसायटी जनरल कौंसिल से सीधे पत्र-व्यवहार करने से विमुख नहीं रखी जायेगी।*

८. हर शाखा को जनरल कौंसिल से पत्र-व्यवहार करने के लिए अपना सचिव नियुक्त करने का अधिकार होगा।

---

*१८७२ की हेग कांग्रेस के निर्णयानुसार नियमावली में धारा ७ के बाद एक अतिरिक्त धारा ७ क जोड़ी गयी थी। प्रस्तुत खण्ड का भाग २ देखें। —सं०

९. जो कोई अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के सिद्धान्त स्वीकार करता है तथा उनकी रक्षा करता है, वह सदस्य बनने का अधिकारी है। हर शाखा अपने सदस्यों की, जिन्हें वह भर्ती करती है, ईमानदारी के लिए उत्तरदायी है।

१०. जो कोई सदस्य एक देश से दूसरे देश में जा बसता है, उसे संघ में ऐक्यबद्ध मजदूरों का बन्धुत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त होगा।

११. अन्तर्राष्ट्रीय संघ में शामिल होनेवाली मजदूर सोसायटियां जहां बन्धुत्वपूर्ण सहयोग के स्थायी सूत्र में बंधी रहेंगी, वहां वे अपने विद्यमान संगठनों को अक्षुण्ण रखेंगी।

१२. वर्तमान नियमावली को प्रत्येक कांग्रेस संशोधित कर सकती है, बशर्ते प्रतिनिधियों का दो-तिहाई भाग ऐसे संशोधन के पक्ष में हो।

१३. वर्तमान नियमावली में जो कुछ नहीं दिया जा सका है, उन सबकी विशेष अधिनियमों द्वारा व्यवस्था की जायेगी जिन्हें हर कांग्रेस संशोधित कर सकती है।

२५६, हाइ होलबोर्न, डबल्यू० सी० लन्दन,
२४ अक्तूबर १८७१।

पर्चों के रूप में अंग्रेज़ी तथा फ़्रांसीसी में नवम्बर – दिसम्बर १८७१ में तथा जर्मन में फ़रवरी १८७२ में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को सन्देश[8]

महोदय,

बहुत बड़े बहुमत द्वारा आपको पुनःनिर्वाचित किये जाने पर हम अमरीकी जनता को बधाई देते हैं। यदि दास-स्वामियों की शक्ति का प्रतिरोध आपके प्रथम निर्वाचन का संयत नारा था तो आपके पुनर्निर्वाचन का विजयपूर्ण युद्धघोष है – दासप्रथा की मृत्यु हो!

अमरीका में विराट संघर्ष के आरम्भ से ही यूरोप के मजदूर अपनी सहज बुद्धि से यह अनुभव करते रहे हैं कि तारांकित यह झंडा उनके वर्ग के भाग्य से जुड़ा हुआ है। इलाकों के लिए संघर्ष को, जिसने इस कठोर महाकाव्य का श्रीगणेश किया, क्या यह फ़ैसला नहीं करना था कि असीम विस्तार वाली अछूती धरती उत्प्रवासियों के श्रम के लिए छोड़ दी जायेगी अथवा ग़ुलामों को हांकने-वालों के पांवों से वह कलंकित होगी?

जब तीन लाख दास-स्वामियों के अल्पतंत्र ने विश्व के इतिहास में पहली बार सशस्त्र विद्रोह के झंडे पर "दासप्रथा" नारा अंकित करने की हिम्मत की, जब ठीक उन स्थानों में जहां मुश्किल से एक सदी पहले एकीकृत महान जनवादी जनतंत्र का विचार उत्पन्न हुआ था, जहां मानव के अधिकारों का पहला घोषणापत्र[9] जारी किया गया था, और जहां १८ वीं शताब्दी की यूरोपीय क्रांति को प्रथम संवेग प्रदान किया गया था; जब ठीक उन्हीं स्थानों में प्रतिक्रान्ति सुसंगतता के साथ "पुराने संविधान की रचना के समय छाये विचारों" को मंसूख कर देने के लिए आत्मश्लाघा कर रही थी, और दावे के साथ कह रही थी कि "दासप्रथा लाभदायी व्यवस्था है, वस्तुतः श्रम के साथ पूंजी के सम्बन्ध की बड़ी समस्या का एकमात्र समाधान है," और वक्रभाव से मनुष्य पर स्वामित्व को "नये भवन की आधारशिला" घोषित कर रही थी, तब यूरोप के मजदूर

वर्ग ने तुरन्त – महासंघीय भद्रपुरुषों के प्रति ऊपरी वर्गों की मतांधतापूर्ण पक्षधरता द्वारा अमंगलसूचक चेतावनी दिये जाने से पहले ही – यह समझ लिया था कि दास-स्वामियों का विद्रोह श्रम के विरुद्ध सम्पत्ति के आम जेहाद का आह्वान है, और मेहनतकश लोगों का भाग्य, भविष्य के लिए उनकी आशाएं, उनकी पिछली विजयें तक अटलांटिक के पार जबर्दस्त संघर्ष में दांव पर हैं। इसलिए उन्होंने कपास संकट[10] द्वारा थोपी गयी कठिनाइयों को सर्वत्र धैर्यपूर्वक सहन किया, दासप्रथा के पक्ष में हस्तक्षेप का – जिसके लिए सत्ताधारी लोगों ने जी-तोड़ कोशिश की – उत्साहपूर्वक विरोध किया, और यूरोप के अधिकांश भागों में उचित ध्येय के लिए अपना रक्त प्रदान किया।

जब तक मज़दूरों ने, उत्तर की वास्तविक राजनीतिक शक्ति ने, दासप्रथा को अपना जनतंत्र कलंकित करने दिया, जब तक वे नीग्रो के सामने, जिसे उसकी सहमति के बिना ख़रीदा तथा बेचा जाता था, यह डींग हांका करते थे कि गोरी चमड़ी वाले मज़दूर के पास अपने को बेचने तथा अपना स्वामी चुनने का बड़ा विशेषाधिकार है, तब तक वे श्रम की वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अथवा अपने यूरोपीय बन्धुओं के मुक्ति-संघर्ष में उनका समर्थन करने में असमर्थ रहे; परन्तु प्रगति की राह में इस बाधा को गृहयुद्ध की ख़ूनी लहरें बहा ले गयी हैं।

यूरोप के मज़दूरों को यक़ीन है कि जिस प्रकार अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम[11] ने पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व के नये युग का सूत्रपात किया, उसी प्रकार दासप्रथाविरोधी अमरीकी युद्ध मज़दूर वर्ग के प्रभुत्व के युग का सूत्रपात करेगा। वे इस बात को आनेवाले युग की गारंटी मानते हैं कि जंजीरों से कसी हुई नसल का उद्धार करने का तथा एक सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण करने के लिए अपूर्व संघर्ष में अपने देश का नेतृत्व करने का सौभाग्य मज़दूर वर्ग के अनन्य पुत्र अब्राहम लिंकन को प्राप्त हुआ।

मार्क्स द्वारा २२ तथा २९ नवम्बर १८६४ के बीच लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

«The Bee-Hive Newspaper», अंक १६९ में ७ नवम्बर १८६५ को प्रकाशित।

कार्ल मार्क्स

प्रूदों के विषय में

(ज० ब० श्वीट्जर को पत्र)[12]

लन्दन, २४ जनवरी १८६५

महोदय,

कल मुझे आपका पत्र मिला जिसमें आपने मुझसे प्रूदों का विस्तृत मूल्यांकन करने का अनुरोध किया है। समयाभाव के कारण मैं आपके अनुरोध को पूरा नहीं कर पा रहा हूं। इसके अलावा उनकी **कोई भी** पुस्तक मेरे पास **नहीं** है। परन्तु अपनी सदाशयता का परिचय देने के लिए मैं जल्दी-जल्दी में एक संक्षिप्त ख़ाका पेश कर रहा हूं। आप बाद में इसे अनुपूरित कर सकते हैं, परिवर्द्धित कर सकते हैं, इसके अंश निकाल सकते हैं—कहने का मतलब है, आप इसके साथ जो चाहें कर सकते हैं।*

प्रूदों के आरम्भिक प्रयत्नों की मुझे अब याद नहीं है। **'सार्वत्रिक भाषा'** शीर्षक उनकी रचना[14] से, जो उन्होंने स्कूल में ही लिखी थी, पता चलता है कि उन्होंने कैसे ऐसी समस्याओं से निबटने में ज़रा भी संकोच नहीं किया जिनके बारे में उन्हें बुनियादी ज्ञान तक नहीं था।

उनकी प्रथम कृति **'सम्पत्ति क्या है?'** निःसन्देह उनकी सर्वोत्तम कृति है। यदि अपनी अन्तर्वस्तु की नूतनता की दृष्टि से नहीं तो कम से कम पुरानी बातों को नये ढंग से तथा ढिठाई के साथ कहने की दृष्टि से तो वह अवश्य ही युगान्तरकारी है। उनके परिचित फ़्रांसीसी समाजवादियों तथा कम्युनिस्टों की कृतियों में निस्सन्देह **"सम्पत्ति"** की नाना प्रकार से आलोचना ही नहीं की गयी थी, वरन् वह काल्पनिक ढंग से **"मिटा" दी गयी थी**। इस पुस्तक में सेंत-

---

*हमने पत्र को **बिना किसी परिवर्तन के** छापना बेहतर समझा। (*«Social-Demokrat»*[13] अख़बार के सम्पादकमंडल की टिप्पणी।)

साइमन तथा फ़ुरिये के साथ प्रूदों का सम्बन्ध लगभग वही है जो फ़ायरबाख़ का हेगेल के साथ था। हेगेल की तुलना में फ़ायरबाख़ सर्वथा तुच्छ हैं। इसके बावजूद हेगेल के **बाद** वह युगनिर्माता थे क्योंकि उन्होंने कतिपय ऐसे मुद्दों पर **ज़ोर दिया** जो ईसाई चेतना के लिए अरुचिकर हैं लेकिन मीमांसा की प्रगति के लिए महत्वपूर्ण हैं और जिन्हें हेगेल रहस्यमय अर्द्ध अन्धकार में छोड़ गये थे।

प्रूदों की इस पुस्तक में अब भी – यदि मुझे कहने की इजाज़त दी जाये – सशक्त मांसपेशीय शैली है। और इसकी शैली ही मेरी राय में इसका मुख्य गुण है। यह देखने में आता है कि प्रूदों जहां पुरानी सामग्री को केवल दुबारा पेश कर रहे हैं, वहां भी वह स्वतंत्र खोज करते हैं, कि वह जो कह रहे हैं, वह स्वयं उनके लिए नया था तथा उसे वह नया मानते थे। उत्तेजनात्मक चुनौती, जिसके साथ उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र के "पुनीतों में सबसे पुनीत" सिद्धान्तों में प्रवेश किया, प्रखर विरोधाभास, जिनकी सहायता से वह पूंजीवादी सहजबुद्धि का मख़ौल उड़ाते हैं, तिरस्कारपूर्ण आलोचना, कटु व्यंग्य, विद्यमान घिनौनेपन के प्रति यत्रतत्र दृष्टिगोचर होनेवाली रोष की गहरी तथा सच्ची भावना, क्रांतिकारी ईमानदारी – इन सब वस्तुओं के कारण **'सम्पत्ति क्या है?'** पुस्तक ने पाठकों को चकाचौंध कर दिया और उसने अपने प्रथम प्रकाशन में बहुत प्रभाव पैदा किया। राजनीतिक अर्थशास्त्र के विशुद्ध वैज्ञानिक इतिहास में पुस्तक चर्चा करने योग्य भी न होती। परन्तु इस प्रकार की सनसनीख़ेज कृतियां विज्ञान में उतनी ही भूमिका अदा करती हैं जितनी वे ललित साहित्य में करती हैं। उदाहरण के लिए **माल्थस की 'आबादी के सम्बन्ध में'** पुस्तक को ही ले लें। पहले संस्करण में वह "sensational pamphlet"* और शुरू से लेकर आख़िर तक **साहित्यिक चोरी** के अलावा और कुछ नहीं थी। यह सब होने के बावजूद **मानवजाति को बदनाम करनेवाली इस रचना** ने कितना ज़बर्दस्त प्रभाव पैदा किया था!

यदि प्रूदों की पुस्तक मेरे सामने होती तो मैं उनकी **पहली शैली** का चित्रण करने के लिए आसानी से चन्द मिसालें पेश कर देता। उन्होंने स्वयं जिन अंशों को सबसे महत्वपूर्ण माना उनमें वह विप्रतिषेधों [antinomies] का कांट द्वारा – उस समय तक कांट एकमात्र ऐसे जर्मन दार्शनिक थे जिनसे वह अनुवादों के ज़रिए परिचित थे – किये गये विवेचन का अनुकरण करते हैं और पाठक महसूस करता है कि कांट की तरह उनके लिए भी विप्रतिषेधों का समाधान कुछ ऐसी

* सनसनीख़ेज पर्चा। – **सं०**

वस्तु है जो मानव की समझ से **"बाहर"** है यानि ऐसी वस्तु है जिसके बारे में स्वयं उनकी समझदारी अंधकार में है।

परन्तु सारी दिखावटी चरम क्रान्तिकारिता के बावजूद 'सम्पत्ति क्या है?' में यह विरोधाभास तुरन्त दिखायी देता है कि प्रूदों एक ओर समाज की छोटी जोत वाले फ्रांसीसी किसान (आगे चलकर petit bourgeois* की स्थिति तथा दृष्टि से आलोचना करते हैं तथा दूसरी ओर वह समाजवादियों से उधार लिये गये पैमाने को अमल में लाते हैं।

पुस्तक का दोष उसके नाम से ही जाहिर हो जाता है। सवाल इतने ग़लत ढंग से पेश किया गया था कि उसका सही उत्तर दिया ही नहीं जा सकता था। **प्राचीन रोमन-यूनानी "सम्पत्ति-सम्बन्धों"** को **सामन्ती** सम्पत्ति-सम्बन्धों ने तथा सामन्ती सम्पत्ति-सम्बन्धों को **"पूंजीवादी"** सम्पत्ति-सम्बन्धों ने नष्ट कर दिया। इस तरह स्वयं इतिहास ने अतीत के **सम्पत्ति-सम्बन्धों** की आलोचना कर दी। प्रूदों के लिए वस्तुतः मसला था विद्यमान, **आधुनिक पूंजीवादी सम्पत्ति**। यह क्या है? – इस प्रश्न का उत्तर **"राजनीतिक अर्थशास्त्र"** का, जो अपनी परिधि में इन **सम्पत्ति-सम्बन्धों** को समग्र रूप में, **सांकल्पिक सम्बन्धों** के रूप में उनकी **क़ानूनी** अभिव्यक्ति में नहीं, वरन् उनके वास्तविक रूप में, अर्थात् **उत्पादन के सम्बन्धों** के रूप में लाता हो, आलोचनात्मक विश्लेषण करके ही दिया जा सकता है। परन्तु प्रूदों ने चूंकि इन सारे आर्थिक सम्बन्धों को "सम्पत्ति" की आम विधिपरक अवधारणा में उलझा दिया है, इसलिए वह उस उत्तर से आगे नहीं बढ़ सके जो **ब्रिस्सो** ने अपनी इसी तरह की कृति[15] में १७८९ से पहले ही इन्हीं शब्दों में दे दिया था: "सम्पत्ति चोरी है"।

इसमें से अधिक से अधिक केवल यही हासिल किया जा सकता है कि **"चोरी"** के पूंजीवादी क़ानून-संबंधी संप्रत्ययन स्वयं पूंजीपति के **"ईमानदारीभरे"** लाभों पर भी उतनी ही अच्छी तरह लागू होते हैं। दूसरी ओर चूंकि सम्पत्ति के बलात् अतिक्रमण के रूप में **"चोरी" सम्पत्ति की पूर्वकल्पना करती है**, इसलिए, प्रूदों **वास्तविक पूंजीवादी सम्पत्ति** के विषय में अपने को सब तरह की ऐसी कल्पनाओं की उड़ान में उलझा देते हैं जो स्वयं उनके लिए अस्पष्ट हैं।

१८४४ में पेरिस में अपने प्रवास के दौरान मैं प्रूदों के व्यक्तिगत सम्पर्क में आया था। मैं इसकी चर्चा यहां इसलिए कर रहा हूं कि कुछ हद तक मैं

* निम्नपूंजीपति। – **सं०**

स्वयं उनके "sophistication"* के लिए — जैसे कि अंग्रेज व्यापार में माल की जालसाजी कहते हैं — जिम्मेवार हूं। लम्बी-लम्बी बहसों के दौरान जो प्रायः पूरी-पूरी रात चलती थीं, मैंने ही उनमें हेगेलवाद के कीटाणु भरे थे जो उनके लिए हानिप्रद रहे। जर्मन भाषा के ज्ञान की कमी के कारण वह उसका ठीक तरह अध्ययन नहीं कर सके। मेरे पेरिस से निर्वासन के बाद श्री **कार्ल ग्रून** ने वह काम जारी रखा जो मैंने शुरू किया था। जर्मन दर्शनशास्त्र का अध्यापक होने के नाते उन्हें मेरी तुलना में यह लाभ प्राप्त था कि वह स्वयं इसके बारे में कुछ नहीं समझते थे।

प्रूदों की दूसरी महत्वपूर्ण कृति '**दरिद्रता का दर्शन**, आदि' के प्रकाशन से कुछ ही समय पहले उन्होंने मुझे एक बहुत ही विस्तृत पत्र में यह सूचित किया था। उस पत्र में अन्य बातों के अलावा उन्होंने कहा, "मैं आपकी ओर से कठोर आलोचना की प्रतीक्षा कर रहा हूं।" यह आलोचना शीघ्र उन्हें इस तरह मिली (मेरी कृति '**दर्शन की दरिद्रता**, आदि', **पेरिस**, १८४७) कि हमारी मित्रता सदा के लिए समाप्त हो गयी।

यहां मैंने जो कुछ कहा है, उससे आपको पता चल जायेगा कि अपनी पुस्तक '**दरिद्रता का दर्शन अथवा आर्थिक विरोधों की प्रणाली**' में पहले ही वह वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर दे चुके थे — "**सम्पत्ति क्या है?**"। दर असल इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद ही उन्होंने आर्थिक अध्ययन शुरू किया था; उन्हें पता चला कि जो सवाल उन्होंने उठाया, उसका उत्तर **गाली देकर** नहीं, वरन् आधुनिक "**राजनीतिक अर्थशास्त्र**" का **विश्लेषण** करके ही दिया जा सकता है। साथ ही उन्होंने आर्थिक प्रवर्गों की प्रणाली को द्वन्द्वात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। कांट के असमाधेय "**विप्रतिषेधों**" के स्थान पर अब हेगेलीय "**अन्तर्विरोध**" को विकास के साधन के रूप में प्रतिष्ठापित किया जाना था।

उनकी पुस्तक के, जो दो मोटी जिल्दों में है, मूल्यांकन के लिए मैं आपको अपनी उस कृति को देखने की सलाह देता हूं जो मैंने जवाब में लिखी थी। उसमें मैंने दूसरी बातों के अलावा यह दिखाया कि वह वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद के रहस्य के अन्दर कितना कम पैठ पाये हैं; कि कैसे दूसरी ओर वह संकल्पनात्मक दर्शन के **भ्रमों** को अंगीकार करते हैं, क्योंकि **आर्थिक प्रवर्गों को ऐतिहासिक, भौतिक उत्पादन के विकास की विशेष मंजिल के अनुरूप होनेवाले उत्पादन के**

---

* कृत्रिमता। — **सं०**

सम्बन्धों की सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियों के रूप में देखने के बजाय वह उन्हें मूर्खता से सदैव विद्यमान, **सनातन विचारों** में बदल डालते हैं, और इस घुमावदार ढंग से वह फिर पूंजीवादी अर्थशास्त्र की स्थिति में पहुंच जाते हैं।*

मैं आगे यह दिखाता हूं कि "राजनीतिक अर्थशास्त्र" का, जिसकी आलोचना का उन्होंने बीड़ा उठाया, उनका ज्ञान किस तरह सर्वथा अपूर्ण, अंशतः स्कूली छात्र जैसा है, और वह तथा कल्पनावादी लोग ऐतिहासिक आन्दोलन के आलोचनात्मक ज्ञान से, ऐसे आन्दोलन, जो स्वयं **मुक्ति की भौतिक अवस्थाओं** का सृजन करता है, विज्ञान प्राप्त करने के बजाय किस तरह एक ऐसे तथाकथित **"विज्ञान"** की तलाश में भटक रहे हैं जिससे "सामाजिक प्रश्न के समाधान" के लिए a priori** एक फ़ार्मूला ढूंढ़ा जा सके। परन्तु विशेष ज़ोर इस बात पर दिया गया है कि सारी चीज़ों के आधार – **विनिमय-मूल्य** – के विषय में प्रूदों के विचार कितने भ्रान्तिपूर्ण, ग़लत तथा अधकचरे बने रहते हैं तथा कैसे वह **रिकार्डो** के मूल्य-सिद्धान्त की काल्पनिक परिभाषा को नये विज्ञान का आधार मान बैठते हैं। उनके आम दृष्टिकोण के विषय में मैं निम्नलिखित मूल्यांकन प्रस्तुत करता हूं –

"प्रत्येक आर्थिक सम्बन्ध का अच्छा और बुरा पहलू होता है; यह एकमात्र मुद्दा है जिसके बारे में श्री प्रूदों अपनी स्थिति नहीं बदलते। वह मानते हैं कि अच्छे पहलू पर अर्थशास्त्री जोर देते हैं और बुरे पहलू की समाजवादी भर्त्सना करते हैं। अर्थशास्त्रियों से वह चिरन्तन आर्थिक सम्बन्धों में आस्था ग्रहण करते हैं; समाजवादियों से वह यह भ्रम ग्रहण करते हैं कि ग़रीबी में सिवाय ग़रीबी के और कुछ देखने के लिए नहीं है (बजाय इसके कि उसमें क्रान्तिकारी,

---

* "जब अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि वर्तमान सम्बन्ध – पूंजीवादी उत्पादन के सम्बन्ध – **प्राकृतिक** हैं तो उनका अभिप्राय यह है कि ये ऐसे सम्बन्ध हैं जिनमें सम्पदा का सृजन तथा उत्पादक शक्तियों का विकास प्रकृति के नियमों के अनुरूप होता है। इस तरह स्वयं ये सम्बन्ध **प्राकृतिक नियम** हैं जो समय के प्रभाव से बाहर हैं। ये **शाश्वत नियम** हैं जिन्हें समाज को सदैव शासित करना चाहिये। इस तरह अब तक इतिहास रहा है परन्तु अब नहीं है।" (देखें मेरी कृति का पृष्ठ ११३।) **(मार्क्स की टिप्पणी)**

** a priori – प्रागनुभव। – सं०

विध्वंसकारी तत्व देखा जाये जो पुराने समाज को उलट देगा*)। वह अपने पक्ष के समर्थन में विज्ञान की प्रामाणिकता उद्धृत करने की अपनी कोशिशों में उन दोनों से सहमत हैं। विज्ञान उनके लिए किसी वैज्ञानिक फ़ार्मूले के क्षीण पैमाने तक सीमित है। वह फ़ार्मूलों के पीछे दौड़ते हैं। यही कारण है कि श्री प्रूदों इस बात के लिए अपनी पीठ थपथपाते हैं कि उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा कम्युनिज़्म दोनों की आलोचना कर दी है; परन्तु वह दोनों के नीचे खड़े हैं। अर्थशास्त्रियों के नीचे इसलिए हैं कि वह दार्शनिक के रूप में, जिसके पास जादुई फ़ार्मूला है, सोचते हैं कि वह विशुद्ध आर्थिक तफ़सीलों के अन्दर पहुंचे बिना काम चला सकते हैं; समाजवादियों के नीचे इसलिए हैं कि उनमें कम से कम संकल्पनात्मक रूप में भी न तो इतना पर्याप्त साहस और न इतनी अन्तर्दृष्टि ही है कि वह अपने को पूंजीवादी क्षितिज से ऊपर उठा सकें।

"वह विज्ञान के मानव के रूप में पूंजीपतियों तथा सर्वहाराओं के ऊपर पहुंचना चाहते हैं; परन्तु वह पूंजी तथा श्रम के बीच, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा कम्युनिज़्म के बीच निरन्तर इधर से उधर उछाले जानेवाले **निम्नपूंजीपति** के अलावा और कुछ नहीं हैं।"**

उपरोक्त टिप्पणी यद्यपि कठोर प्रतीत होती है, इसके बावजूद मैं आज भी इसके एक-एक शब्द पर अडिग हूं। परन्तु साथ ही यह स्मरण रहना चाहिए कि जिस समय मैंने उनकी पुस्तक को निम्नपूंजीपति के समाजवाद की संहिता घोषित किया था तथा अपनी बात सैद्धान्तिक दृष्टि से सिद्ध की थी, उस समय भी राजनीतिक अर्थशास्त्री तथा समाजवादी दोनों ही समान रूप से प्रूदों को घोर क्रान्तिकारी घोषित कर रहे थे। यही कारण है कि क्रान्ति के प्रति उनकी **"ग़द्दारी"** के बारे में आगे चलकर जो हो-हल्ला हुआ उसमें मैं कभी शामिल नहीं हुआ। यदि उन्होंने, जिन्हें दूसरों ने ग़लत समझा तथा जिन्होंने स्वयं अपने को ग़लत समझा, निराधार आशाओं को सही सिद्ध नहीं किया तो यह उनका दोष नहीं था।

'दरिद्रता का दर्शन' में प्रस्तुतीकरण की विधि की प्रूदों की सारी त्रुटियां **'सम्पत्ति क्या है?'** कृति की तुलना में बुरी तरह उभर कर सामने आती हैं।

---

*कोष्ठों के अन्दर दिया गया वाक्य मार्क्स ने इस लेख में जोड़ा है।—**सं०**

वही। पृष्ठ ११९, १२०। (मार्क्स की टिप्पणी**)

शैली प्राय: वैसी है जिसे फ़्रांसीसी लोग ampoulé* कहते हैं। शब्दाडम्बरपूर्ण संकल्पनात्मक निरर्थक बातें, जिन्हें जर्मन दार्शनिकता कहा जाता है, उस समय नियमित रूप से प्रकट होती रहती हैं जब उनकी कुशाग्र फ़्रांसीसी बुद्धि उनका साथ नहीं देती। आत्मश्लाघा, बाज़ारू ढंग की चखचख, ढिंढोरा पीटनेवाला स्वर, विशेष रूप से कथित **"विज्ञान"** के बारे में ये शेखियां और उसके विषय में निरर्थक बातें—ये सब कानों के पर्दे फाड़नेवाली चीज़ें हैं। वास्तविक भावोष्णता का स्थान, जो उनकी प्रथम रचना में दीप्त थी, यहां कतिपय अंशों में विधिवत् रूप से क्षणिक ज्वर-ताप से भरी आलंकारिक भाषा लेती है। इसमें ज़रा उस आत्मशिक्षित व्यक्ति की विद्वत्ता के भोंडे, घृणित प्रदर्शन को जोड़ दें जिसकी मौलिक, स्वतंत्र चिन्तन में सहज गर्व-भावना पहले ही खंडित हो चुकी है और जो अब विज्ञान के parvenu** के रूप में वह प्रदर्शित करना आवश्यक समझता है जो न वह है और जो न उसके पास है। इसके अलावा उस निम्नपूंजीपति की मनोवृत्ति को भी जोड़ दें जो **काबे** जैसे व्यक्ति पर, फ़्रांसीसी सर्वहारा आन्दोलन में व्यावहारिक भूमिका के लिए सम्मान योग्य व्यक्ति पर, अशिष्टतापूर्ण कठोरता से—न तीक्ष्णतापूर्वक, न गहनतापूर्वक और न सही ढंग से—प्रहार करता है। परन्तु उधर वह **दुनुअइये** (आख़िर वह "राजकीय परामर्शदाता" जो था) के प्रति शिष्टता अपनाते हैं जबकि इस दुनुअइये का सारा महत्व वह प्रहसनात्मक गम्भीरता है जिसके साथ उसने तीन भारी-भरकम, असहनीय उबाई लानेवाले ग्रंथों[16] में शुरू से लेकर आख़िर तक उस निग्रहवाद [rigourism] का प्रचार किया है, जिसका सारतत्व हेल्वेतियस ने इन शब्दों में निरूपित किया है: "Onveut que les malheureux soient parfaits"। (अभागे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सर्वांगपूर्ण हो।)

फ़रवरी क्रान्ति[17] प्रूदों के लिए यक़ीनन बहुत ही असुविधाजनक घड़ी में हुई क्योंकि उन्होंने केवल चन्द सप्ताह पूर्व अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया था कि **"क्रान्तियों का युग"** सदा-सर्वदा के लिए लद चुका है। राष्ट्रीय सभा में उनका भाषण—विद्यमान परिस्थितियों के बारे में उसमें चाहे कितनी ही कम समझदारी का परिचय दिया गया हो—पूर्ण प्रशंसा का पात्र था।[18] जून-विप्लव[19] के **उपरान्त** यह बहुत साहसपूर्ण कृत्य था। इसके अलावा इसका यह सौभाग्यपूर्ण परिणाम

---

* आडंबरपूर्ण। —सं०

** नया रईस। —सं०

निकला कि श्री **थियेर** ने प्रूदों के प्रस्तावों का विरोध करते हुए अपने भाषण[20] में, जो उस समय एक विशेष प्रकाशन के रूप में जारी किया गया था, पूरे यूरोप के सामने यह साबित कर दिया कि कितनी बचकानी, तुच्छ प्रश्नोत्तरी फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के इस आध्यात्मिक स्तम्भ के मंच का काम दे रही थी। निस्सन्देह श्री **थियेर** की तुलना में **प्रूदों** ने प्राक्प्रलय भीमकाय देह का आकार ग्रहण कर लिया।

प्रूदों की खोज "crédit gratuit"* और उस पर आधारित "**जन-बैंक**" उनका अन्तिम आर्थिक "**कृतित्व**" थे। मेरी पुस्तक '**राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास**' (**भाग १**, बर्लिन, १८५६, पृष्ठ ५६–६४) में यह प्रमाण मिल सकता है कि पूंजीवादी "राजनीतिक अर्थशास्त्र" के मूल तत्वों को, अर्थात् **माल** और **मुद्रा** के बीच सम्बन्ध को समझने में असमर्थता ने उनके विचार के सैद्धान्तिक आधार को जन्म दिया है, जबकि व्यावहारिक अधिसंरचना कहीं पुराने तथा कहीं बेहतर विकसित योजनाओं का प्रतिरूप मात्र थी। उधार प्रणाली ने जिस तरह, उदाहरण के लिए, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में और आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैंड में एक वर्ग की सम्पदा दूसरे वर्ग के हाथों में सौंपने का काम किया, ठीक उसी तरह वह निश्चित आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में मज़दूर वर्ग की मुक्ति की प्रक्रिया में तेज़ी लाने का काम दे सकती है,—यह सन्देह से सर्वथा परे और स्वतःस्पष्ट है। परन्तु **ब्याज देनेवाली पूंजी को पूंजी का मुख्य रूप** मानना, उधार प्रणाली के विशेष कार्यान्वयन को, ब्याज के तथाकथित उन्मूलन को समाज के रूपान्तरण का आधार बनाने की इच्छा करना एक सरासर **कूपमंडूकतापूर्ण** कल्पना है। और हम देखते हैं कि यह कल्पना वस्तुतः **सत्रहवीं शताब्दी के आंग्ल निम्नपूंजीपति वर्ग के आर्थिक सिद्धान्तकारों** द्वारा पहले ही विकसित की जा चुकी थी। ब्याज देनेवाली पूंजी के बारे में बास्तिआ के साथ प्रूदों का वाद-विवाद[21] (१८५०) '**दरिद्रता का दर्शन**' से कहीं निम्न स्तर पर है। वह तो बास्तिआ तक से परास्त होने में सफल हो जाते हैं और जब उनका प्रतिद्वन्द्वी ख़ूब ज़ोरदार चोट करता है तो वह उपहासास्पद ढंग से गरजने लगते हैं।

चन्द साल पहले प्रूदों ने—मेरे ख़याल से लोज़ां सरकार द्वारा नियोजित प्रतियोगिता के लिए '**कर-प्रणाली**' पर एक निबन्ध लिखा था। यहां प्रतिभा की

---

* "मुफ़्त उधार"। —**सं०**

आख़िरी लौ भी बुझ जाती है। सिवाय एक विशुद्ध निम्नपूंजीवादी के और कुछ बाक़ी नहीं रह जाता।

जहां तक उनकी राजनीतिक तथा दार्शनिक रचनाओं का सम्बन्ध है, वे सब उनकी आर्थिक रचनाओं की भांति अपना वही विरोधाभासपूर्ण, दुहरा स्वरूप प्रदर्शित करती हैं। इसके अलावा उनका महत्व स्थानीय, फ़्रांस तक सीमित है। फिर भी धर्म, चर्च, आदि पर उनके प्रहार ऐसे समय बहुत प्रशंसनीय थे जब फ़्रांसीसी समाजवादी धर्मनिष्ठा के मामले में अठारहवीं शताब्दी के वोल्तेयरवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन निरीश्वरवाद से अपने को श्रेष्ठ मानना उपयुक्त समझते थे। यदि पीटर महान ने बर्बरता पर बर्बरता से विजय पायी तो प्रूदों ने फ़्रांसीसी शब्दाडम्बर को शब्दों से मिटाने के लिए भरसक प्रयास किया।

'बलात राज-परिवर्तन' पर उनकी कृति, जिसमें वह लूई बोनापार्त का दामन थामते हैं और वस्तुतः उसे फ़्रांसीसी मज़दूरों के लिए स्वीकार्य बनाने का प्रयास करते हैं, तथा **पोलैंड** के विरुद्ध लिखी गयी उनकी अन्तिम कृति[22], जिसमें वह ज़ार की और अधिक कीर्ति के लिए जड़मानव की मूढ़ता का आश्रय लेते हैं– इन दोनों रचनाओं को ख़राब ही नहीं, वरन् नीचतापूर्ण कृतित्व भी मानना चाहिए, वैसे यह नीचता उनके निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण के अनुरूप है।

प्रूदों की बहुधा **रूसो** से तुलना की जाती है। इससे बड़ी ग़लती और कोई नहीं हो सकती। वह तो **निक० लेंगे** के ज़्यादा समीप हैं हालांकि उनकी पुस्तक **'दीवानी क़ानून का सिद्धान्त'** एक शानदार रचना है।

प्रूदों का द्वन्द्ववाद की ओर स्वाभाविक रुझान था। परन्तु वह चूंकि वास्तविक रूप से वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद को कभी नहीं समझ पाये, इस कारण वह कुतर्क से आगे नहीं बढ़ पाये। वस्तुतः यह उनके निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण के साथ जुड़ा रहा। इतिहासकार **राउमेर** की तरह निम्न-पूंजीवादी "एक ओर यह" और "दूसरी ओर वह" को लेकर बनता है। ऐसा वह अपने आर्थिक हितों में तथा **इस कारण** अपने धार्मिक, वैज्ञानिक तथा कलात्मक दृष्टिकोण में होता है। ऐसा वह अपनी नैतिकता में, in everything* होता है। वह जीता-जागता अन्तर्विरोध है। यदि प्रूदों की तरह वह चतुर व्यक्ति भी हो, तब भी वह जल्द अपने विरोधाभासों के साथ बाज़ीगरी करना सीख जायेगा और उन्हें परिस्थितियों के अनुसार आश्चर्यजनक, चमत्कारी, अभी अकीर्तिकर तो अभी शानदार विरोधाभासों में

---

*हर चीज़ में। –सं०

विकसित कर देगा। विज्ञान में नीम-हकीमी और राजनीति में समझौतापरस्ती को इस तरह के दृष्टिकोण से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसे व्यक्तियों की एक ही अभिप्रेरक शक्ति रह जाती है, वह है उनकी **अहम्मन्यता** ; और उनके लिए सारे अहम्मन्य लोगों की तरह एकमात्र प्रश्न होता है क्षण विशेष की सफलता, उस समय की सनसनी। इस तरह सामान्य नैतिक तत्व का, जिसने, उदाहरण के लिए, रूसो को विद्यमान सत्ता-अधिकारियों के साथ समझौते की झलक तक से दूर रखा, अवश्यम्भावी रूप से अस्तित्व मिट जाता है।

शायद भावी पीढ़ियां फ़्रांसीसी इतिहास के नवीनतम दौर का सारतत्व यह कहकर प्रस्तुत करेंगी कि लूई बोनापार्त उसका नेपोलियन तथा प्रूदों उसका रूसो-वाल्तेयर था।

व्यक्ति की मृत्यु के बाद इतनी जल्दी उसके शव-परीक्षक की भूमिका मुझ पर थोपने की ज़िम्मेवारी अब आपको ही ग्रहण करनी होगी।

भवदीय
कार्ल मार्क्स

२४ जनवरी १८६५ को लिखित।

«Social-Demokrat» के अंक १६, १७ तथा १८ (१, ३ तथा ५ फ़रवरी १८६५) में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा[23]

प्रारम्भिक

नागरिको!

मुख्य विषय पर आने के पहले मुझे कुछ प्रारम्भिक बातें कहने की अनुमति दीजिये।

इस समय यूरोपीय महाद्वीप में हड़तालों की सचमुच एक महामारी आई हुई है और मज़दूरी बढ़ाने के लिए आम तौर से शोर मच रहा है। यह सवाल हमारी कांग्रेस[24] में भी उठेगा। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय संघ के अग्रणी की हैसियत से आपका एक निश्चित मत होना चाहिए। इसलिए मैंने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि मैं इस विषय की पूरी तरह छानबीन करूं, भले ही आपको अपने धैर्य की कड़ी परीक्षा देनी पड़े।

दूसरी प्रारम्भिक बात मुझे नागरिक वेस्टन के बारे में कहनी है। उन्होंने ऐसे विचार जो मज़दूरों को बेहद नापसंद हैं न केवल आपके सामने प्रस्तावित किये हैं, बल्कि अपनी समझ के अनुसार मज़दूर वर्ग के हित में, उनका खुले आम प्रतिपादन किया है। नैतिक साहस के ऐसे प्रदर्शन का हम सबको आदर करना चाहिए। मुझे आशा है कि मेरे भाषण की तीक्ष्णता के बावजूद उसके समापन में वह मुझे उन विचारों से सहमत पायेंगे जो उनकी प्रस्थापनाओं की तह में मुझे युक्तिसंगत दिखाई देते हैं; परन्तु उनकी मौजूदा शक्ल में मैं उन्हें सिद्धान्ततः असत्य और व्यवहारतः ख़तरनाक समझता हूं।

अब मैं सीधे विचाराधीन विषय पर आता हूं।

१. उत्पादन और मज़दूरी

o

नागरिक वेस्टन का तर्क वास्तव में दो बातों पर आधारित है:

पहली यह कि **राष्ट्रीय उत्पादन का परिमाण एक नियत वस्तु**, एक **निश्चित** मात्रा या गणितज्ञों की भाषा में **स्थिर** परिमाण है;

दूसरी यह कि **असल मजदूरी की रक़म**—अर्थात् मज़दूरी की रक़म के बदले में जितना माल ख़रीदा जा सकता है—एक **नियत** वस्तु, एक **स्थिर** परिमाण है।

उनकी पहली बात प्रत्यक्षतः ग़लत है। हम देखते हैं कि साल-दर-साल उत्पादन का मूल्य तथा उसका परिमाण बढ़ता जाता है, राष्ट्रीय श्रम की उत्पादक शक्तियां बढ़ती जाती हैं और इस बढ़ते हुए उत्पादन को परिचालित करने के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा भी लगातार बदलती रहती है। जो बात वर्ष के अन्त में सही है और एक दूसरे से तुलना करने पर विभिन्न वर्षों के लिये सही है, वह वर्ष के प्रत्येक औसत दिन के लिये भी सही है। राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा अथवा उसका परिमाण लगातार बदलता रहता है। वह **स्थिर** नहीं, बल्कि एक **परिवर्तनीय** परिमाण है, और आबादी में परिवर्तनों के अलावा इसलिए भी उसका ऐसा होना जरूरी है कि **पूंजी के संचय** में और **श्रम की उत्पादक शक्तियों** में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। यह बिल्कुल सही है कि यदि आज **मजदूरी की आम दर बढ़ जाये**, तो बाद में उसका प्रभाव जो भी हो, **केवल उसी की वजह से** उत्पादन का परिमाण **तुरन्त** नहीं बदल जायेगा। वह तो शुरू में विद्यमान वस्तुस्थिति के अनुसार चलता रहेगा। लेकिन यदि मजदूरी बढ़ने **के पहले** राष्ट्रीय उत्पादन **स्थिर** नहीं, **परिवर्तनीय** था, तो मज़दूरी बढ़ने **के बाद** भी वह परिवर्तनीय रहेगा, स्थिर नहीं होगा।

मगर मान लीजिये कि राष्ट्रीय उत्पादन का परिमाण **परिवर्तनीय** नहीं, बल्कि **स्थिर** है, तो ऐसी हालत में भी हमारे मित्र वेस्टन जिस बात को तर्कसंगत निष्कर्ष समझते हैं वह निरुद्देश्य कथन के सिवा और कुछ न होगी। यदि मैं एक संख्या ले लूं, मान लीजिये आठ, तो इस आठ की **निरपेक्ष** सीमा उसके हिस्सों की अपनी **सापेक्ष** सीमाओं के बदलने में बाधा नहीं डालेगी। यदि मुनाफ़ा छः है और मज़दूरी दो, तो यह हो सकता है कि मज़दूरी बढ़कर छः हो जाये और मुनाफ़ा घटकर दो रह जाये; फिर भी कुल जोड़ आठ ही रहेगा। इस प्रकार, उत्पादन का परिमाण स्थिर होने से यह किसी तरह नहीं सिद्ध होता कि मज़दूरी

का परिमाण भी स्थिर रहेगा। तब हमारे मित्र वेस्टन यह स्थिरता किस प्रकार सिद्ध करते हैं? उसे दावे के साथ कहकर ही।

लेकिन अगर उनका दावा मान भी लिया जाये, तो वह दो पहलुओं के लिए ठीक होगा, लेकिन वह एक ही पहलू लेकर आते हैं। यदि मज़दूरी का परिमाण एक स्थिर मात्रा है, तो वह न तो बढ़ाया और न घटाया जा सकता है। ऐसी दशा में यदि मज़दूर, वक़्ती तौर पर मज़दूरी बढ़वा लेते हुए बेवक़ूफ़ी करते हैं, तो पूंजीपति वक़्ती तौर पर मजदूरी घटाकर उनसे कम बेवक़ूफ़ी नहीं करते। हमारे मित्र वेस्टन इस बात से इनकार नहीं करते कि कुछ ख़ास परिस्थितियों में मज़दूर अपनी मज़दूरी बढ़वा **सकते हैं**; परन्तु चूंकि स्वाभाविक तौर से मजदूरी का परिमाण स्थिर होता है, इसलिए उसकी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। दूसरी ओर, वह यह भी जानते हैं कि पूंजीपति मज़दूरी घटाने में कामयाब **हो सकते हैं**—बल्कि कहना चाहिए कि वे बराबर इसी चक्कर में रहते हैं। मज़दूरी की स्थिरता के सिद्धान्त के अनुसार इस स्थिति में भी उससे कम प्रतिक्रिया न होनी चाहिए जितनी मज़दूरी बढ़ाने की अवस्था में होती है। इसलिए जब मजदूरों में, मज़दूरी घटाने की कोशिश के ख़िलाफ़ या मज़दूरी घटा देने पर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है तो वह एक सही क़दम होता है। इसलिए यदि मज़दूर अपनी **मज़दूरी बढ़वाते** हैं तो वे सही काम करते हैं, क्योंकि मज़दूरी घटाने के ख़िलाफ़ प्रत्येक **प्रतिक्रिया** मज़दूरी बढ़वाने की **क्रिया** होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं नागरिक वेस्टन के **मज़दूरी की स्थिरता** के सिद्धान्त के अनुसार, मज़दूरों को कुछ ख़ास परिस्थितियों में संघबद्ध होकर मजदूरी बढ़वाने के लिए संघर्ष करना चाहिए।

यदि वे इस निष्कर्ष से इनकार करते हैं तो उन्हें उस पूर्वाधार को त्याग देना चाहिए जिससे यह निष्कर्ष निकलता है। उन्हें यह न कहना चाहिए कि मजदूरी का परिमाण एक **स्थिर मात्रा** है, बल्कि यह कहना चाहिए कि यद्यपि मज़दूरी न तो कभी **बढ़** सकती है और न ही हरगिज़ उसे **बढ़ना** चाहिए, तथापि जब कभी पूंजी उसे घटाना चाहे, तो वह केवल **घट** ही नहीं सकती, बल्कि उसे अवश्य ही **घट जाना** चाहिए। यदि पूंजीपति आपको गोश्त के बजाय आलू और गेहूं की जगह जई खिलाकर जिन्दा रखना चाहे तो आपको उसकी इच्छा को राजनीतिक अर्थशास्त्र का नियम समझकर स्वीकार कर लेना होगा और अपने को उसके अधीन करना होगा। यदि किसी देश में अन्य किसी देश के मुक़ाबले में मज़दूरी की दर ऊंची है—मिसाल के लिए, यदि अमरीका में मज़दूरी की

दर इंगलैंड के मुक़ाबले में ऊंची है—तो आपको कहना होगा कि इसका कारण यह है कि अमरीकी और अंग्रेज़ पूंजीपतियों की इच्छाएं भिन्न हैं। इस तरीक़े से न केवल आर्थिक घटनाओं का, बल्कि अन्य सभी घटनाओं का अध्ययन निश्चित रूप में बहुत सरल हो जायेगा।

लेकिन इस मामले में भी प्रश्न किया जा सकता है कि अमरीकी और अंग्रेज़ पूंजीपतियों की इच्छा में अन्तर **क्यों** है? और इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आपको **इच्छा** के विचार-क्षेत्र से बाहर जाना होगा। एक पादरी यह कह सकता है कि परमात्मा की इच्छा फ़्रांस के लिए एक है और इंगलैंड के लिए दूसरी। यदि मैं उससे इस दोरुख़ी इच्छा का कारण पूछूं, तो शायद जुर्रत के साथ वह यही कहेगा कि फ़्रांस के लिए परमात्मा ने एक प्रकार की इच्छा करने की मंशा की है और इंगलैंड के लिये दूसरे प्रकार की। पर निश्चय ही हमारे मित्र वेस्टन, विवेक और बुद्धि से पूर्णतः शून्य इस तरह का तर्क नहीं पेश करेंगे।

पूंजीपति की **इच्छा** तो निश्चय ही यही रहती है कि अधिक से अधिक हड़प लिया जाये। पर हमें जो काम करना है वह उसकी **इच्छा** की बातचीत नहीं है; हमें उसकी **ताक़त का, उसकी ताक़त की सीमाओं का और उन सीमाओं के स्वरूप का** पता लगाना है।

२. उत्पादन, मज़दूरी, मुनाफ़ा

नागरिक वेस्टन ने हम लोगों के सामने जो भाषण पढ़ा है, उसका निचोड़ बहुत थोड़े में बताया जा सकता था।

उनकी सारी दलील का अर्थ यह है: यदि मज़दूर वर्ग पूंजीपति वर्ग को नक़द मज़दूरी के रूप में चार शिलिंग की जगह पांच शिलिंग देने के लिये मजबूर करता है, तो पूंजीपति मज़दूर को माल के रूप में पांच शिलिंग की जगह चार शिलिंग का ही मूल्य देगा। जो चीज़ मज़दूर मज़दूरी में बढ़ती के पहले चार शिलिंग में ख़रीदता था, अब वही उसे पांच शिलिंग में ख़रीदनी होगी। पर ऐसा होता क्यों है? पूंजीपति क्यों पांच शिलिंग की जगह चार शिलिंग का ही माल देता है? इसलिए कि मज़दूरी का परिमाण स्थिर है। परन्तु वह चार शिलिंग के माल द्वारा ही क्यों निश्चित है? तीन शिलिंग, दो शिलिंग या और किसी रक़म द्वारा क्यों नहीं? यदि मज़दूरी के परिमाण की सीमा किसी आर्थिक नियम से निश्चित होती है और वह पूंजीपति की इच्छा और मज़दूर की इच्छा दोनों से समान रूप से

स्वतन्त्र है, तो नागरिक वेस्टन का पहला फ़र्ज़ यह था कि वह इस नियम को बताते और उसे सिद्ध करते। इसके अलावा उन्हें यह भी साबित करना चाहिए था कि किसी भी समय मजदूरी का जो परिमाण सचमुच दिया जाता है, वह मजदूरी के आवश्यक परिमाण के बिल्कुल बराबर होता है और कभी उससे कम-ज्यादा नहीं होता। दूसरी ओर, यदि मजदूरी के परिमाण की सीमा पूंजीपति की **महज़ इच्छा पर** या उसके लोभ की सीमाओं पर निर्भर करती है, तो यह एक मनमानी सीमा है। इसमें कोई भी चीज़ अनिवार्य या लाज़िमी नहीं है। यह पूंजीपति की इच्छा **द्वारा** बदली जा सकती है, और इसलिए पूंजीपति की इच्छा के **ख़िलाफ़** भी बदली जा सकती है।

नागरिक वेस्टन ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये आपको बताया कि यदि कटोरे में एक निश्चित मात्रा में शोरबा डाला गया हो और उसे कुछ गिने हुए लोगों को पीना हो, तो चमचों की चौड़ाई बढ़ा देने से शोरबे की मात्रा नहीं बढ़ जायेगी। मैं कहूंगा कि उनकी यह मिसाल कुछ बेतुकी सी [spoony] है। इसे सुनकर मुझे उस उपमा की याद आ गई जो मेनीनियस एग्रिप्पा ने दी थी। जब रोम के साधारण प्रजाजनों ने रोम के अभिजात वर्ग पर हमला किया तो अभिजात वर्ग के एग्रिप्पा ने उनसे कहा कि उदररूपी अभिजात वर्ग राज-निकाय के अवयवरूपी साधारण सदस्यों को ख़ुराक पहुंचाता है। एग्रिप्पा यह नहीं सिद्ध कर सका कि एक आदमी का पेट भरकर दूसरे आदमी के अवयवों को ख़ुराक पहुंचाई जा सकती है। नागरिक वेस्टन यह बताना भूल गये कि जिस कटोरे से मज़दूर खाते हैं वह राष्ट्रीय श्रम की पूरी उपज से भरा हुआ है और जो चीज़ मज़दूरों को उसमें से अधिक खाने में बाधा डालती है वह न तो कटोरे का छोटा होना है और न शोरबे का कम होना है, बल्कि वह सिर्फ़ मज़दूरों के चमचों का छोटा होना है।

वह कौनसी तिकड़म है जिसके ज़रिए पूंजीपति चार शिलिंग के माल को पांच शिलिंग में बेचने में सफल होता है? जो माल वह बेचता है उसका दाम बढ़ाकर। तो क्या माल के दामों में बढ़ती या यूं कहिये, कि माल के दामों में परिवर्तन और क्या मालों के दाम ख़ुद पूंजीपति की इच्छा पर निर्भर हैं? या, इसके विपरीत, पूंजीपति की इच्छा को अंजाम देने के लिए कुछ ख़ास परिस्थितियों की आवश्यकता होती है? यदि ऐसा नहीं है, तो बाज़ार के दामों में उतार-चढ़ाव, बाज़ार के दामों में लगातार कमी-बेशी एक अबूझ पहेली बन जाती है।

चूंकि हम यह मानकर चलते हैं कि श्रम की उत्पादक शक्तियों में या उत्पादन में लगी हुई पूंजी और उसमें लगे हुए श्रम के परिमाण में, या उस मुद्रा के मूल्य में जिसके द्वारा उपज का मूल्य नापा जाता है, किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि **केवल मजदूरी की दर में परिवर्तन हुआ है**, इसलिये सवाल उठता है कि **मजदूरी की यह बढ़ती मालों के दाम** पर किस प्रकार प्रभाव डाल सकती है? केवल इन मालों की मांग और उनकी पूर्ति के वास्तविक अनुपात में परिवर्तन लाकर।

यह बिल्कुल सच है कि समग्र रूप में मज़दूर वर्ग अपनी मज़दूरी **जीवनसाधक वस्तुओं पर ही** ख़र्च करता है, वह ऐसा करने के लिए मजबूर है। इसलिए यदि आम तौर पर मज़दूरी की दर बढ़ जाये, तो इन **जीवनसाधक वस्तुओं** की मांग और फलतः इनका **बाज़ार का दाम** भी बढ़ जायेगा। इन जीवनसाधक वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले पूंजीपतियों को मज़दूरी के बढ़ने से जो नुक़सान होगा वह उनके माल के बाज़ार के दाम बढ़ जाने से पूरा हो जायेगा। लेकिन उन पूंजीपतियों का क्या होगा जो जीवनसाधक वस्तुएं **नहीं** तैयार करते? और ऐसे पूंजीपतियों की संख्या को कम न समझना चाहिये। यदि आप यह ख़्याल करें कि राष्ट्रीय उपज का दो-तिहाई भाग आबादी का पांचवां हिस्सा (हाउस ऑफ़ कामन्स के एक सदस्य ने हाल में इसे आबादी का केवल सातवां हिस्सा बताया था) उपभोग करता है, तो आप समझेंगे कि राष्ट्रीय उपज का कितना बड़ा भाग ऐश-आराम की चीज़ों के रूप में तैयार किया जाता है या उसके कितने बड़े भाग से इन वस्तुओं का **विनिमय** होता है, और जीवनसाधक वस्तुओं का कितना बड़ा भाग टहलुओं, घोड़ों, बिल्लियों, आदि पर बरबाद किया जाता है। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि जीवनसाधक वस्तुओं के दाम बढ़ने पर यह फ़ज़ूलख़र्ची बहुत सीमित हो जाती है।

बहरहाल, उन पूंजीपतियों की क्या स्थिति होगी, जो जीवनसाधक वस्तुओं का उत्पादन **नहीं** करते? आम तौर पर मज़दूरी बढ़ने के परिणामस्वरूप उनके **मुनाफ़े की दर में जो गिरावट** आती है, उससे होनेवाले नुक़सान को वे **अपने मालों के दाम बढ़ाकर** पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि इन मालों की मांग नहीं बढ़ती। ऐसी हालत में इन लोगों की आमदनी घट जायेगी और इस घटी हुई आमदनी में से उन्हें उतनी ही जीवनसाधक वस्तुओं के लिए दाम बढ़ जाने के कारण अधिक दाम देना पड़ेगा। लेकिन क़िस्सा यहीं पर नहीं ख़तम होता है। अब चूंकि उनकी आमदनी घट गयी है, इसलिये वे ऐश-आराम की चीज़ों पर कम ख़र्च

करेंगे, इसके फलस्वरूप पूंजीपतियों की एक दूसरे के मालों के लिये आपसी मांग भी कम हो जायेगी। मांग के कम होने का परिणाम यह होगा कि उनके मालों के दाम गिर जायेंगे। इसलिये उद्योग की इन शाखाओं में **मुनाफ़े की दर गिर जायेगी** – मज़दूरी की दर में आम बढ़ती के साधारण अनुपात में नहीं, बल्कि मज़दूरी की दर में आम बढ़ती, जीवनसाधक वस्तुओं के दामों में वृद्धि और ऐश-आराम की चीज़ों के दामों में गिरावट के संयुक्त अनुपात में।

उद्योग की विभिन्न शाखाओं में लगी हुई पूंजी पर **मुनाफ़े की दरों में इस अन्तर** का क्या परिणाम होगा? वही, जो कहीं भी और किसी भी कारण से उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में **मुनाफ़े की औसत दर** में अन्तर हो जाने पर सामान्यतः होता है। कम मुनाफ़े वाली शाखाओं से पूंजी और श्रम निकालकर ज़्यादा मुनाफ़े वाली शाखाओं में लगा दिये जायेंगे, और यह तबादले की प्रक्रिया उस वक़्त तक जारी रहेगी, जब तक उद्योग की एक शाखा में बढ़ी हुई मांग के अनुपात में पूर्ति नहीं बढ़ जायेगी, और उद्योग की दूसरी शाखाओं में घटी हुई मांग के अनुसार पूर्ति गिर नहीं जायेगी। **यह परिवर्तन हो जाने पर** उद्योग की विभिन्न शाखाओं में **मुनाफ़े की दर** फिर **बराबर** हो जायेगी। चूंकि शुरू में यह पूरी गड़-बड़ी केवल विभिन्न मालों की मांग और पूर्ति के अनुपात में परिवर्तन के कारण पैदा हुई थी, इसलिये कारण समाप्त हो जाने पर उसका प्रभाव भी समाप्त हो जायेगा और **दाम** पहले के स्तर और संतुलन पर फिर आ जायेंगे। इस प्रकार मज़दूरी के बढ़ने से पैदा हुई **मुनाफ़े की दर में गिरावट** उद्योग की कुछ शाखाओं तक सीमित न रहकर **आम बात** हो जायेगी। हमारे अनुमान के अनुसार श्रम की उत्पादक शक्तियों में या उत्पादन के कुल परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होगा, किन्तु **उत्पादन के निश्चित कुल परिमाण का रूप बदल जायेगा।** उत्पादन का अधिकतर भाग जीवनसाधक वस्तुओं की शक्ल में और उसका न्यूनतर भाग ऐश-आराम की चीज़ों की शक्ल में होगा, या – जो एक ही बात होगी – गृह-उत्पादन के माल का न्यूनतर भाग विदेशी ऐश-आराम की वस्तुओं के विनिमय में ख़र्च होगा और ज्यों का त्यों उपभोग में लग जायेगा, या – जो पुनः एक ही बात होगी – गृह-उत्पादन का अधिकतर भाग ऐश-आराम की चीज़ों के बजाय जीवनसाधक विदेशी वस्तुओं से विनिमय के लिए इस्तेमाल होगा। इसलिए मज़दूरी की दर में आम बढ़ती का परिणाम, बाज़ार के दामों में अस्थायी रूप से थोड़ी-बहुत उलट-फेर के बाद, केवल यही होगा कि मालों के दामों में कोई स्थायी परिवर्तन हुए बग़ैर, मुनाफ़े की दर आम तौर पर गिर जायेगी।

यदि मुझसे कहा जाये कि अपनी इस दलील में मैं यह मानकर चला हूं कि अतिरिक्त मजदूरी पूरी की पूरी जीवनसाधक वस्तुओं पर ख़र्च की जाती है, तो मेरा जवाब यह होगा कि मेरा यह अनुमान नागरिक वेस्टन के मत के लिये अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होना चाहिए। यदि अतिरिक्त मज़दूरी ऐसी चीज़ों पर ख़र्च होने लगे, जो पहले मज़दूरों के इस्तेमाल में नहीं आती थीं, तो यह बताने के लिये किसी सबूत की ज़रूरत न रहेगी कि मज़दूरों की क्रय-शक्ति सचमुच बढ़ गई। मज़दूरी में ही बढ़ती के कारण मज़दूरों की यह बढ़ी हुई क्रय-शक्ति पूंजीपतियों की घटी हुई क्रय-शक्ति के ठीक अनुरूप होनी चाहिये। अतः मालों की **आम मांग नहीं बढ़ेगी**, पर इस मांग के संघटक अंशों में **परिवर्तन हो जायेगा**। एक ओर मांग की बढ़ती और दूसरी ओर मांग की कमी दोनों एक दूसरे द्वारा संतुलित हो जायेंगी। इस प्रकार कुल मांग के स्थिर रहने के परिणामस्वरूप मालों के बाज़ार के दामों में भी किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार हमारे सामने यह विकल्प उपस्थित होता है: या तो अतिरिक्त मज़दूरी उपभोग की सभी चीज़ों पर बराबर ख़र्च की जाये—तब मज़दूर वर्ग की मांग में वृद्धि पूंजीपति वर्ग की मांग में कमी द्वारा अवश्य सन्तुलित होनी चाहिये,—या अतिरिक्त मज़दूरी केवल कुछ ही चीज़ों पर ख़र्च की जाये, जिनके बाज़ार के दाम अस्थायी रूप से बढ़ जायेंगे। तब परिणामस्वरूप उद्योग की कुछ शाखाओं में मुनाफ़े की दर का बढ़ना और कुछ में मुनाफ़े की दर का घटना पूंजी और श्रम के वितरण में परिवर्तन लायेगा, जो उस समय तक जारी रहेगा जब तक उद्योग की कुछ शाखाओं में पूर्ति बढ़ी हुई मांग के बराबर न पहुंच जायेगी और उद्योग की दूसरी शाखाओं में पूर्ति घटी हुई मांग के अनुरूप न घट जायेगी। पहली बात मानने पर मालों के दाम में कोई परिवर्तन न होगा। दूसरी बात मानने पर बाज़ार के दामों में थोड़ा-सा उलट-फेर होने के बाद मालों के विनिमय-मूल्य फिर पुराने स्तर पर आ जायेंगे। दोनों हालत में मज़दूरी की दर में आम बढ़ती होने का इसके सिवा और कोई परिणाम न होगा कि मुनाफ़े की दर में आम गिरावट आ जाये।

आपकी कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करने के लिए नागरिक वेस्टन ने आपसे अनुरोध किया है कि ज़रा उन कठिनाइयों को तो सोचिये जो अंग्रेज खेत-मज़दूरों की मज़दूरी में नौ शिलिंग से अठारह शिलिंग की आम वृद्धि कर देने पर उत्पन्न होंगी। उन्होंने कहा—ज़रा सोचिये कि इससे जीवनसाधक वस्तुओं की मांग कितनी बढ़ जायेगी और उसके परिणामस्वरूप दामों में कितनी भयानक बढ़ती होगी!

अब यह तो आप सभी जानते हैं कि अमरीकी खेत-मजदूर की औसत मज़दूरी अंग्रेज खेत-मज़दूर की मज़दूरी की अपेक्षा दूनी से भी अधिक है, हालांकि अमरीका में खेती की पैदावार के दाम इंगलैंड से कम हैं, हालांकि इंगलैंड और अमरीका में पूंजी और श्रम के आम सम्बन्ध एक जैसे हैं, हालांकि अमरीका में वार्षिक उत्पादन की माला इंगलैंड के मुक़ाबले में कम है। तब हमारे मित्र क्यों व्यर्थ में ही ख़तरे की घण्टी बजा रहे हैं? हमारे सामने जो असली सवाल है महज़ उसे टालने के लिये। यदि नौ शिलिंग से मज़दूरी एकाएक बढ़कर अठारह शिलिंग हो जाती है, तो कहा जायेगा कि मजदूरी में एकाएक १०० प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। पर हम यहां इस सवाल पर बहस नहीं कर रहे हैं कि इंगलैंड में मज़दूरी की आम दर में एकाएक १०० प्रतिशत की बढ़ती की जा सकती है या नहीं। बढ़ती की **मात्रा** से हमें कुछ नहीं लेना-देना है, जो हर अमली हालत में तत्कालीन परिस्थितियों पर निर्भर करेगी और उनके अनुरूप होगी। हमें तो सिर्फ़ यह देखना है कि मज़दूरी की दर में आम बढ़ती का, भले ही वह सिर्फ़ एक प्रतिशत क्यों न हो, क्या प्रभाव होगा।

अपने मित्र वेस्टन की कल्पनात्मक १०० प्रतिशत की बढ़ती को अलग रखकर मैं आपका ध्यान मज़दूरी की उस वास्तविक बढ़ती की ओर आकर्षित करना चाहता हूं जो ब्रिटेन में १८४९ से १८५९ तक हुई थी।

आप सभी दस घण्टे के विधेयक से, या वास्तव में साढ़े दस घण्टे के विधेयक से, जो १८४८ से लागू है, परिचित हैं।[6] अभी तक हमने जितने आर्थिक परिवर्तन देखे हैं उनमें यह एक सबसे बड़ा आर्थिक परिवर्तन था जिसका अर्थ था मज़दूरी का एकाएक और अनिवार्य रूप से बढ़ जाना और वह भी केवल कुछ स्थानीय व्यवसायों में ही नहीं, बल्कि उद्योग की उन प्रमुख सभी शाखाओं में, जिनके द्वारा इंगलैंड विश्व मंडी को प्रभावित करता है। मज़दूरी में यह बढ़ती अत्यन्त अनुपयुक्त परिस्थितियों में की गयी थी। डॉक्टर यूरे, प्रोफ़ेसर सीनियर और पूंजीपति वर्ग के सभी अधिकृत अर्थशास्त्रीय प्रवक्ताओं ने, निःसंदेह हमारे मित्र वेस्टन के मुक़ाबले में कहीं अधिक मज़बूत तर्क के आधार पर, यह **सिद्ध किया** कि इस विधेयक से ब्रिटिश उद्योग की मौत की घण्टी बज जायेगी। उन्होंने साबित किया कि यह मजदूरी में केवल साधारण बढ़ती का प्रश्न नहीं है, बल्कि नियोजित श्रम की माला में घटती द्वारा उत्पन्न और उस पर आधारित मजदूरी में बढ़ती का प्रश्न है। उन्होंने कहा कि बारहवां घण्टा जो आप पूंजीपति से छीन लेना चाहते हैं वही एकमात्र घण्टा है जिससे वह अपना मुनाफ़ा कमाता है। उन्होंने पूंजी का संचय

कम हो जाने का, दाम बढ़ जाने का, बाज़ार हाथ से निकल जाने का, उत्पादन में कमी हो जाने का, इस सूत्र का लाज़िमी असर मज़दूरी पर पड़ने का, सब कुछ चौपट हो जाने का डर दिखाया। उन्होंने तो यहां तक कह डाला कि मैक्सिमिलियन रोबेसपियेर के पराकोटिक क़ानून[25] इसके मुक़ाबले में कुछ भी न थे, और एक तरह से उनका कहना ठीक ही था। पर वास्तव में हुआ क्या? काम का दिन छोटा कर दिये जाने के बावजूद कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की नक़द मज़दूरी में बढ़ती हुई; कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई; उनके द्वारा तैयार किये गये माल के दाम बराबर गिरते गये; उनके श्रम की उत्पादक शक्तियों का आश्चर्यजनक विकास हुआ और उनके बनाये हुए माल के लिए बाज़ार इतनी तेज़ी से लगातार फैलने लगा जितनी तेज़ी से फैलते उसे पहले कभी नहीं सुना गया था। १८६१ में मैनचेस्टर में विज्ञानोन्नति समाज की बैठक में मैंने ख़ुद मिस्टर **न्यूमैन** को स्वीकार करते हुए सुना कि वह ख़ुद, डॉक्टर यूरे, सीनियर और अर्थशास्त्र के अन्य सभी अधिकृत विद्वान ग़लती पर थे और जनता की सहजवृत्ति सही निकली। यहां मैं प्रोफ़ेसर फ़्रांसिस न्यूमैन का नहीं, बल्कि मिस्टर डब्ल्यू० न्यूमैन[26] का ज़िक्र कर रहा हूं, क्योंकि वह मिस्टर **टामस टूक** की शानदार किताब **'दामों का इतिहास'**, जिसमें १७९३ से लेकर १८५६ तक के दामों के इतिहास की रूपरेखा दी गई है, के एक लेखक तथा उसके प्रकाशक की हैसियत से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एक ख़ास हैसियत रखते हैं। यदि हमारे मित्र वेस्टन का मज़दूरी के स्थिर परिमाण, उत्पादन के स्थिर परिमाण, श्रम की स्थिर उत्पादन-क्षमता, पूंजीपतियों की स्थिर और स्थायी इच्छा का विचार तथा उनकी अन्य सभी स्थिरतायें और नित्यतायें सही होतीं, तो प्रोफ़ेसर सीनियर की सारी दुश्चिंतापूर्ण आशंकायें सही सिद्ध हो जातीं और रॉबर्ट ओवेन का – जिन्होंने १८१५ में ही मज़दूर वर्ग की मुक्ति की ओर प्रारम्भिक क़दम के रूप में काम के दिन का आम सीमा-निर्धारण ऐलान कर दिया था[27] और सामान्य रूप से व्याप्त घोर पूर्वाग्रहों की परवाह न करके, न्यू-लेनार्क के अपने ही सूती कारख़ाने में, अपनी मर्ज़ी से, यह व्यवस्था लागू कर दी थी – क़दम ग़लत सिद्ध हुआ होता।

उसी काल में, जिसमें दस घण्टे का विधेयक लागू हुआ और उसके फलस्वरूप मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ी, कुछ ऐसे कारणों से जिनकी चर्चा करना यहां अप्रासंगिक होगा, इंगलैंड में **खेत-मज़दूरों की मज़दूरी भी आम तौर पर बढ़ गयी।**

गोकि मेरे तात्कालिक विषय के लिये यह ज़रूरी नहीं है, फिर भी, ताकि आप भ्रम में न पड़ जायें, मैं यहां पर कुछ प्रारम्भिक बातें कहूंगा।

यदि किसी आदमी को दो शिलिंग फ़ी हफ़्ता मज़दूरी मिलती है और वह बढ़कर चार शिलिंग हो जाती है, तो हम कहेंगे कि **मज़दूरी की दर** १०० प्रतिशत बढ़ गयी। **मज़दूरी की दर में** बढ़ती के रूप में यह बहुत बड़ी बात मालूम होती है, हालांकि **मज़दूरी की असली रक़म**, यानी चार शिलिंग फ़ी हफ़्ता, अब भी बहुत थोड़ी रहती है, जिससे पेट भरना भी मुश्किल है। इसलिये आपको मजूरी की **दर** के लम्बे-चौड़े प्रतिशतों के धोखे में न आना चाहिये। आपको हमेशा यह पूछना चाहिये कि बढ़ती के **पहले** क्या रक़म मिलती थी?

इसके अलावा आप यह भी समझेंगे कि यदि १० आदमियों को २ शिलिंग प्रतिव्यक्ति प्रतिसप्ताह, ५ आदमियों को ५ शिलिंग और ५ आदमियों को ११ शिलिंग मिलता है, तो इन २० आदमियों को कुल मिलाकर १०० शिलिंग, अर्थात् ५ पाउंड, प्रतिसप्ताह मिलेगा। अब मान लीजिये कि उन सब की **कुल** साप्ताहिक मज़दूरी में २० प्रतिशत की बढ़ती हो जाये, तो मजदूरी के ५ पाउंड बढ़कर ६ पाउंड हो जायेंगे। अतः औसत के हिसाब से हम कहेंगे कि **मज़दूरी की आम दर में** २० प्रतिशत की वृद्धि हुई, हालांकि असल में दस आदमियों की मजदूरी ज्यों की त्यों रही, पांच आदमियों की ५ शिलिंग से ६ शिलिंग हुई, और बाक़ी पांच की कुल मजदूरी ५५ शिलिंग से ७० शिलिंग तक बढ़ गयी। आधे आदमियों की हालत में ज़रा भी सुधार नहीं हुआ, एक चौथाई की हालत में नाममात्र का सुधार हुआ, और सिर्फ़ एक चौथाई की हालत में सचमुच कुछ सुधार हुआ। फिर भी अगर **औसत निकालकर** देखा जाये तो इन बीसों आदमियों की मज़दूरी २० प्रतिशत बढ़ गई, और जहां तक उन्हें काम पर लगानेवाली संकलित पूंजी और उनके द्वारा पैदा किये हुए माल के दामों का सम्बन्ध है, अगर सब ने मज़दूरी की औसत वृद्धि का आपस में बराबर बंटवारा किया होता तो बात बिल्कुल वही होती जो अब है। खेत-मजदूरों पर इस बढ़ती का प्रभाव बहुत असमान ढंग से पड़ा, क्योंकि इंगलैंड और स्काटलैंड की विभिन्न काउण्टियों में मानक मज़दूरी में बहुत अंतर है।

अंतिम बात यह है कि जिस समय मजदूरी में यह बढ़ती हुई उस समय कुछ प्रतिकारात्मक शक्तियां काम कर रही थीं, मिसाल के लिये, रूसी युद्ध[28] के परिणामस्वरूप लगाये गये नये कर, खेत-मजदूरों के घरों को बड़े पैमाने पर गिरा देना,[29] इत्यादि।

इतनी तमाम प्रारम्भिक बातें कहने के बाद अब मैं बताना चाहता हूं कि १८४९ और १८५९ के बीच ब्रिटेन में खेत-मजदूरों की मजदूरी की औसत दर में **लगभग ४० प्रतिशत की बढ़ती हुई थी।** अपने कथन के सबूत में मैं बहुत-सी बातें तफ़सील के साथ पेश कर सकता हूं, पर फ़िलहाल इतना ही काफ़ी समझता हूं कि स्वर्गीय मिस्टर **जॉन सी० मॉर्टन** के उस विवेकपूर्ण और आलोचनात्मक भाषण का हवाला दूं, जो उन्होंने १८५९ में लन्दन कला-सोसाइटी[30] में **'खेती में इस्तेमाल होनेवाली शक्तियां'** नामक विषय पर पढ़ा था। मिस्टर मॉर्टन ने स्काटलैंड की १२ और इंगलैंड की ३५ काउण्टियों में रहनेवाले लगभग १०० फ़ार्मरों से जमा किये रुक्क़ों तथा अन्य अधिकृत प्रलेखों के आधार पर विवरण दिये हैं।

हमारे मित्र वेस्टन के मतानुसार, और साथ-साथ फ़ैक्टरी-मजदूरों की मजदूरी में बढ़ती को देखते हुए, १८४९ से १८५९ तक खेती की पैदावार के दामों में ज़बरदस्त बढ़ती होनी चाहिये थी। परन्तु वास्तव में हुआ क्या? रूसी युद्ध के बावजूद और १८५४ से १८५६ तक बार-बार फ़सल ख़राब होने के बावजूद इंगलैंड की खेती की प्रधान उपज – गेहूं – का औसत दाम जो १८३८–१८४८ में लगभग ३ पाउंड फ़ी क्वार्टर था, १८४९–१८५९ में २ पाउंड १० शिलिंग फ़ी क्वार्टर रह गया। यानी गेहूं के दाम में १६ प्रतिशत से ज्यादा की कमी हुई, जबकि उसी काल में खेत-मजदूरों की मजदूरी औसतन ४० प्रतिशत बढ़ी। इसी काल में, यदि हम उसके अन्तिम दिनों की आरम्भ के दिनों, अर्थात् १८५९ की १८४९ से तुलना करें, तो हम देखेंगे कि सरकारी आंकड़ों के अनुसार अकिंचनों की संख्या ९,३४,४१९ से घटकर ८,६०,४७० रह गई, अर्थात् ७३,९४९ का अंतर हुआ। माना कि यह अंतर अधिक न था, और अगले वर्षों में वह भी जाता रहा, फिर भी कमी तो वह थी ही।

यह कहा जा सकता है कि अनाज आयात विरोधी क़ानूनों के रद्द कर दिये जाने के कारण,[31] १८४९ से १८५९ तक के काल में विदेशी अन्न का आयात १८३८–१८४८ के मुक़ाबले में दुगुने से भी अधिक हो गया था। पर इससे क्या हुआ? नागरिक वेस्टन के मतानुसार होना तो यह चाहिये था कि इस एकाएक, ज़बरदस्त और लगातार बढ़ती हुई मांग के कारण विदेशी मंडियों में खेती की पैदावार के दाम आसमान पर पहुंच जाते, क्योंकि माल की मांग चाहे देश के अंदर बढ़े या बाहर, उसका प्रभाव एक सा होगा। पर वास्तव में हुआ क्या? ख़राब फ़सल के कुछ वर्षों को छोड़कर इस पूरे समय में अनाज की विनाशकारी

मंदी फ़ांस में शिकायतों का स्थायी प्रसंग बन गयी; अमरीका बार-बार अपनी अतिरिक्त फ़सल जला देने के लिए मजबूर हुआ और, यदि मिस्टर उर्कहार्ट का कथन सही माना जाये, तो रूस ने अमरीका में गृह-युद्ध इसलिये उकसाया था कि यूरोप की मंडियों में रूस का कृषि-निर्यात अमरीकी होड़ के कारण चौपट हो रहा था।

अपने सामान्यीकृत रूप में नागरिक वेस्टन का तर्क यह ठहरता है: मांग की प्रत्येक बढ़ती हमेशा उपज की एक निश्चित मात्रा के आधार पर उत्पन्न होती है। अतः वह **मांग की वस्तुओं की पूर्ति में किसी तरह भी बढ़ती नहीं कर सकती, बल्कि वह केवल उनके मुद्रारूपी दाम बढ़ा सकती है।** यह बात तो अत्यंत साधारण अनुभव की है कि बढ़ी हुई मांग के कारण कुछ परिस्थितियों में बाज़ार के दामों में ज़रा भी परिवर्तन नहीं होता; हालांकि अन्य परिस्थितियों में बाज़ार के दाम थोड़े समय के लिये बढ़ जाते हैं और फिर पूर्ति में वृद्धि होने के कारण वे घटकर अपने पुराने स्तर पर पहुंच जाते हैं, और कभी-कभी तो वे पुराने स्तर से भी नीचे चले जाते हैं। मांग की बढ़ती चाहे बढ़ी मजदूरी या अन्य किसी कारण हुई हो, इस समस्या की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। नागरिक वेस्टन के मतानुसार इस सामान्य परिघटना को स्पष्ट करना उतना ही कठिन होगा जितना कि मज़दूरी बढ़ जाने की असाधारण परिस्थिति में होनेवाली परिघटना को। इसलिए उनकी दलीलें उस विषय में कुछ भी नहीं साबित करतीं जिसकी हम यहां चर्चा कर रहे हैं। वे केवल उन नियमों को समझने में उनकी असमर्थता ज़ाहिर करती थीं, जिनके कारण मांग की वृद्धि बाज़ार के दामों की अनिवार्य वृद्धि के बजाय, पूर्ति में भी वृद्धि उत्पन्न करती है।

३: मज़दूरी और मुद्रा

बहस के दूसरे दिन हमारे मित्र वेस्टन ने अपनी पुरानी बातों को नया जामा पहनाकर पेश किया। उन्होंने कहा – मज़दूरी की रक़म में आम बढ़ती होने पर उस मज़दूरी की अदायगी के लिए पहले से अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। यदि मुद्रा की मात्रा स्थिर है, तब इस नियत मुद्रा से आप मज़दूरी की बढ़ी हुई रक़म कैसे देंगे? पहले मज़दूर की मज़दूरी की रक़म में बढ़ती के बावजूद, उसे स्थिर मात्रा में माल मिलने के कारण कठिनाई पैदा होती थी; अब माल की स्थिर मात्रा के बावजूद उसकी मज़दूरी की रक़म में बढ़ती होने के कारण कठिनाई

उत्पन्न होती है। ज़ाहिर है, यदि आप नागरिक वेस्टन का पहला जड़सूत्र अस्वीकार कर दें, तो उनकी दूसरी कठिनाइयां अपने आप रफ़ा हो जायेंगी।

लेकिन मैं अब यह साबित करूंगा कि इस मुद्रा के प्रश्न का मौजूदा विषय से कोई संबन्ध नहीं है।

आपके देश में भुगतान की व्यवस्था यूरोप के अन्य किसी देश से अधिक परिष्कृत और पूर्ण है। बैंक-व्यवस्था के विस्तार और संकेन्द्रण के कारण मूल्यों की उसी मात्रा को संचारित करने या उसी परिमाण या उससे अधिक परिमाण में कारबार चलाने के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम मुद्रा की आवश्यकता होती है। मिसाल के लिए, जहां तक मज़दूरी का संबन्ध है, कारख़ाने में काम करनेवाला अंग्रेज़ मज़दूर अपनी मज़दूरी हर हफ़्ते दूकानदार को दे देता है, जो उसे हर हफ़्ते बैंक में जमा कर देता है, और बैंक हर हफ़्ते उसे कारख़ाने के मालिक को लौटा देता है, जो फिर उसे हर हफ़्ते अपने मज़दूरों को मज़दूरी के रूप में बांट देता है, और यह क्रम इसी तरह चलता रहता है। इस युक्ति द्वारा एक मज़दूर की वार्षिक मज़दूरी, मान लीजिये वह ५२ पाउंड है, महज़ एक ही सावरेन* द्वारा, हर हफ़्ते इसी प्रकार चक्कर काटते हुए, अदा की जा सकती है। इंगलैंड में भी भुगतान की व्यवस्था उतनी पूर्ण नहीं है, जितनी स्काटलैंड में और वह सभी जगह समान रूप से विकसित नहीं है; अतः हम देखते हैं कि मिसाल के लिये कुछ कृषि-प्रधान ज़िलों में विशुद्ध कल-कारख़ानों के ज़िलों की तुलना में मूल्यों की बहुत थोड़ी मात्रा के परिचलन के लिए कहीं ज्यादा मुद्रा की आवश्यकता होती है।

खाड़ी पार करने पर आप देखेंगे कि यूरोपीय महाद्वीप में इंगलैंड के मुक़ाबले में **मज़दूरी की रक़म** बहुत कम है; पर जर्मनी, इटली, स्विट्ज़रलैंड और फ़्रांस में उसकी अदायगी इंगलैंड के मुक़ाबले में **मुद्रा की कहीं अधिक मात्रा** द्वारा होती है। वहां एक सावरेन उतनी जल्दी बैंक के पास नहीं पहुंचता, और न उतनी जल्दी कारख़ानेदार-पूंजीपति के पास लौटता है, इसलिये हर साल ५२ पाउंड के परिचलन के लिए एक सावरेन से काम चल जाने के बजाय २५ पाउंड के ही परिचलन के लिये शायद तीन सावरेन की आवश्यकता होगी। इस प्रकार, इंगलैंड के साथ यूरोपीय महाद्वीप के देशों की तुलना करने पर तुरन्त ज़ाहिर हो जाता है कि मज़दूरी की रक़म कम होने पर भी उसकी अदायगी के लिए मज़दूरी की ज्यादा बड़ी रक़म के मुक़ाबले में अधिक मुद्रा की आवश्यकता हो सकती है।

---

*सावरेन – एक पाउंड का सोने का अंग्रेज़ी सिक्का। – सं०

वास्तव में यह केवल एक तकनीकी बात है जिसका हमारे विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मेरी जानकारी में सबसे अच्छे आंकड़ों के अनुसार इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की वार्षिक आय २५ करोड़ पाउंड अनुमान की जा सकती है। यह विशाल रक़म लगभग ३० लाख पाउंड द्वारा परिचालित होती है। मान लीजिये, मज़दूरी में ५० प्रतिशत की बढ़ती हुई है। अब ३० लाख पाउंड की मुद्रा की जगह ४५ लाख पाउंड की ज़रूरत होगी। मजदूर के प्रतिदिन के ख़र्च के लिए चूंकि ज्यादातर चांदी या तांबे के सिक्के, यानी महज़ टोकन, इस्तेमाल होते हैं जिनका सोने के मुक़ाबले में मूल्य, अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा की तरह, क़ानून द्वारा मनमाने ढंग से निश्चित किया जाता है, इसलिये मज़दूरी की रक़म में ५० प्रतिशत की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक और १० लाख सावरेन के परिचलन की आवश्यकता होगी। अब यह १० लाख जो सोने-चांदी या सिक्कों की शक्ल में बैंक ऑफ़ इंगलैंड या प्राइवेट बैंकों के तहख़ानों में पड़ा हुआ है परिचलन के लिए बाहर निकलेगा। लेकिन इस १० लाख के टंकन या घिसन, आदि में होनेवाले अल्पव्यय की भी बचत की जा सकती है, और यदि इस अतिरिक्त मुद्रा की कमी के कारण कोई दिक़्क़त पैदा हो जाये तो यह बचत वास्तव में की जायेगी। आप सब जानते हैं कि इस देश की मुद्रा दो बड़े विभागों में बंटी हुई है। एक क़िस्म की मुद्रा भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंक-नोटों की है जो व्यापारियों के बीच होनेवाले सौदों में या उपभोक्ताओं द्वारा दूकानदारी के बड़े-बड़े भुगतानों में इस्तेमाल होती है; दूसरी क़िस्म की मुद्रा धातु के बने सिक्कों की है, जो फुटकर व्यापार में चलती है। पृथक्-पृथक् होने पर भी ये दोनों मुद्रायें एक दूसरे के अन्तर्सम्बन्ध में काम करती हैं। मसलन्, सोने का सिक्का काफ़ी बड़े पैमाने पर ५ पाउंड से कम सभी फुटकर रक़मों के बड़े-बड़े भुगतान के लिए इस्तेमाल होता है। यदि कल ४, ३ या २ पाउंड के बैंक-नोट जारी कर दिये जायें, तो परिचलन की इन प्रणालिकाओं में प्रवहमान सोना तुरन्त वहां से निकलकर उन प्रणालिकाओं में प्रवाहित होने लगेगा जहां मज़दूरी की रक़म बढ़ जाने के कारण उसकी ज़रूरत है। इस प्रकार मज़दूरी में ५० प्रतिशत की बढ़ती के कारण जिस १० लाख की और ज़रूरत पड़ी है वह कहीं से एक भी नया सावरेन लाये बग़ैर पूरी हो जायेगी। यही चीज़ एक भी अधिक बैंक-नोट छापे बग़ैर हुंडियों के अतिरिक्त परिचलन द्वारा हो सकती है, जैसा कि लंकाशायर में बहुत दिनों से होता रहा है।

यदि मज़दूरी की दर में, उदाहरण के लिए, १०० प्रतिशत की आम बढ़ती

(जो नागरिक वेस्टन ने खेती की मज़दूरी में कल्पित की है) जीवनसाधक वस्तुओं का दाम बहुत ज्यादा बढ़ा देगी और, नागरिक वेस्टन के अनुसार, मुद्रा की अनुपलभ्य अतिरिक्त मात्रा आवश्यक बना देगी, तो **मज़दूरी में आम गिरावट** अवश्य ही उसी तरह का, उसी पैमाने पर, गोकि विपरीत दिशा में, असर पैदा करेगी। अच्छा फिर! आप सब जानते हैं कि १८५८ से १८६० तक का समय सूती उद्योग का सबसे अधिक समृद्धि का काल था और ख़ास तौर पर १८६० का वर्ष तो व्यापार के इतिहास में इस मामले में अपना सानी नहीं रखता; साथ ही उद्योग की अन्य शाखाएं भी ख़ूब फूल-फल रही थीं। सूती कारबार के मजदूरों की और उससे सम्बन्धित अन्य शाखाओं के सभी मजदूरों की मज़दूरी १८६० में जितनी ऊंची पहुंच गयी थी, उतनी वह पहले कभी भी न थी। तब औद्योगिक संकट ने अमरीका को आ घेरा और फलस्वरूप इस मजदूरी की कुल रक़म पहले की अपेक्षा एकाएक लगभग एक-चौथाई रह गयी। उल्टी दिशा की सूरत में यह ३०० प्रतिशत की बढ़ती होती। यदि मज़दूरी ५ से २० हो जाती है तो कहा जाता है कि मज़दूरी ३०० प्रतिशत बढ़ गई। यदि वह २० से गिरकर ५ रह जाती है तो कहा जाता है कि मजदूरी ७५ प्रतिशत घट गयी। परन्तु दोनों सूरतों में जो रक़म बढ़ती है या घटती है, वह १५ शिलिंग ही रहती है। मज़दूरी की दर में यह एकाएक और अभूतपूर्व और साथ ही साथ एक बड़ी संख्या में मज़दूरों पर प्रभाव डालनेवाला परिवर्तन था और, यदि हम उन मज़दूरों की संख्या को लें जो सूती उद्योग में सीधे लगे हुए थे और उनकी भी, जो अप्रत्यक्ष रूप से उस पर निर्भर थे, तो वह खेत-मज़दूरों की संख्या से डेढ़ गुनी अधिक होती थी। तो क्या गेहूं का दाम गिर गया? नहीं, वह १८५८–१८६० के तीन वर्षों में ४७ शिलिंग ८ पेन्स प्रति क्वार्टर के वार्षिक औसत से बढ़कर १८६१–१८६३ के तीन वर्षों में ५५ शिलिंग १० पेन्स प्रति क्वार्टर के वार्षिक औसत पर पहुंच गया। जहां तक मुद्रा का सम्बन्ध है, टकसाल में १८६० के ३३,७८,१०२ पाउंड के मुक़ाबले में १८६१ में ८६,७३,२३२ पाउंड के सिक्के ढाले गये; अर्थात् १८६० के मुक़ाबले में १८६१ में ५२,९५,१३० पाउंड के सिक्के अधिक बने। यह सही है कि १८६१ में बैंक-नोटों का परिचलन १८६० के बनिस्बत १३,१९,००० पाउंड कम था। इसे घटा दीजिये। तब भी १८६० के समृद्धता के वर्ष की अपेक्षा १८६१ में ३९,७६,१३० या लगभग ४० लाख पाउंड की मुद्रा अतिरिक्त बच रहती है; लेकिन साथ ही साथ बैंक ऑफ़ इंगलैंड के आरक्षित सोने में कमी हो जाती है, बिल्कुल उसी अनुपात में नहीं, पर उसी के लगभग।

१८६२ की तुलना १८४२ से कीजिये। परिचलन में आये हुए माल के मूल्य और परिमाण में ज़बरदस्त बढ़ती के अलावा १८६२ में इंगलैंड और वेल्स में रेल में, शेयर, क़र्ज़, आदि के नियमित कारबार में लगी हुई पूंजी ही लगभग ३२ करोड़ पाउंड थी; इतनी बड़ी रक़म १८४२ में कल्पनातीत मालूम देती। तो भी १८६२ और १८४२ में मुद्रा की कुल मात्रा क़रीब-क़रीब बराबर थी, और सामान्यतः, न सिर्फ़ मालों के, बल्कि आम तौर से नक़द सौदों के मूल्य में भी अत्यन्त तेज़ी से बढ़ती के साथ-साथ आप मुद्रा में उत्तरोत्तर घटाव की प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे। हमारे मित्र वेस्टन के दृष्टिकोण से यह एक अबूझ पहेली है।

इस प्रश्न की थोड़ी और गहराई में पहुंचने पर मित्र वेस्टन देखते कि मज़दूरी का प्रश्न अलग छोड़कर और मज़दूरी को स्थिर मानते हुए, परिचलन में आनेवाले माल के मूल्य और उसके परिमाण और लेन-देन की रक़म में हर रोज़ अन्तर होता है; जारी किये गये बैंक-नोटों की भी संख्या रोज़ भिन्न होती है; हुंडी, चेक, बही-खाते और हिसाबघरों द्वारा नक़द मुद्रा के माध्यम के बग़ैर भुगतान की मात्रा भी हर रोज़ भिन्न होती है; जहां तक बाक़ायदा धातु के सिक्कों की आवश्यकता का प्रश्न है वहां परिचलन में लगे हुए सिक्कों और आरक्षित या बैंकों के तहख़ानों में पड़े हुए सिक्कों और सोना-चांदी के बीच का अनुपात हर रोज़ भिन्न होता है; राष्ट्रीय परिचलन में लगी हुई और अंतर्राष्ट्रीय परिचलन के लिए बाहर भेजी जानेवाली सोने-चांदी की मात्रा में हर रोज़ अन्तर होता है। मित्र वेस्टन ने अनुभव किया होता कि उनका स्थिर मुद्रा का जड़सूत्र, जिसका प्रतिदिन के कार्यकलाप से कोई मेल नहीं है, एक भयानक भूल है। मुद्रा के नियमों के सम्बन्ध में अपनी ग़लत अवधारणा को मज़दूरी में बढ़ती के ख़िलाफ़ एक तर्क बनाने के बजाय उन्हें उन नियमों का अध्ययन करना चाहिये था जो मुद्रा को लगातार परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हैं।

४. पूर्त्ति और मांग

हमारे मित्र वेस्टन इस लैटिन कहावत में विश्वास करते हैं कि "repetitio est mater studiorum" (पुनरुक्ति अध्ययन की जननी है) और इसलिए वह अपने मूल जड़सूत्र को एक नई शक्ल में पेश करते हैं और कहते हैं कि मज़दूरी बढ़ने से मुद्रा-परिचलन घट जायेगा, और फलस्वरूप पूंजी में कमी आ जायेगी, इत्यादि। चूंकि मुद्रा-परिचलन-संबंधी उनकी मनगढ़न्त बात पर मैं पहले

ही अपने विचार व्यक्त कर चुका हूं, इसलिये मैं उन काल्पनिक परिणामों पर बहस करना व्यर्थ समझता हूं, जो मित्र वेस्टन के ख़्याल में मुद्रा-परिचलन की काल्पनिक दुर्घटना के कारण उत्पन्न होते हैं। अब मैं सीधे-सीधे उनके **उसी पुराने जड़सूत्र को उसके सरलतम सैद्धान्तिक रूप में** पेश करूंगा, जिसे वह बार-बार भिन्न शक्लों में प्रस्तुत करते रहते हैं।

उन्होंने अपने विषय को किस आलोचनाशून्य ढंग से प्रतिपादित किया है, इसका एक उदाहरण काफ़ी है। वह मज़दूरी बढ़ाने या मज़दूरी बढ़ जाने के कारण ऊंची मज़दूरी के ख़िलाफ़ हैं। अब मैं उनसे पूछता हूं कि ऊंची मजदूरी और नीची मज़दूरी क्या होती है? मिसाल के लिए, आप ५ शिलिंग प्रतिसप्ताह को नीची मज़दूरी और २० शिलिंग प्रतिसप्ताह को ऊंची मज़दूरी क्यों कहते हैं? अगर ५ की संख्या २० की तुलना में नीची है, तो २० की संख्या २०० की तुलना में और भी नीची है। यदि कोई आदमी थर्मामीटर के बारे में भाषण करने खड़ा हो और ऊंचे और नीचे तापमान पर लेक्चर झाड़ने लगे, तो उससे किसी को कुछ भी लाभ न होगा। उसे सबसे पहले यह बताना चाहिए कि हिमांक और क्वथनांक का कैसे पता लगाया जाता है, और कैसे इन ताप-बिन्दुओं को थर्मामीटर बेचने या बनानेवाले अपनी इच्छा से निर्धारित नहीं करते, बल्कि वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार निर्धारित होते हैं। यही नहीं कि नागरिक वेस्टन ने मजदूरी और मुनाफ़े के बारे में आर्थिक नियमों के अनुसार कोई भी मानक बिंदु निर्धारित नहीं किये, बल्कि उन्होंने उन्हें खोजने तक की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने मान लिया है कि लोक-भाषा में प्रचलित इन "ऊंचे" और "नीचे" शब्दों के कुछ निश्चित अर्थ हैं, हालांकि यह स्वतःसिद्ध है कि मज़दूरियों को हम "नीची" या "ऊंची" किसी मापदंड की तुलना में ही कह सकते हैं, जिसके द्वारा हम उनका परिमाण माप सकें।

वह मुझे यह नहीं बता सकेंगे कि श्रम की एक निश्चित मात्रा के बदले में एक निश्चित रक़म क्यों दी जाती है। यदि वह कहें, "यह तो पूर्ति और मांग के नियम से तै होता है," तो मैं उनसे यह पूछूंगा कि किस नियम द्वारा स्वयं पूर्ति और मांग का विनियमन होता है? मेरा यह जवाब उनकी पूरी बहस को ख़त्म कर देगा। श्रम की पूर्ति और मांग का सम्बन्ध हमेशा बदलता रहता है, और उसके साथ-साथ श्रम का बाजार-भाव भी बदलता रहता है। अगर मांग पूर्ति से आगे निकल जाती है, तो मजदूरियां बढ़ जाती हैं। अगर पूर्ति मांग से ज्यादा हो जाती है, तो मज़दूरियां घट जाती हैं, हालांकि ऐसी सूरत में यह ज़रूरी हो

सकता है कि हड़ताल करके या किसी और तरीक़े से **परख लिया जाये** कि मांग और पूर्ति की असली हालत क्या है। पर यदि आप पूर्ति और मांग को मज़दूरी निर्धारित करने का नियम मानते हैं, तब मजूरी बढ़ाने के ख़िलाफ़ शोर मचाना बेकार और महज़ बचपना होगा, क्योंकि जिस सर्वोच्च नियम की आप दुहाई देते हैं, उसके अनुसार मजदूरी का समय-समय पर बढ़ते रहना उतना ही आवश्यक और उचित है, जितना मजदूरी का समय-समय पर घटते रहना। यदि आप पूर्ति और मांग को मजदूरी निर्धारित करने का नियम **नहीं** मानते, तो मैं फिर अपना सवाल दोहराता हूं कि श्रम की एक निश्चित मात्रा के बदले में एक निश्चित रक़म क्यों दी जाती है?

लेकिन कुछ और विस्तीर्ण रूप से प्रश्न पर विचार कीजिये: आपका यह समझना बिल्कुल ग़लत होगा कि श्रम या और किसी भी क़िस्म के माल का मूल्य अन्त में पूर्ति और मांग से निश्चित होता है। पूर्ति और मांग बाजार-भावों के अस्थायी **उतार-चढ़ाव** के सिवा और किसी चीज़ का नियमन नहीं करतीं। पूर्ति और मांग द्वारा यह जाना जा सकता है कि किसी माल का बाज़ार का दाम उस माल के **मूल्य** से क्यों बढ़ या घट जाता है; पर पूर्ति और मांग द्वारा यह कभी नहीं जाना जा सकता कि स्वयं **मूल्य** क्या है। मान लीजिये कि पूर्ति और मांग संतुलित हैं या, अर्थशास्त्रियों की भाषा में, एक दूसरे के बराबर हैं। ज्यों ही ये परस्पर-विरोधी शक्तियां एक दूसरे के साथ संतुलित हो जाती हैं, त्यों ही वे एक दूसरे को गतिहीन बना देती हैं, और तब वे किसी भी दिशा में क्रियाशील नहीं रह जातीं। जिस समय पूर्ति और मांग संतुलित होती हैं और इसलिये क्रियाशील नहीं रहतीं, उस समय माल का **बाजार का दाम** माल के **असली मूल्य** के अनुरूप होता है, उसके स्टैंडर्ड दाम से मेल खाता है, जिसके गिर्द बाजार का दाम घटा-बढ़ा करता है। अतः इस **मूल्य** के स्वरूप के अन्वेषण में हमारा बाजार के दाम पर पूर्ति और मांग के अस्थायी प्रभाव से कोई सरोकार नहीं होता। मज़दूरी के बारे में और अन्य सभी मालों के दामों के बारे में भी यही बात सच है।

५: मज़दूरी और दाम

हमारे मित्र की सभी दलीलें, अपनी सरलतम सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति में, केवल एक ही जड़सूत्र के रूप में प्रकट होती हैं: **"मालों के दाम मज़दूरी द्वारा निर्धारित अथवा नियमित होते हैं।"**

इस पुरानी और ग़लत साबित हो चुकी भ्रांत-धारणा के ख़िलाफ़ मैं रोज़मर्रा के व्यावहारिक अनुभव को साक्षी बनाऊंगा। मैं आपको बता दूं कि इंगलैंड के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों, खान-मज़दूरों, जहाज़ बनानेवाले मज़दूरों, वग़ैरह को अपने श्रम के लिए अपेक्षाकृत ऊंची क़ीमत मिलती है, पर उनका बनाया हुआ माल और सब देशों के इसी तरह के माल से सस्ता बिकता है। दूसरी ओर उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ खेत-मज़दूरों द्वारा उत्पादित माल दूसरे सभी देशों के इसी तरह के माल की तुलना में महंगा बिकता है हालांकि अंग्रेज़ खेत-मज़दूरों को अपेक्षाकृत कम मज़दूरी मिलती है। एक ही देश में एक माल से दूसरे माल की तुलना करके या भिन्न देशों के मालों का मुक़ाबला करके मैं आपको बता सकता हूं कि कुछ अपवादों को छोड़कर, जो सचमुच अपवाद न होकर अधिकतर अपवाद की तरह दिखाई देते हैं, औसतन ऊंचे दाम वाला श्रम कम दामों का और कम दाम वाला श्रम ऊंचे दामों का माल पैदा करता है। ज़ाहिर है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक सूरत में श्रम का अधिक और दूसरी सूरत में उसका कम दाम उन परस्पर-विरोधी परिणामों के क्रमानुसार कारण है, लेकिन इससे यह ज़रूर सिद्ध होता है कि माल के दाम श्रम के दामों द्वारा निर्धारित नहीं होते। मगर हमारे लिए यह अनुभववादी तरीक़ा इस्तेमाल करना बिल्कुल अनावश्यक है।

शायद यह कहा जा सकता है कि नागरिक वेस्टन ने ऐसा जड़सूत्र कभी नहीं उपस्थित किया कि **"मालों के दाम मज़दूरी द्वारा निर्धारित अथवा नियमित होते हैं"**। वास्तव में उन्होंने उसे इसी रूप में कभी सूत्रबद्ध नहीं किया। उल्टे, उन्होंने यह कहा कि मुनाफ़ा और लगान भी माल के दाम के अंश हैं, क्योंकि माल के दाम से न केवल मज़दूर की मज़दूरी, बल्कि पूंजीपति का मुनाफ़ा और ज़मींदार का लगान भी अदा किया जाना आवश्यक होता है। लेकिन उनके ख़्याल के मुताबिक़ दाम किस प्रकार निर्धारित होता है? सबसे पहले मज़दूरी द्वारा। फिर पूंजीपति के निमित्त उसमें एक अनुपूरक प्रतिशत-भाग जोड़ दिया जाता है; फिर एक और भाग ज़मींदार के निमित्त जुड़ता है। मान लीजिये कि किसी माल के उत्पादन में लगे हुए श्रम की मज़दूरी १० है। यदि मुनाफ़े की दर १०० प्रतिशत थी, तो दी हुई मज़दूरी पर पूंजीपति अपना १० जोड़ देगा; और यदि लगान की दर भी १०० प्रतिशत थी तो ज़मींदार का १० और जुड़ जायेगा और इस प्रकार माल का कुल दाम ३० हो जायेगा। पर इस तरीक़े से दाम निर्धारित करने का अर्थ मज़दूरी के ही आधार पर दाम निर्धारित करना होगा। अगर उक्त उदाहरण

के अनुसार मजदूरी २० हो गयी होती, तो माल का दाम ६० हो जाता, इत्यादि। अतः राजनीतिक अर्थशास्त्र के सभी दक़ियानूसी ग्रन्थकारों ने, जिन्होंने मज़दूरी द्वारा दाम निर्धारित होने का अंधमत प्रतिपादित किया है, मुनाफ़े और लगान को **मजदूरी पर केवल अतिरिक्त प्रतिशत-भाग बताकर** अपना मत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनमें से किसी में भी यह योग्यता न थी कि वह इन अतिरिक्त प्रतिशत-भागों की सीमाओं को किसी आर्थिक नियम का रूप देता। इसके विपरीत, ऐसा ज़ाहिर होता है कि वे मुनाफ़े को परम्परा, लोकरीति, पूंजीपति की इच्छा या इसी प्रकार की अन्य किसी मनमानी, अव्याख्येय रीति द्वारा निश्चित वस्तु मानते थे। यदि वे कहते हैं कि मुनाफ़ा पूंजीपतियों की आपसी होड़ द्वारा निर्धारित होता है, तो उनका कथन निरर्थक है। निश्चय ही, यह होड़ भिन्न व्यवसायों में मुनाफ़े की अलग-अलग दरों को बराबर कर देगी या उन्हें एक औसत स्तर पर पहुंचा देगी, लेकिन वह किसी हालत में इस स्तर को या मुनाफ़े की आम दर को निर्धारित नहीं कर सकती।

माल का दाम मज़दूरी से निर्धारित होता है,—यह कहने का हमारा क्या मतलब है? चूंकि मज़दूरी श्रम के दाम का नाम ही है, इसलिये हमारा मतलब यह है कि माल का दाम श्रम के दाम द्वारा विनियमित होता है। चूंकि **"दाम"** विनिमय-मूल्य है,—और जब मैं मूल्य का ज़िक्र करता हूं मेरा मतलब हमेशा विनिमय-मूल्य से होता है,—चूंकि वह **मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त** विनिमय-मूल्य है, अतः इस प्रस्थापना का अर्थ यह हुआ कि **"माल का मूल्य श्रम के मूल्य द्वारा निर्धारित होता है"** या **"श्रम का मूल्य मूल्यों की सामान्य माप है"**।

तब फिर स्वयं **"श्रम का मूल्य"** किस प्रकार निर्धारित किया जाता है? यहां पर हमारे रास्ते में रुकावट खड़ी हो जाती है। रुकावट, बेशक, उस सूरत में खड़ी हो जाती है, जब हम इस प्रश्न पर तर्कसंगत रूप से विचार करना चाहें। लेकिन इस मत के प्रतिपादक तर्कसंगत विवेक के गले पर फ़ौरन छुरी चला देने से बाज नहीं आते। मिसाल के लिए अपने मित्र वेस्टन को ही लीजिये। पहले उन्होंने कहा कि माल के दामों का निर्धारण मज़दूरी करती है, और इसलिये जब मज़दूरी बढ़ती है, तो दामों का बढ़ना लाज़िमी हो जाता है। इसके बाद पलटकर वह हमें यह दिखाने लगे कि मजदूरी के बढ़ने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि साथ-साथ माल के भी दाम बढ़ जायेंगे और मज़दूरी उस माल के दामों से मापी जाती है जिस पर वह ख़र्च की जाती है। अतः हम इस चीज़ से शुरू करते हैं कि श्रम का मूल्य माल का मूल्य निर्धारित करता है और अंत में यह

कहते हैं कि श्रम का मूल्य माल के मूल्य द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार हम एक दुश्चक्र में फंस जाते हैं और किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते।

आम तौर से यह ज़ाहिर है कि किसी एक माल – चाहे श्रम, चाहे अनाज, चाहे और कुछ – के मूल्य को मूल्य की सामान्य माप और उसका नियामक बना लेने से हम कठिनाई को केवल टाल देते हैं, क्योंकि हम एक मूल्य का निर्धारण दूसरे मूल्य द्वारा करते हैं, जिसे अपने लिए ख़ुद निर्धारण की आवश्यकता होती है।

यह जड़सूत्र कि "मजदूरी माल का दाम निर्धारित करती है" अधिक से अधिक विविक्त रूप में अभिव्यक्त किये जाने पर यह प्रकट करता है कि "मूल्य मूल्य द्वारा निर्धारित होता है", और इस पुनरुक्ति का अर्थ यह है कि असल में मूल्य के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। इस पूर्वाधार को मान लेने पर राजनीतिक अर्थशास्त्र के सामान्य नियमों के विषय की सारी युक्तियां निरर्थक हो जाती हैं। अतः रिकार्डो का यह एक बहुत बड़ा योगदान था कि उन्होंने १८१७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक **'राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'** में पुरानी, प्रचलित और घिसी-पिटी इस मिथ्या-धारणा को कि "मजदूरी दाम निर्धारित करती है" बुनियादी तौर पर नष्ट कर दिया। यह एक ऐसी मिथ्या-धारणा थी, जिसे ऐडम स्मिथ और उनके पूर्ववर्ती फ़्रांसीसियों ने अपने अन्वेषणों के वास्तव में वैज्ञानिक भागों में ठुकरा दिया था, किन्तु अपने अधिक सतही और अवैज्ञानिक अध्यायों में उन्होंने उसे पुनःस्थान दे दिया।

६. मूल्य और श्रम

नागरिको, अब मैं उस स्थिति पर पहुंच गया हूं, जहां इस प्रश्न को वास्तव में अंजाम की ओर ले जाना आवश्यक है। मैं इसे बहुत संतोषजनक ढंग से करने का वादा नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने के लिये मुझे राजनीतिक अर्थशास्त्र के पूरे क्षेत्र पर दृष्टि डालनी होगी। इसलिये, फ़्रांसीसियों के अनुसार, मैं केवल "effleurer la question", यानी ख़ास-ख़ास प्रश्नों पर ही प्रकाश डाल सकता हूं।

पहला प्रश्न जो हमें पूछना है वह यह है: माल का **मूल्य** क्या है? वह किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

सरसरी नज़र डालने से ऐसा मालूम होता है कि माल का मूल्य एक नितांत **सापेक्ष** वस्तु है जो एक माल की और सभी मालों के साथ तुलना किये बग़ैर निर्धारित नहीं किया जा सकता। वास्तव में जब हम मूल्य, किसी माल के विनिमय-

मूल्य की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय उन अनुपाती मात्राओं से होता है जिनमें उस माल का अन्य मालों से विनिमय होता है। लेकिन तब यह प्रश्न उठता है: जिस अनुपात में मालों का विनिमय होता है उसका नियमन कैसे होता है?

अनुभव हमें बताता है कि इस अनुपात में अनगिनत परिवर्तन होते रहते हैं। मिसाल के लिये किसी एक माल को ले लीजिये, जैसे गेहूं। हम देखते हैं कि एक क्वार्टर गेहूं का भिन्न-भिन्न मालों से असंख्य अनुपातों में विनिमय होता है। फिर भी, **उसका मूल्य सदा वही रहता है**, चाहे वह रेशम, सोने या किसी और माल के रूप में व्यक्त हुआ हो; अतः इस मूल्य को विभिन्न मालों के इन **भिन्न-भिन्न विनिमय के अनुपातों से** अनिवार्यतः पृथक् और स्वतन्त्र होना चाहिये। भिन्न-भिन्न मालों के बीच विभिन्न प्रकार के संतुलन को एक बिल्कुल दूसरे तरीक़े से व्यक्त करना सम्भव होना चाहिये।

अब, यदि मैं कहूं कि एक क्वार्टर गेहूं का लोहे के साथ एक निश्चित अनुपात में विनिमय होता है, या एक क्वार्टर गेहूं का मूल्य लोहे की एक निश्चित मात्रा में अभिव्यक्त होता है, तो असल में मैं यह कह रहा हूं कि गेहूं का मूल्य और लोहे की शक्ल में उसका तुल्य मूल्य **किसी तीसरी चीज़** के बराबर हैं, जो न गेहूं है और न लोहा, क्योंकि हम यह मान लेते हैं कि दोनों एक ही परिमाण को दो भिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं। इसलिये गेहूं और लोहे दोनों को, एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र रूप में, इस तीसरी चीज़ के बराबर होने योग्य होना चाहिये, जो दोनों का सामान्य मापक है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए मैं रेखागणित का एक सरल उदाहरण दूंगा। विभिन्न आकार-प्रकार के त्रिभुजों के क्षेत्रफल की तुलना करने के लिये, या त्रिभुजों की आयतों के साथ या किसी अन्य ऋजुरेखीय आकृतियों के साथ तुलना करने के लिये हम क्या करते हैं? कैसा भी त्रिभुज क्यों न हो हम उसके क्षेत्रफल को एक ऐसे रूप में बदल देते हैं जो उसकी ज़ाहिरा शक्ल से बिल्कुल भिन्न होता है। यह जान लेने पर कि त्रिभुज का क्षेत्रफल उसके आधार और उसकी ऊंचाई के गुणनफल का आधा होता है, हम हर प्रकार के त्रिभुजों और ऋजुरेखीय आकृतियों के भिन्न-भिन्न परिमाणों की तुलना कर सकते हैं, क्योंकि उन सब को कतिपय त्रिभुजों के रूप में विभाजित किया जा सकता है।

मालों के मूल्य के बारे में भी हमें यही क्रियाविधि प्रयोग में लानी होगी। हमें उन सब को ऐसे परिमाणों में परिणत करना होगा, जो सब के लिये समरूप

हों, और उनमें केवल उन्हीं अनुपातों के अनुसार ही भेद करना होगा जिनमें वे समरूप परिमाण उनमें मौजूद होंगे।

मालों के **विनिमय-मूल्य** चूंकि उन चीजों की **सामाजिक क्रियायें** हैं और उनके **स्वाभाविक** गुणों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये हमें पहले यह सवाल करना चाहिये: सारे मालों का समान **सामाजिक तत्त्व** क्या है? वह है **श्रम।** किसी भी माल को तैयार करने के लिये उस पर एक निश्चित मात्रा में श्रम लगाना या उसमें खर्च करना पड़ता है। और मैं कहता हूं न केवल **श्रम,** बल्कि **सामाजिक** श्रम। यदि कोई आदमी सीधे अपने इस्तेमाल के लिये, ख़ुद अपने उपभोग के लिये कोई वस्तु तैयार करता है, तो वह केवल **उत्पादित वस्तु** होगी, न कि **माल।** अपने हाथों अपनी जरूरत की चीजें पैदा करनेवाले उत्पादक के रूप में इस व्यक्ति का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन **माल** पैदा करने के लिये आदमी को न सिर्फ़ एक ऐसी वस्तु तैयार करनी चाहिये जो किसी **सामाजिक** आवश्यकता की पूर्ति करती हो, बल्कि उसके श्रम को समाज द्वारा खर्च किये गये कुल श्रम का एक अभिन्न भाग बन जाना चाहिये। उसे **समाज के अन्दर मौजूद श्रम-विभाजन** के अधीन होना चाहिये। श्रम के अन्य विभाजनों के बग़ैर उसका अस्तित्व नहीं है, और स्वतः उसे उनका **समाकलन** करना चाहिये।

यदि हम **मालों को मूल्यों के रूप में** देखते हैं तो हम उन्हें सिर्फ़ **लगे हुए, निविष्ट** या, यूं कहिये, **संकेंद्रित सामाजिक श्रम** के रूप में देखते हैं। इस दृष्टिकोण से उनका **अन्तर** केवल श्रम की कम या अधिक मात्रा में होगा। उदाहरण के लिये, एक रेशमी रूमाल में बनिस्बत एक ईंट के अधिक श्रम लगता है। लेकिन **श्रम की मात्रा** नापने का क्या तरीक़ा है? **समय के अनुसार, जब तक श्रम लगता रहता है,**—घण्टों, दिनों, आदि के हिसाब से। प्रत्यक्ष है कि यह तरीक़ा इस्तेमाल करने के लिये हर प्रकार का श्रम औसत या साधारण श्रम की इकाइयों में बदल दिया जाये।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं: प्रत्येक माल का **मूल्य** इसलिये होता है कि वह **सामाजिक श्रम का संकेंद्रण** है। उसके मूल्य का, उसके **सापेक्ष** मूल्य का **परिमाण** उसमें शामिल सामाजिक तत्त्व की कम या ज्यादा मात्रा पर निर्भर होता है, अर्थात् उसके उत्पादन के लिये आवश्यक सापेक्ष श्रम की राशि पर। अतः **मालों के सापेक्ष मूल्य इन मालों में लगे हुए, शामिल, निविष्ट श्रम की मात्रा या श्रम के परिमाण द्वारा** निर्धारित किये जाते हैं। मालों के **सम्बन्धित** परिमाण जो एक ही **श्रम-काल में** उत्पादित किये जा सकते हैं आपस में **बराबर** होते हैं।

या, यूं कहिये, कि एक माल के मूल्य के साथ दूसरे माल के मूल्य का अनुपात वही होता है, जो पहले माल में लगे हुए श्रम की मात्रा के साथ दूसरे माल में लगे हुए श्रम की मात्रा का अनुपात होता है।

मेरा ऐसा ख़्याल है कि आप में से बहुत लोग यह प्रश्न पूछेंगे : तब क्या मालों का मूल्य **मजदूरी** द्वारा निर्धारित करने और उनके उत्पादन के लिए आवश्यक **श्रम की सापेक्ष मात्रा** द्वारा निर्धारित करने में सचमुच कोई ज़बरदस्त या किसी तरह का अंतर है? आप बहरहाल यह अवश्य जानते हैं कि श्रम का **पुरस्कार** और श्रम की **मात्रा**—ये दो बिल्कुल भिन्न चीज़ें हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक क्वार्टर गेहूं और एक आउंस सोने में **श्रम की बराबर-बराबर मात्रायें** लगी हैं। मैं यह मिसाल इसलिये भी दे रहा हूं, कि **बेंजामिन फ्रैंकलिन** ने १७२९ में प्रकाशित '**काग़ज़ी मुद्रा के स्वरूप और आवश्यकता की एक सरसरी जांच**' शीर्षक अपने पहले निबन्ध में यही मिसाल दी थी, और वह उन लोगों में थे, जिन्होंने मूल्य के वास्तविक स्वरूप को सबसे पहले पहचाना था। अस्तु, हम मान लेते हैं कि एक क्वार्टर गेहूं और एक आउंस सोना दोनों **तुल्य मूल्य** या **तुल्य राशियां** हैं, क्योंकि वे **औसत श्रम की**, निश्चित दिनों या निश्चित सप्ताहों में लगे हुए श्रम की **बराबर मात्राओं का संकेंद्रण** हैं। सोने और अनाज के सापेक्ष मूल्यों को इस प्रकार निर्धारित करने में क्या हम खेत-मजदूर या खान-मजदूर की **मजदूरी** पर कुछ भी विचार करते हैं? नहीं, बिल्कुल नहीं। हम इस बात को बिल्कुल **अनिश्चित** छोड़ देते हैं कि खेत-मजदूरों और खान-मजदूरों को दिन भर की या हफ़्ते भर की मेहनत के लिये **क्या** मज़दूरी मिली; और इस प्रश्न को भूल जाते हैं कि आया उजरती श्रम इस्तेमाल किया गया या नहीं। अगर किया गया है, तो सम्भव है कि इन मज़दूरों की मज़दूरी बहुत असमान रही हो। हो सकता है कि एक क्वार्टर गेहूं में जिस मज़दूर का श्रम लगा है उसे केवल दो ही बुशेल गेहूं मिले हों और खान में काम करनेवाले मज़दूर को आधा आउंस सोना दिया गया हो। यदि हम उनकी मज़दूरी बराबर मान भी लें तो हो सकता है कि उनकी मज़दूरी उनके द्वारा तैयार किये गये मालों के मूल्यों से भिन्न अनुपात में कम-ज्यादा रही हो। वह उस एक क्वार्टर अनाज या एक आउंस सोने का आधा, तिहाई, चौथाई, पांचवां या और कोई अनुपाती भाग हो सकती है। मज़दूरों की **मज़दूरी** बहरहाल उनके द्वारा तैयार किये हुए मालों के मूल्य से **अधिक** नहीं हो सकती; लेकिन हर संभव अनुपात में वह **कम** हो सकती है। मज़दूरों की **मज़दूरी** उत्पादित वस्तुओं के **मूल्यों द्वारा सीमित** रहती है, पर **उत्पादित वस्तुओं के मूल्य**

मज़दूरी द्वारा सीमित नहीं होते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मूल्य – उदाहरण के लिये अनाज और सोने के सापेक्ष मूल्य – लगे हुए श्रम के मूल्य, अर्थात् **मज़दूरी** पर ज़रा भी ध्यान न देकर, निश्चित कर दिये जाते हैं। अतः मालों के मूल्यों को **उनमें लगे हुए श्रम की सापेक्ष मात्राओं** द्वारा निर्धारित करना एक बात है और उन्हें पुनरावृत्ति की पद्धति से, श्रम के मूल्य या **मज़दूरी** द्वारा निश्चित करना बिल्कुल दूसरी बात है। हमारी खोज की प्रगति के साथ यह प्रश्न आगे और स्पष्ट किया जायेगा।

किसी माल के विनिमय-मूल्य का हिसाब लगाते समय उसमें उत्पादन की **आख़िरी** मंज़िल पर लगे हुए श्रम की मात्रा के साथ श्रम की उन **पहले की** मात्राओं को भी जोड़ देना होगा जो माल में लगे हुए कच्चे माल को तैयार करने में लगी थीं और उन उपकरणों, औज़ारों, मशीनों और इमारतों पर सर्फ़ हुई थीं जिनसे ऐसे श्रम में मदद मिली थी। उदाहरणतः, सूत की एक निश्चित मात्रा का मूल्य कताई की प्रक्रिया में रुई में जोड़े हुए श्रम की मात्रा, ख़ुद रुई में पहले से लगे हुए श्रम की मात्रा, कोयले, तेल और अन्य इस्तेमाल में आये हुए सहायक पदार्थों में लगे हुए श्रम की मात्रा, भाप-इंजन, तकुओं, फ़ैक्टरी की इमारतों, आदि में लगे हुए श्रम की मात्रा, आदि का संकेंद्रण है। सही अर्थ में उत्पादन के साधन – औज़ार, मशीनें, इमारतें, आदि, – कम या अधिक समय तक बार-बार उत्पादन की प्रक्रिया में काम आते रहते हैं। यदि कच्चे माल की तरह वे भी एक ही बार में पूरे ख़र्च हो जाते, तो उनका पूरा मूल्य तुरन्त उन मालों के मूल्य में जोड़ दिया जाता, जिनका उत्पादन उनकी सहायता से होता है। परन्तु, मिसाल के तौर पर, चूंकि एक तकुआ धीरे-धीरे घिसता है इसलिये इस आधार पर कि वह कितने दिन टिकाऊ रहेगा और एक निश्चित समय में – मसलन् एक दिन में – उसमें कितनी घिसन होगी, एक औसत हिसाब लगा लिया जाता है। इस प्रकार हम हिसाब लगा लेते हैं कि दिन भर में तैयार किये गये सूत में तकुए का कितना मूल्य जुड़ जाता है और, मसलन्, एक पाउंड सूत में लगे हुए कुल श्रम में तकुए में पहले से लगे हुए श्रम का कितना भाग शामिल होता है। हमारे मौजूदा प्रयोजन के लिए इस विषय पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

यह ख़्याल किया जा सकता है कि यदि किसी माल का मूल्य **उसके उत्पादन में लगे हुए श्रम के परिमाण** द्वारा निर्धारित किया जाता है, तो उसका बनानेवाला जितना ही काहिल होगा, जितना ही वह अनाड़ी होगा, उतना ही वह माल ज़्यादा क़ीमती होना चाहिए, क्योंकि उसे तैयार करने के लिए श्रम का उतना ही अधिक

समय खर्च होगा। पर यह एक बुरी भूल होगी। आपको ख्याल होगा कि मैंने "**सामाजिक** श्रम" फ़िक़रे का इस्तेमाल किया था और इस विशेषण "**सामाजिक**" में कई बातें शामिल हैं: जब हम यह कहते हैं कि किसी माल का मूल्य उसमें लगे या उसमें फलीभूत **श्रम की मात्रा** द्वारा निर्धारित होता है, तो हमारा अभिप्राय समाज की एक विशेष स्थिति में, उत्पादन की कुछ निश्चित औसत सामाजिक परिस्थितियों में, प्रयुक्त श्रम की सघनता और निपुणता के एक औसत सामाजिक दरजे के अन्तर्गत उसके उत्पादन के लिये **आवश्यक श्रम की मात्रा** से है। जब इंगलैंड में मशीन-करघा हाथ के करघे की होड़ में आया, तो सूत की एक निश्चित मात्रा को गज भर कपड़े में बुनने के लिये पहले के मुक़ाबले में सिर्फ़ आधे समय के श्रम की जरूरत होने लगी। अब हाथ के करघे पर काम करनेवाले बेचारे बुनकर को पहले के ९ या १० घण्टे के बजाय १७ – १८ घण्टे काम करने की ज़रूरत पड़ने लगी। फिर भी उसके २० घण्टे की मेहनत का उत्पादन अब केवल १० घण्टे के सामाजिक श्रम, या सूत की एक निश्चित मात्रा को कपड़े में बुनने के लिये १० घण्टे के सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम का द्योतक है अत: उसके २० घण्टे के उत्पादन का मूल्य उसके पहले के १० घण्टे के उत्पादन के मूल्य से अधिक न रह गया।

इसलिये यदि माल में लगे हुए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की मात्रा माल का विनिमय-मूल्य निर्धारित करती है, तो किसी माल के उत्पादन में जितनी ही अधिक मात्रा में श्रम की आवश्यकता होगी उतना ही अधिक उसका मूल्य बढ़ जायेगा, और उत्पादन में जितने ही कम श्रम की आवश्यकता होगी उतना ही अधिक उसका मूल्य घट जायेगा।

यदि अलग-अलग मालों के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रायें स्थिर रहती हैं, तो उनके सापेक्ष मूल्य भी स्थिर रहेंगे। पर ऐसा होता नहीं। श्रम की उत्पादन-क्षमता में होनेवाले परिवर्तनों के साथ-साथ मालों के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा भी लगातार बदलती रहती है। श्रम की उत्पादन-क्षमता जितनी ही अधिक होती है, उतना ही अधिक माल एक निश्चित समय में तैयार हो जाता है; और श्रम की उत्पादन-क्षमता जितनी ही कम होती है, उतना ही कम माल उतने ही समय में तैयार होता है। मिसाल के लिये, यदि आबादी बढ़ जाने के कारण कम उपजाऊ धरती पर खेती करना ज़रूरी हो जाये, तो उतना ही अनाज पैदा करने के लिए पहले से अधिक श्रम लगाना होगा और फलस्वरूप खेती की पैदावार का मूल्य बढ़ जायेगा। दूसरी ओर, यदि एक अकेला बुनकर

उत्पादन के आधुनिक साधनों द्वारा काम के एक दिन में उससे कई हज़ार गुना अधिक रुई कात डालता है, जितनी रुई वह उतने ही समय चर्खे से कात सकता था, तो ज़ाहिर है कि रुई के प्रत्येक पाउंड में कताई का श्रम पहले से कई हज़ार गुना कम लगेगा और फलतः रुई के हर पाउंड में कताई से जो मूल्य जुड़ेगा, वह पहले से कई हज़ार गुना कम होगा। फलतः सूत का मूल्य उसी हिसाब से घट जायेगा।

विभिन्न जातियों की स्वाभाविक क्रियाशीलता तथा उनकी अर्जित कार्य-निपुणता में भिन्नता को छोड़कर श्रम की उत्पादन-क्षमता प्रधानतः इन बातों पर निर्भर होती है:

पहले – श्रम की **स्वाभाविक** परिस्थितियों पर, जैसे जमीन की उर्वरता, खानों की समृद्धि, आदि;

दूसरे – **श्रम की सामाजिक शक्तियों** के उत्तरोत्तर सुधार पर, जिसका स्रोत है बड़े पैमाने पर उत्पादन, पूंजी का संकेंद्रण, श्रम का संयोजन, श्रम का विभाजन, मशीनों, आधुनिक विधियों, रासायनिक और अन्य प्राकृतिक साधनों का प्रयोग, संचार और यातायात द्वारा समय और दूरी का कम हो जाना और हर प्रकार के दूसरे आविष्कार जिनके द्वारा विज्ञान प्राकृतिक शक्तियों को श्रम की दासी बना देता है और जिनके द्वारा श्रम के सामाजिक या सहकारी स्वरूप का विकास होता है। श्रम की उत्पादन-क्षमता जितनी ही अधिक होती है, एक निश्चित मात्रा के उत्पादन में उतना ही कम श्रम लगता है, इसलिये उत्पादन की इस मात्रा का मूल्य उतना ही कम होता है। श्रम की उत्पादन-क्षमता जितनी कम होती है, एक निश्चित मात्रा के उत्पादन में उतना ही अधिक श्रम लगता है, अस्तु उत्पादन का मूल्य उतना ही ज़्यादा होता है। अतः एक सामान्य नियम के रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं:

मालों के मूल्य उनके उत्पादन में लगे हुए समय के प्रत्यक्ष अनुपात में हैं, और उनमें लगे हुए श्रम की उत्पादन-क्षमता के विलोम अनुपात में हैं।

अभी तक मैंने केवल **मूल्य** का ज़िक्र किया है, अब मैं **दाम** के बारे में दो-चार शब्द कहूंगा जो मूल्य द्वारा ही धारण किया हुआ उसका एक विशिष्ट रूप है।

दाम अपने-आप **मूल्य की मुद्रारूपी अभिव्यक्ति** के अलावा और कुछ नहीं है। उदाहरण के लिये, इंगलैंड में सारे माल के मूल्य सोने के दामों में व्यक्त किये जाते हैं, जब कि बाक़ी यूरोप में वे मुख्यतः चांदी के दामों में व्यक्त होते हैं। सोने और चांदी के मूल्य भी, अन्य सभी मालों की तरह, उन्हें प्राप्त करने के

लिए आवश्यक श्रम की माला द्वारा निर्धारित होते हैं। आप अपनी राष्ट्रीय पैदावार की एक निश्चित माला, जिसमें आपके राष्ट्रीय श्रम की एक निश्चित माला फलीभूत हुई है, सोना और चांदी पैदा करनेवाले देशों की पैदावार से, जिसमें **उन** देशों के श्रम की एक निश्चित माला फलीभूत है, विनिमय कर लेते हैं। इस तरह, वस्तुतः माल-विनिमय द्वारा, लोग तमाम मालों के मूल्यों को, अर्थात् उनमें लगे हुए श्रम की मालाओं को, सोने और चांदी में व्यक्त करना सीखते हैं। यदि आप **मूल्य की इस मुद्रारूपी अभिव्यक्ति** पर, या **मूल्य के दाम की शक्ल में बदल जाने** पर, जो एक ही चीज़ है, ज़रा नज़दीक से ग़ौर करें, तो आप देखेंगे कि यह एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा सभी मालों के **मूल्यों** को एक **स्वतन्त्र और एकजैसा रूप** दिया जाता है और उन्हें **समान** सामाजिक श्रम की मालाओं के रूप में व्यक्त किया जाता है। चूंकि दाम मूल्य की केवल मुद्रारूपी अभिव्यक्ति है, **ऐडम स्मिथ ने** उसे **स्वाभाविक दाम** और फ़ांसीसी फ़िजियोक्रैट अर्थशास्त्रियों ने **आवश्यक दाम** कहा है।

अतः **मूल्य** और **बाज़ार के दामों**, या **स्वाभाविक दामों** और **बाज़ार के दामों** में क्या सम्बन्ध है? आप सभी जानते हैं कि एक ही तरह के सब मालों के **बाज़ार के दाम एक से** होते हैं, भले ही अलग-अलग उत्पादकों की उत्पादन परिस्थितियों में अन्तर रहा हो। बाज़ार के दाम **सामाजिक श्रम की केवल उस औसत मात्रा** को ज़ाहिर करते हैं, जो उत्पादन की औसत परिस्थितियों में किसी निश्चित माल का एक निश्चित परिमाण बाज़ार में पहुंचाने के लिये आवश्यक होती है। उनका हिसाब एक ही तरह के तमाम मालों की माला पर लगा लिया जाता है।

इस हद तक माल का **बाज़ार का दाम** उसके **मूल्य** से मेल खाता है। दूसरी ओर बाज़ार के दाम में उतार-चढ़ाव, मूल्य या स्वाभाविक दाम से कभी ऊपर चढ़ना और कभी गिर जाना, पूर्ति और मांग की कमी-बेशी पर निर्भर होता है। मूल्यों से बाज़ार के दामों का विचलन लगातार जारी रहता है, लेकिन जैसा **ऐडम स्मिथ** ने कहा है—

"स्वाभाविक दाम ... केन्द्रीय दाम है जिसकी ओर सब मालों के दाम बराबर खिंचते रहते हैं। सम्भव है कि विभिन्न प्रकार की आकस्मिक घटनायें उन्हें उससे कभी-कभी बहुत ऊपर टांग रखें, और कभी-कभी उन्हें उससे कुछ नीचे भी गिरा दें। पर सुस्थिरता और नैरन्तर्य के इस केन्द्र से दामों को विचलित करनेवाली जो भी अड़चनें हों, खिंचते वे बराबर इसी केन्द्र की ओर हैं।"[32]

मैं अब इस मामले की अधिक छानबीन नहीं कर सकता। इतना कह देना काफ़ी है कि **यदि** पूर्ति और मांग एक दूसरे द्वारा संतुलित हो जायें, तो मालों के बाज़ार के दाम मालों के स्वाभाविक दामों, अर्थात् उनके उत्पादन के लिये श्रम की निश्चित मात्राओं द्वारा निर्धारित मूल्यों के अनुरूप होंगे। पूर्ति और मांग **अनिवार्यतः** एक दूसरे को लगातार सन्तुलित करते रहने की प्रवृत्ति रखती हैं, यद्यपि यह काम वे एक परिवर्तन के असर को दूसरे परिवर्तन से ख़तम करके – उतार को चढ़ाव से और चढ़ाव को उतार से – पूरा करती हैं। बाज़ार के दामों के रोज़ के उतार-चढ़ाव की जगह यदि आप उनकी लम्बी अवधियों की गति का अध्ययन करें जैसा, मिसाल के लिये, मिस्टर टूक ने अपनी पुस्तक **'दामों का इतिहास'** में किया है, तो आप देखेंगे कि बाज़ार के दामों की अस्थिरताएं, मूल्यों से उनके विचलन, उनके उतार-चढ़ाव एक दूसरे को ख़तम करते और सन्तुलित करते रहते हैं; अतः, इजारेदारी तथा थोड़े-से और रूपभेदों के प्रभाव को छोड़कर, जिनकी चर्चा यहां संभव नहीं है, हर प्रकार के माल औसतन् अपने अपने **मूल्यों**, अथवा स्वाभाविक दामों पर बिकते हैं। भिन्न प्रकार के मालों के लिए औसत समय, जिसमें उनके बाज़ार के दामों के विचलन एक दूसरे का सन्तुलन कर देते हैं, भिन्न होता है, क्योंकि यदि कुछ मालों के लिये मांग और पूर्ति को अनुकूलित करना आसान होता है, तो औरों के लिए इतना आसान नहीं।

तब, मोटे तौर पर, और कुछ अधिक लम्बी अवधि में, यदि सब तरह के माल अपने-अपने मूल्यों पर बिकते हैं, तो यह ख़्याल करना बिल्कुल बेवक़ूफ़ी होगा कि मुनाफ़ा, अलग-अलग व्यक्तियों का मुनाफ़ा नहीं, बल्कि विभिन्न व्यवसायों का स्थिर और सामान्य मुनाफ़ा, मालों के दाम बढ़ाकर या उन्हें उनके **मूल्य** से अधिक दामों पर बेचकर आता है। सामान्य भाव से देखने पर इस विचार का बेतुकापन आप से आप जाहिर हो जाता है। बेचनेवाले की हैसियत से एक आदमी जो बराबर लाभ उठायेगा, ख़रीदनेवाले की हैसियत से वह उसे बराबर खोता रहेगा। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि बहुत-से लोग ऐसे हैं जो बेचनेवाले न होकर केवल ख़रीदार होते हैं, या उत्पादक हुए बग़ैर केवल उपभोक्ता बने रहते हैं। ऐसे लोग जो दाम उत्पादकों को अदा करते हैं, उसे उत्पादकों से उन्हें पहले ही मुफ़्त में वसूल करना होगा। यदि कोई आदमी पहले आपसे रुपया ले लेता है और बाद में आपसे माल ख़रीदकर वही रुपया आपको लौटा देता है, तो उसी आदमी के हाथ अधिक दाम पर अपना माल बेचकर आप कभी धनी नहीं बन

सकते। इस तरह के सौदे से घाटा भले ही कुछ कम हो जाये, पर उससे मुनाफ़ा कमाने में कभी कोई सहायता नहीं मिल सकती।

अतः **मुनाफ़े का सामान्य स्वरूप** समझाने के लिए आपको इस तथ्य से आरम्भ करना चाहिये कि माल औसतन **अपने असली मूल्य पर बिकता है और उसे अपने मूल्य पर**, अर्थात् उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के अनुपात में, **बेचने से मुनाफ़ा होता है।** यदि आप इस आधार पर मुनाफ़े के प्रश्न का स्पष्टीकरण नहीं कर सकते, तो आप उसका स्पष्टीकरण नहीं कर सकेंगे। यह नित्य के अनुभव के आधार पर एक उल्टी-सी और असंगत बात मालूम देती है। लेकिन यह भी एक उल्टी बात है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और दो अत्यन्त ज्वलनशील गैसों के मिश्रण से पानी बनता है। नित्य के अनुभव की दृष्टि से वैज्ञानिक सत्य हमेशा विरोधाभास के रूप में दिखाई देता है क्योंकि नित्य के अनुभव द्वारा हम सब चीज़ों को उनके भ्रमात्मक प्रतीयमान रूप में ही देखते हैं।

७. श्रम-शक्ति

सरसरी तौर से जिस तरह हो सका **मूल्य** के स्वरूप, **हर प्रकार के माल के मूल्य** के स्वरूप का विश्लेषण करने के बाद, हमें अब **श्रम के** विशिष्ट **मूल्य** की ओर ध्यान देना चाहिये। इस विषय में भी मैं एक ऐसी बात कहूंगा जो आपको विरोधाभास प्रतीत होगी और जिससे आप शायद चौंक पड़ेंगे। आप सब निःसंशय यह समझते हैं कि मजदूर हर रोज़ जो चीज बेचते हैं वह उनका श्रम है, अतः श्रम का दाम होता है; और चूंकि प्रत्येक माल का दाम उसके मूल्य की मुद्रारूपी अभिव्यक्ति है, इसलिये **श्रम का मूल्य** होना अनिवार्य है। लेकिन सामान्य भाषा में इस शब्द के ग्राह्य अर्थ में **श्रम का मूल्य** जैसी कोई चीज़ नहीं होती। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक माल में फलीभूत श्रम की आवश्यक मात्रा उसका मूल्य निर्धारित करती है। अब मूल्य की इस धारणा को यदि हम प्रयोग में लाना चाहें, तो, मसलन्, हम किस प्रकार १० घण्टे के काम के दिन का मूल्य निर्धारित करेंगे? उस एक दिन में कितना श्रम निहित है? १० घण्टे का श्रम। अब यह कहना कि १० घण्टे के काम के दिन का मूल्य १० घण्टे के श्रम के बराबर, या उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के बराबर है, पुनरुक्ति ही नहीं, बल्कि एक निरर्थक कथन होगा। बेशक, "**श्रम के मूल्य**" के पीछे छिपा हुआ असली अर्थ एक बार समझ लेने पर हम मूल्य के इस तर्कहीन और ज़ाहिरा

असम्भव प्रयोग का उसी प्रकार स्पष्टीकरण कर सकेंगे, जिस प्रकार एक बार आकाशीय पिंडों की वास्तविक गति का निश्चय कर लेने पर हम उनकी प्रत्यक्ष अथवा मात्र प्रतीयमान गति की व्याख्या कर सकते हैं।

जो चीज़ मज़दूर बेचता है वह सीधे-सीधे उसका **श्रम** नहीं है, बल्कि वह उसकी **श्रम-शक्ति** है, जिसे वह थोड़े समय के लिये पूंजीपति को इस्तेमाल के लिये सौंप देता है। यह बात इतनी सच्ची है कि--अंग्रेजी क़ानून के बारे में तो मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता, लेकिन यूरोप के कई देशों के क़ानूनों के मुताबिक़ समय की एक **अधिकतम अवधि** निश्चित कर दी गयी है जिसके अन्दर मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति बेच सकता है। यदि श्रम-शक्ति को अनिश्चित काल के लिये बेचने दिया जाये, तो दास-प्रथा फ़ौरन फिर से क़ायम हो जायेगी। यदि कोई मज़दूर तमाम उम्र के लिये अपनी श्रम-शक्ति बेच दे, तो वह अपने मालिक का तुरन्त आजीवन गुलाम बन जायेगा।

इंगलैंड के सबसे पुराने अर्थशास्त्रियों में से एक **टामस हॉब्स** ने, जो एक अत्यन्त मौलिक दार्शनिक भी थे, अपनी पुस्तक **'लेवायथन'** में अपनी सहज प्रेरणा द्वारा इस बात को ग्रहण किया था, जिसे उनके सभी उत्तराधिकारियों ने नज़रअन्दाज़ किया है। हॉब्स के अनुसार

"**मनुष्य का मूल्य** या **मोल**, और सब वस्तुओं की तरह, उसका **दाम**, अर्थात् वह रक़म है जो **उसकी शक्ति इस्तेमाल करने** के लिये दी जाती है।"

इस आधार पर चलकर हम **श्रम का मूल्य** उसी प्रकार निर्धारित कर सकेंगे, जिस प्रकार हम अन्य सभी मालों का मूल्य निर्धारित करते हैं।

लेकिन ऐसा करने के पूर्व हम पूछ सकते हैं कि यह विलक्षण परिस्थिति कैसे उत्पन्न हुई कि बाजार में हमें एक ओर ख़रीदारों का एक ऐसा गरोह मिलता है जिसके पास ज़मीन, मशीनें, कच्चा माल और जीवन-निर्वाह के साधन, यानी ऐसी चीज़ें मौजूद हैं जो परती ज़मीन को छोड़कर सब **श्रम की उपज** हैं; और दूसरी ओर हमें बेचनेवालों का एक ऐसा समूह मिलता है जिसके पास बेचने के लिये अपनी श्रम-शक्ति, अपने कामकाजी हाथों और अपने दिमाग़ के अलावा और कुछ नहीं होता। यह अजीबोग़रीब परिस्थिति कैसे पैदा हुई कि कुछ लोग मुनाफ़ा कमाने और अपनी थैलियां भरने के लिये सदा ख़रीदते रहते हैं, और दूसरे लोग अपनी जीविका कमाने के लिए सदा बेचते रहते हैं? यदि हम इस मामले की खोज करें तो वह उस विषय की खोज होगी जिसे अर्थशास्त्री **पूर्व का**, या **आदिम संचय** कहते हैं, लेकिन वास्तव में जिसे **आदिम सम्पत्तिहरण** कहना चाहिये। तब हमें

पता चलेगा कि इस तथाकथित **आदिम संचय** का अर्थ कुछ ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के सिलसिले के सिवा और कुछ नहीं है, जिनके फलस्वरूप श्रमिक मानव और उसके श्रम के साधनों की **आदिम एकता** भंग हो गयी है। परन्तु इस प्रकार की खोज मेरे मौजूदा विषय की सीमा के बाहर है। श्रमिक मानव और उसके श्रम के साधनों के बीच यह **अलगाव** एक बार स्थापित हो जाने पर क़ायम रहता है और लगातार बढ़ते हुए पैमाने पर पुनः-पुनः उत्पन्न होता रहता, है, जब तक उत्पादन-पद्धति में एक नई और बुनियादी क्रान्ति उसे नष्ट नहीं करती और आदिम एकता को एक नये ऐतिहासिक रूप में फिर से स्थापित नहीं करती।

तब फिर **श्रम-शक्ति का मूल्य** क्या है?

हर एक दूसरे माल के मूल्य की तरह उसका मूल्य उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा निश्चित होता है। हर आदमी की श्रम-शक्ति उसके जीवित व्यक्तित्व का ही अंग होती है। प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने तथा अपना जीवन क़ायम रखने के लिये हर एक आदमी जीवनसाधक वस्तुओं की एक निश्चित राशि का उपभोग करता है। परन्तु मशीन की तरह आदमी भी घिस जाता है और उसकी जगह पर दूसरा आदमी लाना होता है। **स्वयं अपने** को जीवित रखने के लिए आदमी को जीवनसाधक वस्तुओं के जिस परिमाण की आवश्यकता होती है, उसके अलावा उसे बच्चों को भी पालने के लिए जीवनसाधक वस्तुएं भी चाहिए जो आगे चलकर श्रम-बाज़ार में उसका स्थान पूरा करेंगे और मज़दूरों की नस्ल बढ़ायेंगे। इसके अलावा अपनी श्रम-शक्ति बढ़ाने के लिये और किसी ख़ास धन्धे में निपुणता प्राप्त करने के लिये उसे मूल्यों की एक और मात्रा ख़र्च करनी होगी। यहां पर हमारा काम **औसत** कोटि के श्रम पर विचार करने से चल जायेगा जिसकी शिक्षा और जिसके विकास का ख़र्च नगण्य ही है। फिर भी मुझे इस अवसर पर यह बता देना चाहिये कि चूंकि भिन्न गुण-सम्पन्न श्रम-शक्तियां उत्पन्न करने में ख़र्च भिन्न होता है, इसलिये भिन्न व्यवसायों में लगी हुई श्रम-शक्तियों के मूल्य भी अवश्य भिन्न होंगे। अतएव **बराबर मज़दूरी** की मांग बिल्कुल ग़लत चीज़ है; वह **पागलों की सी** ख़्वाहिश है जो कभी भी पूरी नहीं हो सकती। यह उस झूठे और सतही उग्रवाद की उपज है जो पूर्वावयवों को मंजूर करता है, परन्तु परिणामों से मुंह छिपाता है। मज़दूरी की व्यवस्था के आधार पर श्रम-शक्ति का मूल्य और सब मालों के मूल्यों की ही तरह निश्चित होता है; और चूंकि भिन्न प्रकारों की श्रम-शक्तियों का मूल्य भिन्न होता है, यानी उन्हें पैदा करने में भिन्न-भिन्न मात्रा में श्रम लगता है, इसलिये श्रम-बाज़ार में उनका **अवश्य ही** भिन्न-भिन्न दाम

लगेगा। मज़दूरी की व्यवस्था के आधार पर **समान या यही नहीं न्यायोचित प्रतिफल** तक के लिए हंगामा मचाना वैसा ही है जैसा कि दास-प्रथा के आधार पर **स्वतन्त्रता** के लिये हंगामा करना। आप किस चीज़ को न्यायसंगत या उचित समझते हैं, इसका प्रश्न पैदा ही नहीं होता। प्रश्न तो यह है कि एक विशेष उत्पादन-पद्धति के लिये क्या आवश्यक और अनिवार्य है।

जो कुछ कहा गया है उससे पता चलेगा कि **श्रम-शक्ति का मूल्य जीवनसाधक वस्तुओं के मूल्यों** द्वारा निर्धारित होता है, जिनकी ज़रूरत श्रम-शक्ति पैदा करने में, उसे विकसित और क़ायम करने में, उसका नैरन्तर्य बनाये रखने में पड़ती है।

८. अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

अब मान लीजिये कि एक श्रमजीवी की प्रतिदिन की जीवनसाधक वस्तुओं की औसत मात्रा के उत्पादन में **६ घण्टे का औसत श्रम** लगता है। इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि ६ घण्टे का औसत श्रम सोने की एक ऐसी मात्रा के रूप में प्रतिफलित होता है जो ३ शिलिंग के बराबर है। ऐसी हालत में ३ शिलिंग उस आदमी की **श्रम-शक्ति के दैनिक मूल्य का दाम** या उसकी मुद्रारूपी अभिव्यक्ति होंगे। यदि वह आदमी प्रतिदिन ६ घण्टे काम करेगा तो वह ऐसा मूल्य पैदा कर लेगा जिससे वह नित्य की जीवनसाधक वस्तुओं की औसत मात्रा ख़रीद सकेगा, अर्थात् अपने को एक श्रमजीवी की हैसियत से ज़िन्दा रख सकेगा।

परन्तु हमारा यह आदमी उजरती मज़दूर है। इसलिये उसे अपनी श्रम-शक्ति को किसी पूंजीपति के हाथ बेचना होगा। यदि वह उसे ३ शिलिंग रोज़ाना या १८ शिलिंग हफ़्तेवार के हिसाब से बेचता है, तो उसे उसका पूरा मूल्य मिल जाता है। मान लीजिये कि वह मज़दूर कताई का काम करता है। यदि वह प्रतिदिन ६ घण्टे काम करता है, तो वह रूई में ३ शिलिंग का मूल्य प्रतिदिन शामिल कर देता है। उसके द्वारा शामिल किया हुआ रोज़ का यह मूल्य उसकी मज़दूरी, या उसकी श्रम-शक्ति के रोज़ के दाम के बिल्कुल बराबर है। ऐसी दशा में किसी प्रकार का **अतिरिक्त मूल्य** या **अतिरिक्त उपज** पूंजीपति के पल्ले **नहीं** पड़ेगी। अस्तु यहां पर आकर रोड़ा अटकता है।

मज़दूर की श्रम-शक्ति ख़रीद लेने पर और उसका मूल्य चुका देने पर पूंजीपति, हर ख़रीदार की तरह, यह अधिकार प्राप्त कर लेता है कि वह ख़रीदे हुए माल

का जिस प्रकार चाहे उपभोग करे और उसे इस्तेमाल में लाये। मजदूर को काम पर लगाकर वह उसकी श्रम-शक्ति उसी प्रकार इस्तेमाल करता है जिस प्रकार वह मशीन का इस्तेमाल करता है। मजदूर की श्रम-शक्ति का दैनिक या साप्ताहिक मूल्य अदा कर देने पर पूंजीपति उस श्रम-शक्ति को **पूरे दिन या पूरे हफ़्ते** इस्तेमाल करने या काम में लगा रखने का हक़ हासिल कर लेता है। निस्संदेह काम के दिन या काम के सप्ताह की सीमायें होती हैं, पर इस प्रश्न पर हम बाद में ग़ौर से विचार करेंगे।

फ़िलहाल मैं आपका ध्यान एक निर्णायक प्रश्न की ओर आकर्षित करना चाहता हूं।

श्रम-शक्ति का **मूल्य** उस शक्ति को क़ायम रखने या उसे पुनः उत्पन्न करने के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है; लेकिन इस श्रम-शक्ति **का प्रयोग** मजदूर की क्रिया-शक्ति और उसके शारीरिक बल द्वारा सीमित होता है। श्रम-शक्ति का दैनिक या साप्ताहिक मूल्य उस शक्ति के रोज़मर्रा या हफ़्ते भर के ख़र्च से एक बिल्कुल पृथक् चीज है; उसी तरह जैसे घोड़े को कितने दाने की जरूरत है और घोड़ा सवार को कितने समय तक सवारी दे सकता है, ये दोनों अलग चीजें हैं। श्रम की वह माला जो मजदूर की श्रम-शक्ति के **मूल्य** को सीमित करती है कदापि श्रम की उस माला को सीमित नहीं करती, जो मजदूर की श्रम-शक्ति प्रस्तुत कर सकती है। कताई करनेवाले मजदूर का ही उदाहरण लीजिये। हम देख चुके हैं कि अपनी श्रम-शक्ति पुनः उत्पन्न करने के लिये उसे रोज ३ शिलिंग का मूल्य पैदा करना आवश्यक है, जिसे वह रोज ६ घण्टे काम करके पूरा करता है। लेकिन यह उसे रोज़ १०, १२ या और अधिक घण्टों तक काम करने के अयोग्य नहीं बना देता। पूंजीपति इस कताई-मजदूर की श्रम-शक्ति का दैनिक या साप्ताहिक मूल्य चुकाकर उसकी श्रम-शक्ति को **पूरे दिन या पूरे सप्ताह** इस्तेमाल करने का अधिकार प्राप्त कर चुका है। अतः पूंजीपति कताई-मजदूर को, मान लें, **१२** घण्टे काम पर लगाता है। ऐसी हालत में उन ६ घण्टों के श्रम के **अलावा** और **ऊपर**, जो उसकी मजदूरी या उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य पूरा करने के लिये जरूरी हैं, कताई-मजदूर को **६ घण्टे और** काम करना होता है। इन्हें हम **अतिरिक्त श्रम** के घण्टे कहेंगे और यह अतिरिक्त श्रम **अतिरिक्त मूल्य** और **अतिरिक्त उपज** की शक्ल में फलीभूत होगा। यदि हमारा कताई-मजदूर, मान लीजिये, **अपने** ६ घण्टे रोज़ के श्रम द्वारा रूई में ३ शिलिंग का मूल्य, जो ठीक उसकी मजदूरी के बराबर है, जोड़ देता

है, तो १२ घण्टे में वह ६ शिलिंग का मूल्य रूई में जोड़ेगा और **उसी अनुपात में सूत की अतिरिक्त मात्रा** तैयार करेगा। चूंकि मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को पूंजीपति के हाथ बेच चुका है, इसलिये उसके द्वारा पैदा किया हुआ पूरा का पूरा मूल्य या उपज उस पूंजीपति की होगी जो उसकी श्रम-शक्ति का उस समय स्वामी है। अतः ३ शिलिंग लगाने पर पूंजीपति ६ शिलिंग का मूल्य प्राप्त करेगा, क्योंकि एक ऐसा मूल्य देकर जिसमें ६ घण्टे का श्रम फलीभूत है वह उसके बदले में एक ऐसा मूल्य प्राप्त करेगा जिसमें १२ घण्टे का श्रम फलीभूत है। इस क्रिया को दोहराकर पूंजीपति रोज ३ शिलिंग लगायेगा और ६ शिलिंग अपनी जेब में डाल लेगा, जिसका आधा भाग फिर मजदूरी देने में सर्फ़ होगा और आधा **अतिरिक्त मूल्य** के रूप में बच रहेगा, जिसके लिये पूंजीपति कोई तुल्य मूल्य बदले में नहीं लगाता। **पूंजी और श्रम के बीच इस ढंग के विनिमय** पर ही पूंजीवादी उत्पादन, या मजदूरी की व्यवस्था टिकी हुई है, और इसी के फलस्वरूप हमेशा मजदूर का मजदूर के रूप में, और पूंजीपति का पूंजीपति के रूप में नैरन्तर्य चलता रहेगा।

अतिरिक्त मूल्य की दर—बाक़ी परिस्थितियां वैसी ही रहने पर—श्रम-शक्ति के मूल्य को पुनः उत्पन्न करने के लिये आवश्यक काम के दिन के भाग और पूंजीपतियों के हित में लगे हुए **अतिरिक्त समय** या **अतिरिक्त श्रम** के बीच अनुपात पर निर्भर करती है; अतः वह उस **अनुपात** पर निर्भर करेगी जिसमें **काम का दिन उस सीमा से अधिक बढ़ाया जायेगा** जहां तक मजदूर केवल अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पुनः उत्पन्न करता है या अपनी मजदूरी का बदला देता है।

६. श्रम का मूल्य

अब हमें फिर "**श्रम के मूल्य या दाम**" के प्रश्न पर विचार करना होगा।

हम देख चुके हैं कि वास्तव में वह श्रम-शक्ति का उन जीवनसाधक वस्तुओं के मूल्य द्वारा मापित मूल्य है जो श्रम-शक्ति को क़ायम रखने के लिये आवश्यक हैं। लेकिन चूंकि मजदूर को मजदूरी काम करने के **बाद** मिलती है और वह यह समझता है कि पूंजीपति को असल में जो वह देता है वह उसका श्रम है, इसलिये अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य या दाम उसे अनिवार्यतः **अपने श्रम के दाम या मूल्य** के रूप में दिखाई देता है। यदि उसकी श्रम-शक्ति का दाम ३ शिलिंग है, जिसमें ६ घण्टे का श्रम निहित है, और वह १२ घण्टे काम करता है, तो वह अनिवार्यतः इन ३ शिलिंग को अपने १२ घंटे के श्रम का मूल्य या दाम समझता है, गोकि

वास्तव में १२ घण्टे का यह श्रम ६ शिलिंग के मूल्य के रूप में फलीभूत होता है। इससे दो परिणाम उत्पन्न होते हैं।

एक तो, श्रम-शक्ति का मूल्य या दाम स्वयं श्रम का मूल्य या दाम मालूम देने लगता है, हालांकि सही अर्थ में श्रम के मूल्य या दाम के कोई माने नहीं होते।

दूसरे, यद्यपि मजदूर के रोजाना श्रम के केवल एक ही भाग का **भुगतान होता है** और दूसरे भाग का **नहीं**, और इस अशोधित या अतिरिक्त श्रम के कोष से ही **अतिरिक्त मूल्य** या **मुनाफ़ा** पैदा होता है, तथापि मालूम यह होता है कि मजदूरों का पूरा श्रम भुगतान किया हुआ श्रम है।

यह मिथ्या प्रतीति **उजरती श्रम** को श्रम के अन्य **ऐतिहासिक** रूपों से पृथक् करती है। मजदूरी की व्यवस्था के आधार पर **अशोधित** श्रम भी **भुगतान किया हुआ** श्रम मालूम देता है। इसके विपरीत, एक गुलाम के श्रम का बेबाक़ किया हुआ भाग भी फोकट का श्रम दिखाई देता है। जाहिर है कि काम करने के लिये गुलाम का जिन्दा रहना जरूरी है, अतः उसके काम के दिन का एक भाग उसके जीवन-निर्वाह का मूल्य पूरा करने में लग जाता है। लेकिन चूंकि गुलाम और मालिक में किसी तरह का मोलतोल नहीं होता और दोनों के बीच ख़रीद-फ़रोख़्त नहीं होता, इसलिये ऐसा जाहिर होता है कि गुलाम का श्रम मालिक को पूरा का पूरा मुफ़्त में दे दिया जाता है।

दूसरी ओर, भूदास किसान को लीजिये, जो, कहा जा सकता है, अभी कल तक पूरे पूर्वी यूरोप में मौजूद था। यह किसान, उदाहरणतः, ३ दिन अपने या भूस्वामी द्वारा दिये हुए खेत में अपने लिये काम करता था और उसके बाद उसे ३ दिन भूस्वामी की ज़मीन पर अनिवार्यतः बेगार करनी होती थी। इस प्रकार श्रम के शोधित और अशोधित दोनों भाग यहां पर स्पष्ट रूप से विभाजित थे, देश और काल के अनुसार विभाजित थे, और हमारे उदारपंथी राजनीतिज्ञ आदमी से बेगार कराने की असंगत धारणा के प्रति नैतिक आक्रोश के कारण उबल पड़ते थे।

लेकिन एक आदमी चाहे हफ़्ते में ३ दिन अपने खेत पर अपने लिये काम करे और ३ दिन मुफ़्त में भूस्वामी की भूमि जोते या चाहे कारख़ाने या वर्कशाप में ६ घण्टे प्रतिदिन अपने लिये और ६ घण्टे कारख़ानेदार के लिये काम करे, बात वस्तुतः एक ही है; गोकि कारख़ाने में काम करनेवाले मजदूर के लिये शोधित और अशोधित श्रम के दोनों भाग आपस में गड्डमड्ड हो जाते हैं, और पूरे सौदे

का स्वरूप **करार की मौजूदगी** से और हफ़्ते के अन्त में **मज़दूरी बंटने** के कारण पूर्णतया ढक जाता है। एक सूरत में मुफ़्त का श्रम स्वेच्छा से किया हुआ मालूम देता है और दूसरी सूरत में वही मजबूरन् किया गया ज़ाहिर होता है। यही तमाम फ़र्क़ है।

आगे जब हम **"श्रम का मूल्य"** शब्द इस्तेमाल करेंगे तो **"श्रम-शक्ति के मूल्य"** के ही अर्थ में बोलचाल में अधिक प्रचलित फ़िक़रे के रूप में करेंगे।

१०. माल को उसके मूल्य पर बेचकर मुनाफ़ा कमाया जाता है

मान लीजिये कि श्रम का एक औसत घण्टा ६ पेन्स के बराबर मूल्य उत्पन्न करने में लगता है, या श्रम के १२ औसत घण्टों में ६ शिलिंग का मूल्य उत्पन्न होता है। यह भी मान लीजिये कि श्रम का मूल्य ३ शिलिंग, या ६ घण्टे के श्रम की उपज है। अब यदि किसी माल में लगे हुए कच्चे माल, मशीन, आदि में २४ घण्टे का औसत श्रम लगा है, तो उसका मूल्य १२ शिलिंग होगा। तिस पर यदि पूंजीपति द्वारा काम पर लगाया हुआ मज़दूर इन उत्पादन के साधनों में १२ घण्टे का श्रम जोड़ देता है, तो ये १२ घण्टे ६ शिलिंग के अतिरिक्त मूल्य के रूप में फलीभूत होंगे। इस प्रकार **उपज का कुल मूल्य** ३६ घण्टे के फलीभूत श्रम, या १८ शिलिंग के बराबर होगा। लेकिन चूंकि श्रम का मूल्य, या मज़दूर की मज़दूरी केवल ३ शिलिंग है, पूंजीपति को मज़दूर के उस ६ घण्टे के अतिरिक्त श्रम के लिये कुछ भी नहीं देना होगा जो माल के मूल्य में शामिल हो गया है। अब यदि पूंजीपति इस माल को उसके मूल्य, १८ शिलिंग, पर बेचता है तो उसे ३ शिलिंग का वह मूल्य भी प्राप्त होता है, जिसके लिये उसने कुछ भी नहीं दिया। ये ३ शिलिंग अतिरिक्त मूल्य या मुनाफ़े के रूप में हैं जो सीधे पूंजीपति की जेब में जाता है। इस प्रकार माल को उसके मूल्य से **अधिक** दामों पर न बेचकर, बल्कि **उसके सही मूल्य** पर बेचकर पूंजीपति ३ शिलिंग का मुनाफ़ा प्राप्त करता है।

माल का मूल्य उसमें निहित **श्रम की कुल मात्रा** द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन श्रम की इस मात्रा के एक भाग का फलीभूत रूप वह मूल्य है जिसके लिये तुल्य मूल्य मज़दूरी के रूप में अदा किया जा चुका है और दूसरे भाग का वह मूल्य है जिसके लिये किसी प्रकार का तुल्य मूल्य **नहीं** अदा किया गया।

माल में निहित श्रम का एक भाग **शोधित** श्रम है और दूसरा **अशोधित।** अतः माल को **उसके मूल्य**, अर्थात् उसमें लगे हुए **श्रम की पूरी मात्रा** के फलीभूत रूप में उसके मूल्य पर बेचने से पूंजीपति अवश्य ही उसे मुनाफ़े पर बेचता है। वह केवल वही चीज़ नहीं बेचता जिसके लिये उसे तुल्य मूल्य देना पड़ा है, बल्कि वह उस चीज़ को भी बेचता है जिसके लिये उसने कुछ भी नहीं दिया, गोकि उसमें उसके मज़दूर का श्रम लगा हुआ है। पूंजीपति के लिये माल का मूल्य और माल का असली मूल्य दो भिन्न वस्तुयें हैं। अतः, मैं एक बार फिर कहता हूं कि साधारण और औसत मुनाफ़ा मालों को उनके असली मूल्यों से **अधिक** नहीं, बल्कि उनके **असली मूल्यों पर** बेचकर कमाया जाता है।

११. भिन्न-भिन्न भाग, जिनमें अतिरिक्त मूल्य बंट जाता है

अतिरिक्त मूल्य, या माल के कुल मूल्य के उस भाग को, जिसमें मज़दूर का **अतिरिक्त या अशोधित** श्रम फलीभूत होता है, मैं **मुनाफ़ा** कहता हूं। यह पूरा का पूरा मुनाफ़ा मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति की जेब में नहीं जाता। ज़मीन पर अपने इजारे के कारण ज़मींदार इस **अतिरिक्त मूल्य** का एक हिस्सा **लगान** के रूप में ले लेता है, चाहे भूमि कृषि, इमारत, रेल या उत्पादन-संबंधी और किसी काम में इस्तेमाल की जाती हो। दूसरी ओर, यही बात कि **श्रम के साधन** पर अधिकार रखने के कारण मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति **अतिरिक्त मूल्य** पैदा करने में या, जो एक ही चीज़ है, **अशोधित श्रम का एक भाग अपने लिये हस्तगत करने** में समर्थ होता है, श्रम के साधन के उस स्वामी को, जो मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति को पूर्णतः या अंशतः उधार देता है—संक्षेपतः **ऋणदाता-पूंजीपति** को **सूद** के रूप में इस अतिरिक्त मूल्य के एक और हिस्से का दावेदार बना देती है। फलतः खुद मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति के लिये केवल वही बचता है जिसे **औद्योगिक या व्यापारिक** मुनाफ़ा कहते हैं।

किस नियम के अनुसार इन तीन श्रेणी के लोगों में इस अतिरिक्त मूल्य की पूरी रक़म का बंटवारा होता है, यह प्रश्न हमारे मौजूदा विषय से संबंध नहीं रखता। लेकिन जो कुछ कहा गया है उससे बहरहाल यह नतीजा निकलता है:

लगान, सूद और औद्योगिक मुनाफ़ा—ये सब माल के **अतिरिक्त मूल्य** या **उसमें निहित अशोधित श्रम के विभिन्न भागों के अलग-अलग नाम** हैं, और वे

सब **इसी स्रोत, और केवल इसी स्रोत से बरामद होते हैं।** वे ख़ुद **ज़मीन** और ख़ुद **पूंजी** द्वारा नहीं पैदा किये जाते, बल्कि ज़मीन और पूंजी अपने-अपने मालिकों के लिये मज़दूर रखनेवाले* पूंजीपति द्वारा मज़दूरों से ऐंठे हुए अतिरिक्त मूल्य से अपना-अपना हिस्सा बंटा लेना सम्भव बना देती हैं। जहां तक मज़दूर का सम्बन्ध है उसके लिये यह प्रश्न गौण है कि इस अतिरिक्त मूल्य को – उसके अतिरिक्त या अशोधित श्रम के फल को – मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति पूरा हज़्म कर जाता है या उसे लगान और सूद के रूप में उसका कुछ भाग औरों को भी देना पड़ता है। मान लीजिये कि मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति अपनी ही पूंजी लगाता है और ज़मीन का वह स्वयं मालिक है, तो पूरा अतिरिक्त मूल्य उसी की जेब में जायेगा।

मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति ही मज़दूर से सीधे-सीधे अतिरिक्त मूल्य ऐंठता है, चाहे अंत में अपने लिये वह उसमें से जो भी भाग रख पाए। अस्तु, मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति और मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर के इसी सम्बन्ध पर मज़दूरी और मौजूदा उत्पादन की पूरी व्यवस्था टिकी हुई है। लिहाज़ा कुछ नागरिकों ने, जिन्होंने हमारे बहस-मुबाहिसे में भाग लिया था, इस प्रश्न पर बेलाग बात न कहने और मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति और मज़दूर के मूलभूत सम्बन्ध को प्रधान प्रश्न न समझने की ग़लती की है; गोकि उनका यह कहना ठीक था कि मौजूदा परिस्थितियों में दामों में बढ़ती मज़दूर रखनेवाले पूंजीपति, ज़मींदार, ऋणदाता-पूंजीपति और – यदि आप शामिल करना चाहें तो – टैक्स वसूल करनेवाले को सम्भवतः अत्यन्त असमान रूप से प्रभावित करेगी।

अभी जो कहा गया है उससे एक और नतीजा निकलता है।

माल के मूल्य का वह भाग जो कच्चे माल, मशीनों, संक्षेप में, उसमें लगे हुए उत्पादन के साधनों के मूल्य को व्यक्त करता है, किसी प्रकार की **आय नहीं** पैदा करता, वह **केवल पूंजी** की रक़म-पूर्ति कर देता है। लेकिन इसके अलावा यह कहना ग़लत होगा कि माल के मूल्य का दूसरा भाग, **जो आय पैदा करता है,** या जिसे मज़दूरी, मुनाफ़े, लगान या सूद के रूप में सर्फ़ किया जा सकता है, वह मज़दूरी के मूल्य, लगान के मूल्य, मुनाफ़े के मूल्य, आदि मूल्यों द्वारा **संघटित होता है।** हम पहले मज़दूरी के प्रश्न को छोड़ देंगे और केवल औद्योगिक मुनाफ़े, सूद और लगान पर विचार करेंगे। हमने अभी देखा है कि माल में निहित **अतिरिक्त मूल्य,** या उसके मूल्य का वह भाग जिसमें **अशोधित श्रम** निहित है, तीन भिन्न-भिन्न भागों में बंट जाता है। लेकिन यह कहना बिल्कुल ग़लत होगा कि माल के

इस भाग का मूल्य **इन तीन संघटक भागों के स्वतन्त्र मूल्यों के जोड़ से क़ायम** या **गठित होता है।**

यदि एक घण्टे का श्रम ६ पेन्स के मूल्य में फलीभूत होता है, यदि मज़दूर का काम का दिन १२ घण्टे का होता है, यदि इस समय का आधा श्रम अशोधित श्रम है, तो यह अतिरिक्त श्रम माल में ३ शिलिंग का **अतिरिक्त मूल्य** जोड़ देगा, अर्थात् ऐसा मूल्य जिसके लिये कोई तुल्य मूल्य एवज़ में नहीं अदा किया गया। यह ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य वह **पूरा कोष** है, जिसे मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति, किसी भी अनुपात में, ज़मींदार और ऋणदाता के साथ बांट सकता है। यह ३ शिलिंग का मूल्य उस मूल्य की सीमा है जिसके अन्दर वे आपस में बंटवारा कर सकते हैं। लेकिन मज़दूर रखनेवाला पूंजीपति माल के मूल्य में अपने मुनाफ़े के लिये मनमाना मूल्य नहीं जोड़ता, और न उसमें ज़मींदार के लिये एक और मूल्य जोड़ा जाता है, इत्यादि, ताकि मनमाने ढंग से तय किये हुए इन मूल्यों के जोड़ द्वारा माल का कुल मूल्य क़ायम हो जाये। अतः प्रचलित धारणा का भ्रम साफ़ ज़ाहिर है जो एक **निश्चित मूल्य के** तीन भागों में **बंट जाने** से यह मतलब निकालती है कि वह तीन **स्वतन्त्र** मूल्यों के **मिल जाने** से बनता है, और इस प्रकार कुल मूल्य को, जिससे लगान, मुनाफ़ा और सूद प्राप्त होते हैं, एक मनमाने परिमाण में परिवर्तित कर देती है।

यदि पूंजीपति द्वारा हासिल किया हुआ कुल मुनाफ़ा १०० पाउंड है तो हम इस रक़म को निरपेक्ष परिमाण के रूप में **मुनाफ़े की रक़म** कहेंगे। लेकिन यदि हम इस १०० पाउंड और पेशगी के रूप में लगी हुई पूंजी के बीच अनुपात का हिसाब करें, तो हम इस **सापेक्ष परिमाण** को **मुनाफ़े की दर** कहेंगे। प्रत्यक्षतः यह मुनाफ़े की दर दो प्रकार से व्यक्त की जा सकती है।

मान लीजिये कि **मज़दूरी में लगी हुई** अग्रिम पूंजी १०० पाउंड है। यदि उपार्जित अतिरिक्त मूल्य भी १०० पाउंड है—और इससे हमें पता चल जाता है कि मज़दूर अपने पूरे काम के दिन में आधा समय **बिना भुगतान के** श्रम करता है—और यदि हम इस मुनाफ़े की माप मज़दूरी के रूप में अग्रिम दी हुई पूंजी के मूल्य से करें, तो हम कहेंगे कि **मुनाफ़े की दर** १०० प्रतिशत है, क्योंकि अग्रिम दिया हुआ मूल्य १०० होता है और प्राप्त किया—२००।

दूसरी ओर, यदि हम केवल **मज़दूरी में लगी हुई** पूंजी को ही न लें, बल्कि लगी हुई **कुल पूंजी,** मान लीजिये ५०० पाउंड, पर विचार करें, जिसमें से ४०० पाउंड कच्चे माल, मशीनों, इत्यादि का मूल्य व्यक्त करता है, तो हम

देखेंगे कि **मुनाफ़े की दर** केवल २० प्रतिशत है, क्योंकि १०० पाउंड का मुनाफ़ा **कुल** लगाई गई पूंजी का केवल पांचवां भाग है।

मुनाफ़े की दर ज़ाहिर करने का पहला तरीक़ा एकमात्र तरीक़ा है जो शोधित और अशोधित श्रम का असली अनुपात, exploitation* (आप हमें यह फ़्रांसीसी शब्द इस्तेमाल करने की अनुमति दें) की असली मात्रा व्यक्त करता है। दूसरा तरीक़ा प्रायः इस्तेमाल किया जाता है और कुछ चीज़ों के लिये वह उपयुक्त भी है। जैसा भी हो, इस बात को पोशीदा रखने के लिए कि पूंजीपति मज़दूरों का कितना श्रम मुफ़्त में दबा बैठता है वह एक बहुत ही कारगर तरीक़ा है।

अपने आगे के बयान में, इस चीज़ का लिहाज़ न करके कि यह अतिरिक्त मूल्य भिन्न लोगों में किस तरह बंटता है, मैं पूंजीपति द्वारा ऐंठे हुए पूरे अतिरिक्त मूल्य के लिये **मुनाफ़ा** शब्द इस्तेमाल करूंगा, और **मुनाफ़े की दर** शब्द इस्तेमाल करते समय मैं मज़दूरी में लगी हुई पूंजी के मूल्य और मुनाफ़े के अनुपात से हमेशा मुनाफ़े की माप करूंगा।

१२. मुनाफ़ों, मज़दूरियों और दामों का सामान्य सम्बन्ध

किसी माल के मूल्य से उस माल पर ख़र्च किये गये कच्चे माल और उत्पादन के अन्य साधनों के मूल्य की पूर्ति करनेवाला मूल्य घटा दीजिये, अर्थात् उसमें निहित पहले का श्रम व्यक्त करनेवाला मूल्य घटा दीजिये, तब माल के मूल्य का शेष भाग श्रम की उस मात्रा को व्यक्त करेगा जिसे **अन्त में** काम करनेवाले मज़दूर ने माल में जोड़ा है। यदि यह मज़दूर रोज़ १२ घण्टे काम करता है और यदि १२ घण्टे का औसत श्रम ६ शिलिंग के बराबर सोने की एक मात्रा के रूप में फलीभूत होता है, तो यह ६ शिलिंग का बेशी मूल्य **एकमात्र** मूल्य है जो उसके श्रम द्वारा पैदा हुआ है। यह उसके श्रम-काल द्वारा निर्धारित मूल्य एकमात्र कोष है, जिसमें से मज़दूर और पूंजीपति दोनों को अपने-अपने लाभांश हासिल करने हैं। यही वह मूल्य है जो मज़दूरी और मुनाफ़े में बंट जाता है। स्पष्ट है कि यह मूल्य स्वयं उन परिवर्तनीय अनुपातों के कारण नहीं बदलता

* शोषण। – सं०

जिनमें दोनों पक्ष आपस में बंटवारा कर सकते हैं। इसमें कोई भी परिवर्तन न होगा, चाहे एक मजदूर के बजाय आप पूरी श्रमिक जनता को रख दें, या एक काम के दिन के बजाय, मिसाल के लिए, एक करोड़ बीस लाख दिन रख दें।

पूंजीपति और मज़दूर को चूंकि इस सीमित मूल्य को ही – अर्थात् मज़दूर के कुल श्रम द्वारा मापे जानेवाले इसी सीमित मूल्य को – आपस में बांटना है, इसलिये एक को जितना अधिक मिलेगा, दूसरे का हिस्सा उतना ही कम हो जायेगा। जब कभी दी हुई किसी मात्रा का एक हिस्सा बढ़ता है, तो उसका दूसरा हिस्सा घट जाता है। यदि मजदूरी में परिवर्तन होता है, तो मुनाफ़े में उल्टी दिशा में परिवर्तन होगा। अगर मज़दूरी घटती है तो मुनाफ़ा बढ़ेगा; यदि मज़दूरी बढ़ेगी तो मुनाफ़ा घटेगा। अगर मज़दूर को, जैसा कि हम पहले मान चुके हैं, ३ शिलिंग, अर्थात् उसके पैदा किये हुए मूल्य का आधा मूल्य मिलता है, या काम के पूरे दिन में उसके आधे श्रम का भुगतान किया जाता है और आधे का नहीं किया जाता, तो **मुनाफ़े की दर** १०० प्रतिशत होगी, क्योंकि पूंजीपति भी ३ शिलिंग पा जायेगा। यदि मज़दूर केवल २ शिलिंग पाता है, या ख़ुद अपने लिए वह पूरे दिन के केवल एक-तिहाई समय तक काम करता है, तो पूंजीपति को ४ शिलिंग मिलेंगे और मुनाफ़े की दर २०० प्रतिशत होगी। यदि मज़दूर को ४ शिलिंग मिलते हैं, तो पूंजीपति को केवल २ शिलिंग मिलेंगे और मुनाफ़े की दर गिरकर ५० प्रतिशत हो जायेगी। लेकिन इन सारी तबदीलियों का माल के मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ेगा। अतः मज़दूरी में आम बढ़ती होने से मुनाफ़े की आम दर गिर जायेगी, पर मालों के मूल्यों में उससे कोई फ़र्क़ न पड़ेगा।

गोकि मालों के मूल्य, जो अन्त में उनके बाजार के दामों का अनिवार्यतः नियमन करते हैं, केवल उनमें निहित श्रम की कुल मात्राओं द्वारा निर्धारित होते हैं, न कि इन मात्राओं के शोधित और अशोधित श्रम के विभाजन द्वारा, इससे यह नतीजा हरगिज़ नहीं निकलता कि मसलन् १२ घण्टे के दौरान तैयार किये गये अलग-अलग माल या माल के ढेरों के मूल्य स्थायी रहेंगे। एक निश्चित समय के श्रम से या श्रम की एक निश्चित मात्रा से किस **संख्या** या परिमाण में माल तैयार होगा, यह प्रश्न श्रम की **उत्पादन-क्षमता** पर निर्भर करता है, न कि **समय के विस्तार** या उसकी लम्बाई पर। मिसाल के लिये मान लीजिये, १२ घण्टे के काम के दिन में विशेष उत्पादन-क्षमता वाले कताई के श्रम द्वारा १२ पाउंड सूत तैयार होता है और एक कम उत्पादन-क्षमता वाले कताई के श्रम द्वारा केवल

२ पाउंड सूत तैयार होता है। अब यदि १२ घण्टे का औसत श्रम ६ शिलिंग के मूल्य में फलीभूत होता है, तो उस सूरत में १२ पाउंड सूत का दाम ६ शिलिंग होगा और दूसरी सूरत में उसी २ पाउंड सूत का भी दाम ६ शिलिंग होगा। अतः एक सूरत में १ पाउंड सूत का दाम ६ पेन्स होगा और दूसरी सूरत में उतने ही सूत का दाम ३ शिलिंग होगा। दामों में यह फ़र्क़ प्रयुक्त श्रम की उत्पादन-क्षमता में अन्तर के कारण पैदा होता है। अधिक उत्पादन-क्षमता वाले श्रम द्वारा एक ही घण्टे में एक पाउंड सूत तैयार हो जाता है, जबकि कम उत्पादन-क्षमता वाले श्रम के छः घण्टे में एक पाउंड सूत तैयार होता है। अतः एक सूरत में एक पाउंड सूत का दाम सिर्फ़ छः पेन्स होगा, हालांकि इस सूरत में मजदूरी अपेक्षाकृत ऊंची थी और मुनाफ़े की दर नीची। दूसरी सूरत में उसका दाम ३ शिलिंग होगा, हालांकि इस सूरत में मज़दूरी कम थी और मुनाफ़े की दर ऊंची। ऐसा इसलिये होगा कि एक पाउंड सूत का दाम सूत में **लगे हुए श्रम की कुल मात्रा** द्वारा निर्धारित होता है, न कि **उस कुल मात्रा के शोधित और अशोधित श्रम के आनुपातिक विभाजन** द्वारा। अतः पहले मैंने जो कहा था कि ऊंची मजदूरी का श्रम सस्ता और कम मजदूरी का श्रम महंगा माल पैदा कर सकता है, उसका विरोधाभासी स्वरूप इस प्रकार ख़तम हो जाता है। यह केवल इस सामान्य नियम की अभिव्यक्ति है कि माल का मूल्य उसमें निहित श्रम द्वारा निर्धारित होता है और यह कि श्रम की यह मात्रा पूरी तरह श्रम की उत्पादन-क्षमता पर निर्भर है जो फलतः श्रम की उत्पादन-क्षमता में प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलती रहेगी।

१३. मज़दूरी बढ़वाने या मज़दूरी में गिरावट रोकने के लिए प्रयत्नों की मुख्य अवस्थायें

अब हमें उन मुख्य अवस्थाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए जिनमें मजदूरी बढ़वाने या उसे गिरने से रोकने की कोशिश की जाती है।

१) हम देख चुके हैं कि **श्रम-शक्ति का मूल्य**, लोकभाषा में **श्रम का मूल्य**, जीवनसाधक वस्तुओं के मूल्य द्वारा या इन वस्तुओं को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है। अब यदि किसी देश में मजदूर की रोज़मर्रा की औसत जीवनसाधक वस्तुओं का मूल्य ३ शिलिंग में अभिव्यक्त ६ घण्टे के श्रम का द्योतक है, तो मज़दूर को अपने नित्य के जीवन-यापन के हेतु तुल्य

मूल्य पैदा करने के लिए ६ घण्टे प्रतिदिन काम करना होगा। यदि काम का पूरा दिन १२ घण्टे का है तो पूंजीपति मज़दूर को ३ शिलिंग पकड़ाकर उसके श्रम का मूल्य अदा कर देगा। काम के पूरे दिन में आधे समय का श्रम अशोधित होगा और मुनाफ़े की दर १०० प्रतिशत होगी। अब मान लीजिए कि उत्पादन-क्षमता में कमी हो जाने के कारण पहले के बराबर खेती की उपज पैदा करने के लिए और ज्यादा श्रम की ज़रूरत होगी, जिसके परिणामस्वरूप मज़दूर के रोज़मर्रा की जीवनसाधक वस्तुओं के दाम ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग हो जाते हैं। ऐसी हालत में श्रम का **मूल्य** एक-तिहाई, यानी ३३ १/३ प्रतिशत, बढ़ जायेगा। अब मज़दूर को पहले के जीवन-स्तर के अनुरूप अपने निर्वाह के तुल्य मूल्य उत्पन्न करने के लिए काम के दिन में ८ घण्टे काम करने की ज़रूरत पड़ेगी। अत: अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे से घटकर ४ घण्टे रह जायेगा और मुनाफ़े की दर १०० से घटकर ५० प्रतिशत हो जायेगी। पर ऐसी हालत में, यदि मज़दूर अपनी मज़दूरी बढ़वाने के लिये जोर देता है, तो वह केवल **अपने श्रम का बढ़ा हुआ मूल्य** मांगता है; उसी तरह जैसे कि हर माल का विक्रेता, जब उसके मालों की लागत बढ़ जाती है, तो वह बढ़े हुए मूल्यों के अनुसार दाम पाने की कोशिश करता है। यदि मज़दूरी नहीं बढ़ती, या इतनी काफ़ी नहीं बढ़ती कि वह जीवनसाधक वस्तुओं के बढ़े हुए मूल्यों को पूरा कर सके, तो श्रम का **दाम श्रम के मूल्य से नीचे** आ जायेगा और मज़दूर का जीवन-स्तर गिर जायेगा।

लेकिन परिवर्तन उल्टी दिशा में भी हो सकता है। संभव है कि श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ जाने के कारण प्रतिदिन इस्तेमाल होनेवाली जीवनसाधक वस्तुओं की उसी मात्रा का दाम ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग रह जाये, या मज़दूर को नित्य की जीवनसाधक वस्तुओं का तुल्य मूल्य पैदा करने के लिए काम के दिन में ६ घण्टे के बजाय केवल ४ घण्टे काम करने की आवश्यकता रह जाये। ऐसी हालत में मज़दूर को २ शिलिंग में उतनी ही जीवनसाधक वस्तुएं मिल जायेंगी, जितनी पहले उसे ३ शिलिंग में मिलती थीं। **श्रम का मूल्य** बेशक गिर जायेगा, लेकिन उस घटे हुए मूल्य के बदले पहले जितना ही माल आयेगा। तब मुनाफ़ा ३ से ४ शिलिंग हो जायेगा और मुनाफ़े की दर १०० से २०० प्रतिशत तक बढ़ जायेगी; गोकि मज़दूर के जीवन का निरपेक्ष स्तर वही रहेगा, लेकिन उसकी सापेक्ष मज़दूरी और उसके साथ पूंजीपति की तुलना में उसकी **सापेक्ष सामाजिक स्थिति** गिर जायेगी। यदि मज़दूर अपनी सापेक्ष मज़दूरी में घटती का प्रतिरोध करता है, तो वह केवल अपनी बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति का थोड़ा-सा और ज्यादा

हिस्सा प्राप्त करने की कोशिश करता है और सामाजिक स्तर की दृष्टि से वह अपनी पहले की सापेक्ष स्थिति क़ायम रखना चाहता है। अनाज आयात विरोधी क़ानूनों के विरुद्ध आन्दोलन के समय दिये गये अपने गम्भीर आश्वासनों का घोर अतिक्रमण कर, अंग्रेज़ फ़ैक्टरी-मालिकों ने क़ानूनों के रद्द होने के बाद मज़दूरी में आम तौर पर १० प्रतिशत की कमी कर दी थी। मज़दूरों का प्रतिरोध पहले तो निष्फल हुआ, लेकिन बाद में, कुछ परिस्थितियों के कारण जिनका ज़िक्र हम यहां नहीं कर सकते, यह १० प्रतिशत की कटौती पूरी कर ली गयी।

२) जीवनसाधक वस्तुओं का **मूल्य** और तदनुसार **श्रम का मूल्य** यथावत् रहने पर भी, सम्भव है, **मुद्रा के मूल्य में** पहले हुए **परिवर्तनों** के कारण, उनके **मुद्रारूपी दामों** में कुछ फ़र्क़ आ जाये।

मान लीजिये कि कुछ नई और अधिक उर्वर खानों की खोज के फलस्वरूप २ आउंस सोने के उत्पादन में अब उससे ज्यादा श्रम नहीं लगता जितना पहले १ आउंस सोने के उत्पादन में लगता था। ऐसा होने पर सोने का **मूल्य** ५० प्रतिशत या आधा गिर जायेगा। चूंकि इस हालत में और सब मालों का **मूल्य** पहले के मुक़ाबले दूने **मुद्रारूपी दामों** में अभिव्यक्त होगा, इसलिये यही बात **श्रम के मूल्य** पर भी लागू होगी। १२ घण्टे का श्रम जो पहले ६ शिलिंग में अभिव्यक्त होता था, अब १२ शिलिंग में व्यक्त होगा। यदि मज़दूर की मज़दूरी ६ शिलिंग हो जाने के बजाय ३ ही शिलिंग रही, तो **उसके श्रम का मुद्रारूपी दाम उसके श्रम के मूल्य के आधे** के बराबर हो जायेगा और मज़दूर का जीवन-स्तर बेहद गिर जायेगा। यदि मज़दूर की मज़दूरी बढ़ती है लेकिन सोने के मूल्य के गिरने के अनुपात में नहीं, तब भी कमोबेश यही बात होगी। इस सूरत में श्रम की उत्पादन-क्षमता में, या पूर्ति और मांग में, या मालों के मूल्यों में कोई अंतर नहीं होगा। मूल्यों के मौद्रिक **नामों** के सिवा और कुछ नहीं बदलेगा। यह कहना कि इस सूरत में मज़दूर को अपनी मज़दूरी में अनुकूल बृद्धि के लिए आग्रह न करना चाहिए यही कहने के बराबर है कि ठोस चीज़ में मज़दूरी लेने के बजाय उसे केवल नाम में मज़दूरी हासिल करके संतोष करना चाहिए। पिछला पूरा इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी मुद्रा का इस प्रकार अवमूल्यन होता है तो उस समय पूंजीपति मज़दूर को ठगने के लिए इस मौक़े को हाथ से न जाने देने के लिए तैयार रहता है। राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का एक बहुत बड़ा पंथ ज़ोर देकर कहता है कि सोना पैदा करनेवाले नये प्रदेशों की खोज के कारण, चांदी की खानों में अधिक व्यवस्थित रूप से काम होने के कारण और सस्ता पारा मिलने के कारण

बहुमूल्य धातुओं का मूल्य पुनः गिर गया है। यूरोपीय महाद्वीप में मज़दूरी बढ़वाने के लिए जो आम और हर जगह एकसाथ कोशिश हो रही है, वह इसी कारण है।

३) अभी तक हमने यह सोचा था कि **काम के दिन** की एक निश्चित सीमा होती है। परन्तु काम के दिन की अपनी कोई स्थिर सीमा नहीं है। पूंजी की यह सर्वदा प्रवृत्ति रहती है कि काम के दिन को, जहां तक शारीरिक तौर से सम्भव हो सके, खींचकर बढ़ाया जाये, क्योंकि उसी हिसाब से अतिरिक्त श्रम और फलतः मुनाफ़े में वृद्धि होती है। काम के दिन को बढ़ाने में पूंजी जितनी ही सफलता प्राप्त करती है उतनी ही अधिक मात्रा में वह औरों का श्रम हड़पती है। १७वीं शताब्दी के दरमियान और १८वीं शताब्दी के दो-तिहाई काल तक में १० घण्टे का काम का दिन पूरे इंगलैंड में सामान्य काम का दिन था। जैकोबिन-विरोधी युद्ध के दौरान, जो वास्तव में ब्रिटिश सामन्तों का ब्रिटिश श्रमिक जनसाधारण के ख़िलाफ़ युद्ध था,[33] पूंजी ने अपने विकराल तांडवनृत्य का प्रदर्शन किया और काम का दिन १० घण्टे से १२ और १२ से १४, यहां तक कि १८ घण्टे तक बढ़ा दिया। **माल्थस** ने, जिस पर आप भावुक मनोवृत्ति का दोष नहीं लगा सकते, अपनी एक पुस्तिका में, जो १८१५ के लगभग प्रकाशित हुई थी, कहा था कि यदि यह चीज़ जारी रही तो राष्ट्र के जीवन-स्रोत पर ही प्रहार होगा।[34] नव-आविष्कृत मशीनों के आम इस्तेमाल में आने के कुछ साल पहले, १७६५ के लगभग, '**उद्योग पर निबन्ध**' नाम की एक पुस्तिका इंगलैंड में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तिका का गुमनाम लेखक,* मज़दूर वर्ग का पक्का दुश्मन, काम का दिन बढा देने की ज़रूरत पर शब्दों की झड़ी लगा देता है। इस लक्ष्य की सफलता के लिए, अन्य साधनों के साथ, वह **श्रमालय**[35] क़ायम करने का सुझाव देता है, जो, उसी के कहने के अनुसार, "**आतंकालय**" होने चाहिये। और इन "**आतंकालयों**" के लिए यह गुमनाम लेखक काम के दिन की क्या अवधि निश्चित करता है? **बारह घण्टे!** ठीक उतना ही समय जिसके लिए आगे चलकर १८३२ में पूंजीपतियों, अर्थशास्त्रियों और मन्त्रियों ने कहा कि वह १२ साल की आयु से कम बालक के श्रम के लिए लागू ही नहीं, बल्कि आवश्यक काम का समय है।

अपनी श्रम-शक्ति बेचकर, जो वर्तमान व्यवस्था में वह करने के लिए मजबूर है, मजदूर अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति को इस्तेमाल करने के लिए सौंप देता है, पर एक तर्कसंगत सीमा के अन्दर। मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति क़ायम रखने के लिए

* संभवतः ज० कानिंगेम। – **सं०**

उसे बेचता है, न कि नष्ट करने के लिए; गोकि इस्तेमाल के दौरान वह स्वभावतः थोड़ी बहुत घिस या घट जाती है। अपनी श्रम-शक्ति को प्रतिदिन के या साप्ताहिक मूल्य पर बेचने के सम्बन्ध में यह बात निश्चित होती है कि एक दिन या एक सप्ताह में मजदूर की श्रम-शक्ति में दो दिन या दो सप्ताह की घिसन या छीजन नहीं आने दी जायेगी। एक १,००० पाउंड की मशीन को ले लीजिये। यदि यह मशीन १० साल में घिस जाती है तो वह उन मालों के मूल्यों में १०० पाउंड प्रतिवर्ष जोड़ देती है जिनके उत्पादन में उसके द्वारा सहायता पहुंचती है। यदि यह मशीन ५ साल में घिस जाती है तो वह २०० पाउंड प्रतिवर्ष का मूल्य जोड़ेगी, अर्थात् उसकी सालाना घिसन का मूल्य उस समय के विलोम अनुपात में होगा जिसमें वह खुद घिसकर खत्म हो जायेगी। और यही मजदूर और मशीन में अंतर प्रकट करता है। मशीन जिस अनुपात में इस्तेमाल की जाती है बिल्कुल उसी अनुपात में नहीं घिसती। इसके विपरीत, जितना केवल काम के सांख्यिक जोड़ द्वारा दिखाई देता है, उससे ज्यादा तेज़ी के साथ मनुष्य का ह्रास होता है।

काम के दिन को घटाकर उसे फिर पुरानी युक्तिसंगत सीमा में लाने की कोशिश कर, या—जहां क़ानून द्वारा काम के दिन की सीमा निर्धारित कराना संभव नहीं होता—पूंजीपति द्वारा मज़दूर से छीने हुए अतिरिक्त समय के अनुपात में ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक अनुपात में मजदूरी बढ़वाकर अतिरिक्त श्रम पर रोक लगाने की कोशिश कर, मज़दूर न केवल अपने, बल्कि अपनी संतान के प्रति अपना फ़र्ज़ अदा करते हैं। वे केवल पूंजी की ज़ालिमाना लूट की सीमा बांध देते हैं। समय के प्रसार में ही मानव का विकास होता है। जिस आदमी के पास अपनी इच्छानुसार उपयोग करने के लिए ज़रा भी स्वतन्त्र समय नहीं है, जिसका पूरा जीवन निद्रा, भोजन, आदि शारीरिक क्रियाओं में लगे समय को छोड़कर पूंजीपति के लिए मेहनत करने में खर्च होता है, वह आदमी लद्दू जानवर से भी बदतर है। वह पराई दौलत पैदा करने के लिए एक मशीन बन जाता है—शरीर से जर्जर और मानसिक रूप से पशुतुल्य। फिर भी आधुनिक उद्योग का सारा इतिहास बताता है कि यदि पूंजी पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो वह बेतहाशा और निर्ममता के साथ सारे मजदूर वर्ग को घोर पतन की अवस्था में पहुंचा देगी।

काम के दिन को बढ़ाकर पूंजीपति **अधिक मजदूरी** दे सकता है और फिर भी वह **श्रम का मूल्य** घटा सकता है, यदि मजदूरी में वृद्धि मजदूर से और

अधिक मात्रा में ऐंठे हुए श्रम से मेल नहीं खाती और फलतः श्रम-शक्ति का और तेज़ी के साथ ह्रास होता है। यह काम एक दूसरे तरीक़े से भी किया जा सकता है। अंग्रेज़ पूंजीवादी सांख्यिकीविद, उदाहरणार्थ, यह कहेंगे कि लंकाशायर में फ़ैक्टरी मज़दूरों के परिवारों की औसत मजदूरी में वृद्धि हुई है। पर वे यह बताना भूल जाते हैं कि परिवार के मुखिया के श्रम के अलावा अब उसकी स्त्री और यहां तक कि उसके तीन या चार बच्चे भी पूंजी रूपी जगन्नाथ के रथ के पहिये के नीचे पिसने लगे हैं, तिस पर भी कुल मजदूरी में बढ़ती पूरे परिवार से ऐंठे हुए कुल अतिरिक्त श्रम के अनुरूप नहीं होती।

काम के दिन की निश्चित सीमा होने पर भी, जैसी सीमा कि अब फ़ैक्टरी-क़ानून के मातहत उद्योग की सभी शाखाओं में निश्चित हो गयी है, महज़ **श्रम के मूल्य** के पुराने स्तर को क़ायम रखने के लिए मजदूरी बढ़ाना आवश्यक हो सकता है। श्रम की **तीव्रता** बढ़ाकर एक आदमी से उतनी ही शक्ति एक घण्टे में लगवाई जा सकती है जितनी वह पहले अमूमन् दो घण्टे में लगाता था। उन उद्योगों में, जिन पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू है, मशीनों की चाल तेज़ करके और ऐसी मशीनों की संख्या बढ़ाकर, जिनका निरीक्षण केवल एक ही आदमी कर सकता है, ऐसा कुछ हद तक किया गया है। यदि श्रम की तीव्रता में वृद्धि, या एक घण्टे में लगे हुए श्रम की मात्रा का किसी अनुकूल अनुपात में काम के दिन में घटती से सम्बन्ध होता, तो भी मजदूर फ़ायदे में रहता। यदि इस सीमा का उल्लंघन होता है, तो मज़दूर जो कुछ एक तरफ़ से हासिल करता है उसे वह दूसरी तरफ़ गंवा देता है और ऐसी हालत में १० घण्टे का श्रम उतना ही विनाशकारी हो सकता है जितना कि १२ का पहले था। श्रम की तीव्रता में बढ़ती के अनुकूल अपनी मजदूरी में वृद्धि के लिए संघर्ष द्वारा पूंजी की इस प्रवृत्ति को रोकने में मज़दूर केवल अपने ही श्रम के अवमूल्यन को और अपनी संतान की अवनति को रोकने की कोशिश करता है।

४) आप सब जानते हैं कि कुछ कारणों से, जिनका स्पष्टीकरण इस समय अनावश्यक है, पूंजीवादी उत्पादन किन्हीं आवर्त्ती चक्रों में से गुज़रता है। वह ठहराव, संचार, समृद्धि, अत्युत्पादन, संकट और मंदी की अवस्थाओं से गुज़रता हुआ चलता है। मालों के बाज़ार के दामों और मुनाफ़े की बाज़ार की दरों में इन अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तन होता है, जो कभी औसत के नीचे और कभी औसत के ऊपर उतरते-चढ़ते रहते हैं। पूरे चक्र पर विचार करने के बाद आप देखेंगे कि बाज़ार के दामों का एक विचलन दूसरे विचलन द्वारा पूरा होता रहता

है, और पूरे चक्र में औसतन मालों के बाज़ार के दाम मालों के मूल्यों द्वारा नियमित होते हैं। बाजार के दाम गिरने की तथा संकट और मंदी की अवस्थाओं में मज़दूर, अगर अपनी नौकरी से बिल्कुल हाथ नहीं धो बैठता, तो उसकी मजदूरी अवश्य घट जाती है। यदि मज़दूर चाहता है कि वह ठगा न जाये, तो बाज़ार के दामों में इस तरह की गिरावट होने पर भी उसे पूंजीपति के सामने यह सवाल उठाना होगा कि वास्तव में किस समानुपातिक मात्रा में उसकी मज़दूरी घटाने की ज़रूरत हुई है। समृद्धि के समय में, जब पूंजीपति अतिरिक्त मुनाफ़े कमाते जा रहे हैं, यदि मज़दूर मज़दूरी बढ़ाने के लिए संघर्ष नहीं करेगा, तो पूरे औद्योगिक चक्र का औसत लेते हुए, वह अपनी **औसत मज़दूरी**, या अपने श्रम का **मूल्य** भी नहीं प्राप्त करेगा। यह मांग करना मूर्खता की पराकाष्ठा होगी कि जब मज़दूर की मज़दूरी इस चक्र की अहितकर अवस्था में अनिवार्यतः नुक़सान गवारा करती है, तो इसकी समृद्धि के दिनों में मज़दूर क्षतिपूर्ति से वंचित रहे। आम तौर से पूर्ति और मांग के लगातार उतार-चढ़ाव के कारण बराबर बदलते हुए बाज़ार के दामों की क्षतिपूर्ति द्वारा ही सभी मालों के **मूल्य** व्यक्त होते हैं। मौजूदा व्यवस्था के आधार पर श्रम भी और मालों की तरह केवल एक माल है। अतः अपने मूल्य के अनुरूप औसत दाम लाने के लिए उसे भी उसी तरह की अस्थिरता की अवस्थाओं से गुज़रना होगा। यह बिल्कुल बेढंगी बात है कि एक ओर तो आप श्रम को माल मान लें और दूसरी ओर उसे उन नियमों से मुक्त कर देना चाहें जिनके द्वारा मालों के दामों का नियमन होता है। ग़ुलाम को स्थायी रूप से चिरकाल के लिए पोषण की सुविधा प्राप्त होती है, परन्तु उजरती मज़दूर को नहीं। उसे एक अवस्था में अपनी मज़दूरी में वृद्धि के लिए कोशिश करनी होगी, अगर और कुछ नहीं तो एक दूसरी अवस्था में अपनी मज़दूरी को घटती पूरी करने के लिए। यदि वह अपने को पूंजीपति की मर्ज़ी पर छोड़ दे तथा उसकी आज्ञाओं को एक उत्तम आर्थिक नियम मान बैठे, तो वह ग़ुलाम का संरक्षण पाये बिना ग़ुलाम की तमाम यातनाएं भोगेगा।

५) उन सब परिस्थितियों में जिन पर मैंने विचार किया है, और जिनकी संख्या १०० में ६६ है, आपने अनुभव किया होगा कि मज़दूरी बढ़वाने का संघर्ष केवल **पिछले** परिवर्तनों के पदचिह्नों पर चलता है, और वह उत्पादन की मात्रा, श्रम की उत्पादन-क्षमता, श्रम के मूल्य, मुद्रा के मूल्य, मज़दूरों से ऐंठे हुए श्रम की मात्रा और उसकी तीव्रता, और—पूर्ति और मांग के उतार-चढ़ाव पर आधारित और औद्योगिक चक्र की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप—बाज़ार के दामों के उतार-

चढ़ाव में हुए पुराने परिवर्तनों का फल है। संक्षेप में, वह पूंजी की पूर्व क्रिया के प्रति श्रम की प्रतिक्रिया है। मज़दूरी बढ़वाने के संघर्ष को यदि आप इन सब परिस्थितियों से अलग करके, केवल मज़दूरी में परिवर्तन ध्यान में रखते हुए और उन तमाम परिवर्तनों की उपेक्षा करके, जिनसे मज़दूरी में परिवर्तन उत्पन्न होता है, देखेंगे तो आप एक ग़लत पूर्वधारणा से आरम्भ करेंगे और ग़लत नतीजों पर पहुंचेंगे।

१४. पूंजी और श्रम का संघर्ष और उसके परिणाम

१) यह सिद्ध करने के बाद कि मज़दूरी घटाने के ख़िलाफ़ मज़दूरों का समय-समय पर प्रतिरोध और मज़दूरी बढ़वाने के लिए उनका समय-समय पर प्रयत्न मज़दूरी-व्यवस्था से अविभाज्य हैं और मालों में श्रम के समाविष्ट हो जाने से, और इसलिए दामों की आम गतिविधि के नियमन के उसूलों पर आश्रित होने के कारण ये प्रतिरोध और प्रयत्न उत्पन्न होते हैं; यह सिद्ध करने के बाद कि मज़दूरी की आम वृद्धि के कारण मुनाफ़े की आम दर में गिरावट आती है परन्तु मालों के औसत दामों या उनके मूल्यों पर उसका कोई असर नहीं होता; आख़िर में यह प्रश्न उठता है कि पूंजी और श्रम के इस अनवरत संघर्ष में किस हद तक श्रम के सफल होने की सम्भावना है?

मैं इसका सामान्यीकरण द्वारा उत्तर दे सकता हूं और यह कह सकता हूं कि और सब मालों की तरह श्रम का भी **बाज़ार का दाम**, अन्ततोगत्वा, अपने को श्रम के **मूल्य** के अनुकूल कर लेगा और हर प्रकार के उतार-चढ़ाव के बावजूद – चाहे मज़दूर कुछ भी करे – वह औसतन अपने श्रम का ही मूल्य प्राप्त करेगा, जो उसकी श्रम-शक्ति का ही मूल्य है और जो मज़दूर के पोषण और उसकी नस्ल के पुनर्जनन के लिए आवश्यक जीवनसाधक वस्तुओं के मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। जीवनसाधक वस्तुओं के इस मूल्य का नियमन अन्ततः उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा होता है।

लेकिन कुछ ऐसी ख़ास बातें हैं जो **श्रम-शक्ति के मूल्य** या **श्रम के मूल्य** को अन्य मालों के मूल्यों से पृथक् करती हैं। श्रम-शक्ति का मूल्य दो तत्त्वों से निर्मित होता है – एक सिर्फ़ शारीरिक, दूसरा ऐतिहासिक या सामाजिक। उसकी **निम्न सीमा शारीरिक** तत्त्व द्वारा निश्चित होती है, अर्थात् अपना जीवन तथा अपनी नस्ल का पुनर्जनन क़ायम रखने के लिए मज़दूर वर्ग को जीवित रहने और अपनी नस्ल बढ़ाने के वास्ते अनिवार्य रूप से आवश्यक जीवनसाधक वस्तुएं मिलनी चाहिए।

अतः इन अनिवार्य जीवनसाधक वस्तुओं का **मूल्य श्रम के मूल्य** की निम्न सीमा का निर्माण करता है। दूसरी ओर काम के दिन की अवधि भी एक अंतिम, गोकि बहुत ही लचीली, परिधि द्वारा सीमित है। उसकी चरम सीमा मज़दूर की शारीरिक शक्ति द्वारा निश्चित होती है। यदि मज़दूर की जीवन-शक्ति की हर रोज़ की क्षीणता एक निश्चित सीमा से अधिक होती है तो वह रोज़-रोज़ फिर से उसी तरह नहीं इस्तेमाल की जा सकती। तो भी, जैसा कि मैंने कहा है, यह सीमा बहुत ही लचीली है। अस्वस्थ और अल्पजीवी, जल्दी-जल्दी गुज़रनेवाली मज़दूर पीढ़ियां श्रम-बाज़ार को उसी प्रकार अच्छी तरह आपूरित कर सकती हैं जैसे कि स्वस्थ और दीर्घजीवी मज़दूर पीढ़ियों का अनुक्रम।

इस शुद्ध शारीरिक तत्त्व के अलावा हर देश में श्रम का मूल्य **परम्परागत जीवन-स्तर** द्वारा निश्चित होता है। वह केवल शारीरिक जीवन नहीं है, बल्कि उन सामाजिक अवस्थाओं से उत्पन्न हुई बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति है, जिनमें लोग पलते और रहते हैं। अंग्रेज़ों का जीवन-स्तर गिराकर आयरलैंड के निवासियों के जीवन-स्तर के अनुरूप किया जा सकता है और जर्मन किसानों का जीवन-स्तर लाटवियाई किसानों के जीवन-स्तर के अनुरूप। इस संबंध में ऐतिहासिक परम्परा और सामाजिक दस्तूर जो प्रभाव डालते हैं वह आप **मि० थार्नटन की पुस्तक 'अति जनसंख्या'** से समझ सकते हैं, जिसमें उन्होंने दिखाया है कि इंगलैंड के विभिन्न कृषि-प्रदेशों में आज तक भूदासत्व से मुक्त होने की न्यूनाधिक अनुकूल अवस्था के अनुसार किस प्रकार औसत मज़दूरी में न्यूनाधिक अंतर है।

श्रम के मूल्य में सम्मिलित हो जाने पर इस ऐतिहासिक या सामाजिक तत्त्व का विस्तार किया जा सकता है, उसे घटाया या बिल्कुल ही ख़त्म किया जा सकता है और इस तरह **शारीरिक सीमा** के अलावा और कुछ भी न रह जायेगा। जब फ़्रांसीसी धर्मविरोधियों के अतिक्रमण से — जैसा कि वह बूढ़ा टैक्सभक्षक तथा दायित्वहीन वेतनभोगियों का पक्षधर जार्ज रोज़ कहा करता था, — हमारे पवित्र धर्म की सुख-सुविधाओं की रक्षा के लिए **जैकोबिन-विरोधी युद्ध** लड़ा जा रहा था, तब सत्यनिष्ठ अंग्रेज फ़ार्मरों ने, जिनका एक पूर्वगत अध्याय में हमने बड़ी नर्मी से ज़िक्र किया है, खेत-मज़दूरों की मज़दूरी **इस शारीरिक न्यूनतम मात्रा** के भी नीचे घटा दी; और **ग़रीब क़ानूनों**[36] द्वारा मज़दूरों की नस्ल के शारीरिक प्रजनन के लिए आवश्यक साधनों की कमी की पूर्ति की गयी। उजरती मज़दूर को गुलाम बनाने और शेक्सपियर के स्वाभिमानी "योमैन" — अच्छे खाते-पीते क़िसान — को कंगाल बनाने का यह शानदार तरीक़ा था।

विभिन्न देशों या एक ही देश के विभिन्न ऐतिहासिक युगों में स्टैंडर्ड मजदूरियों या श्रम के मूल्यों की आपस में तुलना करने पर आप अनुभव करेंगे कि **श्रम का मूल्य** स्वतः स्थायी नहीं, बल्कि एक अस्थायी परिमाण है, अगर्चे यह मान भी लिया जाये कि और सब मालों के मूल्य स्थिर रहते हैं।

इसी तरह की एक और तुलना द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि **मुनाफ़े** की न सिर्फ़ **बाजार-दरें**, बल्कि उसकी **औसत दरें** भी बदलती हैं।

परन्तु जहां तक **मुनाफ़ों** का सवाल है ऐसा कोई नियम नहीं है, जो उनके **न्यूनतम स्तर** को निश्चित करे। हम नहीं कह सकते कि मुनाफ़ा घटने की अंतिम सीमा क्या है। उस सीमा को निर्धारित करने में हम क्यों असमर्थ हैं? इसलिए कि यद्यपि मजदूरी का **न्यूनतम स्तर** तो हम निश्चित कर सकते हैं, किन्तु उसका **अधिकतम स्तर** नहीं। हम केवल यही कह सकते हैं कि काम के दिन की सीमा निश्चित होने पर **मुनाफ़े का अधिकतम स्तर मजदूरी के शारीरिक न्यूनतम** स्तर के अनुरूप होता है; और मज़दूरी निश्चित होने पर **मुनाफ़े का अधिकतम** स्तर काम के दिन में ऐसी वृद्धि के अनुरूप होता है, जो मजदूर की शारीरिक शक्तियों को देखते हुए सम्भव है। अतएव मुनाफ़े का अधिकतम स्तर मजदूरी के शारीरिक न्यूनतम स्तर और काम के दिन के शारीरिक अधिकतम स्तर द्वारा सीमित हो जाता है। स्पष्ट है कि **मुनाफ़े की अधिकतम दर** की इन दो सीमाओं के बीच विभिन्नताओं का एक वृहद् सोपान-क्रम है। मुनाफ़े की वास्तविक मात्रा का निर्धारण केवल पूंजी और श्रम के अनवरत संघर्ष द्वारा होता है, जिसमें पूंजीपति मज़दूरी को बराबर शारीरिक न्यूनतम स्तर पर घटाने और काम के दिन को शारीरिक अधिकतम स्तर पर बढ़ाने की कोशिश में रहता है, और मजदूर सदा इसके विरोध में संघर्ष करता है।

मामला अंत में यह प्रश्न बन जाता है कि विपक्षियों में किसके पास कितनी ताक़त है।

२) जहां तक इंगलैंड में **काम के दिन की अवधि सीमित करने** का प्रश्न था वह, अन्य सभी देशों की तरह, **वैधानिक हस्तक्षेप** के बग़ैर कभी नहीं तय हो सका। मज़दूरों के लगातार दबाव के बिना यह हस्तक्षेप कभी भी न संभव होता। जो भी हो, पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच निजी समझौते द्वारा यह नतीजा कभी न हासिल होता। **आम राजनीतिक कारंवाई** की यह आवश्यकता ही इस बात का सबूत है कि अपनी शुद्ध आर्थिक शक्ति के प्रयोग में पूंजी का पल्ला भारी पड़ता है।

जहां तक **श्रम के मूल्य की सीमाओं** का सम्बन्ध है, उनका वास्तविक निर्धारण

हमेशा पूर्ति और मांग पर निर्भर होता है। मेरा मतलब पूंजी द्वारा श्रम की मांग और मज़दूरों द्वारा श्रम की पूर्ति से है। उपनिवेशों में पूर्ति और मांग का नियम मज़दूरों के हित में होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में इसी कारण मज़दूरी का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा है। वहां पूंजी लाख सिर पटकने पर भी, उजरती मज़दूरों के लगातार स्वाधीन और स्वावलंबी किसान बनते रहने के कारण, श्रम-बाज़ार को बार-बार ख़ाली होने से नहीं रोक सकती। अमरीकनों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिए उजरती मज़दूर की स्थिति केवल एक अल्पकालिक अवस्था है, जिसे वे थोड़े-बहुत दिनों में ज़रूर छोड़ देते हैं। इस औपनिवेशिक परिस्थिति को सुधारने के लिए पितृतुल्य ब्रिटिश सरकार ने कुछ समय से तथाकथित आधुनिक औपनिवेशिक सिद्धान्त का अनुसरण किया है, जिसके अनुसार उपनिवेशों की ज़मीन का दाम कृत्रिम तरीक़े से इतना अधिक बढ़ा दिया जाता है कि उजरती मज़दूर बहुत जल्द स्वतन्त्र किसान नहीं बन सकता।

पर आइये, अब उन पुराने सभ्य देशों पर विचार करें जिनमें पूंजी उत्पादन की पूरी पद्धति पर हावी रहती है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड में १८४९ से १८५९ तक के काल में खेत-मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि का प्रश्न लीजिये। इस वृद्धि का परिणाम क्या हुआ? फ़ार्मर, जिन्हें हमारे मित्र वेस्टन ऐसी राय देते, गेहूं का मूल्य नहीं बढ़ा सके। वे उसका बाज़ार का दाम तक नहीं बढ़ा सके। इसके विपरीत उन्हें अनाज के दामों की सस्ती बर्दाश्त करनी पड़ी। लेकिन इन ११ वर्षों में उन्होंने हर प्रकार की मशीनों का उपयोग किया, खेती में अधिक वैज्ञानिक तरीक़ों से काम लिया, खेती की ज़मीन के एक भाग को गोचर बना दिया, और अपनी खेती की भूमि तथा उसकी उत्पादन की मात्रा में बढ़ती की, और श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ाकर श्रम की मांग को घटानेवाले इन तथा अन्य उपायों द्वारा एक बार फिर कृषक आबादी को, आपेक्षिक रूप से, फ़ालतू बना दिया। यह एक आम तरीक़ा है जिसके अनुसार पुराने आबाद हुए देशों में, कभी धीरे-धीरे और कभी तेज़ी के साथ, मज़दूरी में बढ़ती के ख़िलाफ़ पूंजी की प्रतिक्रिया काम करती है। रिकार्डो ने ठीक ही कहा है कि श्रम के साथ मशीन की होड़ बराबर चलती रहती है और अक्सर मशीन का प्रयोग तभी हो पाता है जब श्रम का दाम एक ख़ास ऊंचाई पर पहुंच जाता है;[37] लेकिन मशीन का प्रयोग श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने का एकमात्र तरीक़ा नहीं है, और भी बहुत-से तरीक़े हैं। यही प्रगति जो साधारण श्रम को आपेक्षिक रूप से फ़ालतू बना देती है, दूसरी ओर कुशल श्रम को सहज बनाकर उसका मूल्य घटा देती है।

यही नियम एक दूसरे रूप में भी काम करता है। मज़दूरी की अपेक्षाकृत ऊंची दर के बावजूद श्रम की उत्पादन-क्षमता के विकास के साथ पूंजी का संचय त्वरित गति से होता है। अतः हम यहां इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं – जिस नतीजे पर **ऐडम स्मिथ** पहुंचे थे, गोकि उस समय आधुनिक उद्योग अपनी शिशु-अवस्था में ही था – कि पूंजी का त्वरित संचय मज़दूर के श्रम की मांग को बढ़ाकर मज़दूर का पलड़ा ज़रूर भारी कर देगा। उसी दृष्टिबिन्दु से कई समकालीन लेखकों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि पिछले २० वर्षों में आंग्ल पूंजी के इंगलैंड की आबादी से कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ने के बावजूद मज़दूरी में कोई बहुत अधिक वृद्धि नहीं हुई। लेकिन संचय में वृद्धि के साथ-साथ **पूंजी के संघटन में उत्तरोत्तर परिवर्तन** होता है। कुल पूंजी का वह भाग जो अचल पूंजी कहलाता है, जैसे मशीन, कच्चा माल और उत्पादन के हर प्रकार के साधन, पूंजी के दूसरे भाग, अर्थात् मज़दूरी या श्रम मोल लेने में लगी हुई पूंजी की अपेक्षा अधिक तेज़ी के साथ बढ़ता है। मि० बर्टन, रिकार्डो, सीसमांडी, प्रोफ़ेसर रिचर्ड जोन्स, प्रोफ़ेसर रैमजे, शेर्बूलिए, आदि ने इस नियम को कमोबेश सही रूप में पेश किया है।

यदि पूंजी के इन दो तत्त्वों का अनुपात शुरू में १:१ था तो उद्योग की प्रगति के साथ वह ५:१ हो जायेगा, इत्यादि, इत्यादि। यदि ६०० की कुल पूंजी में से ३०० औज़ारों, कच्चे माल, आदि में लगी है और ३०० मज़दूरी में, तो ३०० के बजाय ६०० मज़दूरों की मांग की उत्पत्ति के लिए कुल पूंजी का दुगना होना अपेक्षित है। पर यदि ६०० की पूंजी में से ५०० मशीनों, सामान, आदि में लगा है और केवल १०० मज़दूरी में, तो ३०० के बजाय ६०० मज़दूरों की मांग पैदा करने के लिए ६०० की पूंजी को ३,६०० हो जाना पड़ेगा। अतएव उद्योग की प्रगति के साथ श्रम की मांग पूंजी के संचय के साथ समगति से नहीं चल पाती। श्रम की मांग हालांकि अब भी बढ़ती रहेगी, किन्तु पूंजी की वृद्धि की तुलना में वह लगातार एक ह्रासमान अनुपात में बढ़ेगी।

ये चन्द बातें यह ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी हैं कि आधुनिक उद्योग की प्रगति मज़दूर के ख़िलाफ़ उत्तरोत्तर पूंजीपति के हित में पांसा पलटती रहती है, जिसके फलस्वरूप पूंजीवादी उत्पादन की आम प्रवृत्ति मज़दूरी के औसत स्तर को बढ़ाने के बजाय घटाने या **श्रम के मूल्य** को कमोबेश उसकी **न्यूनतम सीमा** पर पहुंचा देने की होती है। जब इस व्यवस्था में **चीज़ों की प्रवृत्ति** ही ऐसी है, तो क्या इसका मतलब यह है कि मज़दूर वर्ग को पूंजी के हमलों का मुक़ाबला करना बन्द कर देना चाहिए और मज़दूरों को यदा-कदा अपनी हालत, अस्थायी रूप

से ही नहीं, सुधारने का जो अवसर मिलता है उससे उन्हें फ़ायदा न उठाना चाहिए? यदि वे ऐसा करेंगे, तो निस्तार की आशाओं से वंचित, गये-गुज़रे इन्सानों की तरह पतन की चरम अवस्था में पहुंच जायेंगे। मेरे ख़्याल में मैं इस विषय पर काफ़ी प्रकाश डाल चुका हूं कि मजदूरी के स्तर के लिए मज़दूरों का संघर्ष मजूरी की सम्पूर्ण व्यवस्था से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित है, और १०० में से ६६ मामलों में मज़दूरी बढ़वाने के ये प्रयत्न केवल श्रम के मौजूदा मूल्य को क़ायम रखने के लिए मज़दूरों के प्रयत्न हैं, और पूंजीपति से अपने श्रम के दाम के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता मज़दूरों की अपने को माल की तरह बेच देने की मजबूरी में अन्तर्निहित है। यदि पूंजी के मुक़ाबले में अपने प्रतिदिन के संघर्ष में मज़दूर बुज़दिली के साथ घुटने टेक दें तो वे कोई बड़ा आन्दोलन छेड़ने के क़ाबिल न रहेंगे।

इसके साथ-साथ, मजूरी की व्यवस्था से जुड़ी हुई आम ग़ुलामी के अलावा, मज़दूर वर्ग को इन रोज़मर्रा के संघर्षों के अन्तिम कार्य-परिणाम को बढ़ा-चढ़ाकर न आंकना चाहिए। मज़दूरों को यह न भूलना चाहिए कि वे परिणामों से लड़ रहे हैं, न कि उन परिणामों के कारणों से; वे पतनशील गति को केवल विलम्बित कर रहे हैं, किन्तु उसका रुख़ नहीं बदल रहे हैं, वे उपशामक औषधि का प्रयोग कर रहे हैं, पर रोग को नष्ट नहीं कर रहे हैं। अतः मज़दूरों को पूंजी के निरंतर अतिक्रमण या बाज़ार के परिवर्तनों के कारण नित्य पैदा होनेवाले अनिवार्य छापेमार संघर्षों में फंसकर न रह जाना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था, उन सब मुसीबतों के बावजूद जो वह मज़दूरों पर ढाती है, साथ ही समाज के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक **भौतिक परिस्थितियों** और **सामाजिक रूपों** को उत्पन्न करती है। इसलिए इस **रूढ़िगत** मूलमंत्र – **"दिन के माक़ूल काम की माक़ूल मज़दूरी!"** के बजाय मजदूरों को अपने झंडे पर यह **क्रान्तिकारी** नारा लिख लेना चाहिए – **"मज़दूरी व्यवस्था का अन्त हो!"**

इस बहुत लम्बी और, मुझे भय है, आपको थका देनेवाली व्याख्या के बाद, जो विषय के प्रति कुछ न्याय करने के लिए मुझे देनी पड़ी, मैं नीचे लिखे प्रस्ताव पेश करके अपनी बात ख़त्म करूंगा:

पहला – मज़दूरी की दर में आम बढ़ती के कारण मुनाफ़े की आम दर गिरेगी, लेकिन आम तौर पर उसका मालों के दामों पर कोई असर न होगा।

दूसरा – पूंजीवादी उत्पादन की आम प्रवृत्ति मज़दूरी के औसत स्तर को ऊपर उठाने की नहीं, बल्कि नीचे गिराने की है।

तीसरा—ट्रेड यूनियनें पूंजी के हमलों के प्रतिरोध के केन्द्र के रूप में अच्छा काम करती हैं। वे अपनी शक्ति के अविवेकपूर्ण प्रयोग के कारण अंशतः असफल रहती हैं। उनके आम तौर से असफल होने का कारण यह है कि वे साथ-साथ मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए प्रयत्न करने के बजाय मजदूर वर्ग को अंतिम रूप से आज़ाद करने के लिए, अर्थात् मजूरी व्यवस्था का अंतिम रूप से उन्मूलन करने के लिए अपनी संगठित शक्ति लीवर के रूप में इस्तेमाल करने के बजाय अपने को मौजूदा व्यवस्था के दुष्परिणामों के खिलाफ़ छापामार संघर्ष तक सीमित रखती हैं।

कार्ल मार्क्स द्वारा १८६५ के मई के अन्त और २७ जून के बीच लिखित।

पहली बार १८९८ में अलग पुस्तिका के रूप में लन्दन में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

अस्थायी जनरल कौंसिल के डेलीगेटों के लिए निर्देश। विभिन्न प्रश्न[38]

१. अन्तर्राष्ट्रीय संघ का संगठन

अस्थायी जनरल कौंसिल सामान्यतया तथा कुल मिलाकर अस्थायी नियमावली में निरूपित **संगठन की योजना** को स्वीकृति देने की सिफ़ारिश करती है। इस योजना की परिशुद्धता तथा कार्रवाई की एकता को आंच पहुंचाये बिना उसे विभिन्न देशों में लागू करने की सम्भावना को दो वर्षों के अनुभव ने सिद्ध कर दिया है। हम सिफ़ारिश करते हैं कि केन्द्रीय परिषद का कार्यालय आगामी वर्ष लन्दन में ही रहे क्योंकि महाद्वीप में स्थिति परिवर्तन के लिए प्रतिकूल प्रतीत होती है।

केन्द्रीय परिषद के सदस्य निस्सन्देह कांग्रेस द्वारा निर्वाचित होंगे (अस्थायी नियमावली की धारा ५), उन्हें अपनी संख्या बढ़ाने का अधिकार होगा।

महासचिव कांग्रेस द्वारा एक वर्ष के लिए चुना जायेगा और केवल वही संघ का एकमात्र वेतनभोगी अधिकारी होगा। हमारा प्रस्ताव है कि उसका साप्ताहिक वेतन २ पौंड हो।

संघ के प्रत्येक सदस्य का एक समान वार्षिक चन्दा होगा **आधा पेनी** (शायद एक पेनी)। सदस्यता के कार्ड पर होनेवाला ख़र्चा अलग से देना होगा।

जहां हम संघ के सदस्यों का आह्वान करते हैं कि वे पारस्परिक सहायता सोसायटियां स्थापित करें तथा उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सूत्र में बांध दें, वहां हम इस प्रश्न पर (पारस्परिक सहायता सोसायटियों की स्थापना; संघ के सदस्यों के निराश्रित लोगों को नैतिक तथा भौतिक सहायता) पहल स्विस संगठन पर छोड़ देते हैं जिसने गत सितम्बर के सम्मेलन में सबसे पहले यह प्रस्ताव किया था।[39]

२. श्रम तथा पूंजी के बीच संघर्ष में संघ की सहायता से कार्यकलाप की अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्यबद्धता

(क) आम दृष्टिकोण से इस प्रश्न की परिधि में अन्तर्राष्ट्रीय संघ का पूरा कार्यकलाप आ जाता है जिसका लक्ष्य भिन्न-भिन्न देशों में मजदूर वर्गों की मुक्ति के लिए अब तक के असम्बद्ध कार्यकलापों को सूत्रबद्ध करना तथा उनका सामान्यीकरण करना है।

(ख) हड़तालों और तालाबन्दियों की हालत में देशी मजदूरों के ख़िलाफ़ एक साधन के रूप में विदेशी मजदूरों का दुरुपयोग करने के लिए हमेशा तैयार पूंजीपतियों की तिकड़मों का मुकाबला करना एक ऐसा काम है जिसे हमारे संघ ने अब तक सफलतापूर्वक पूरा किया है। संघ के महान उद्देश्यों में से एक यह है कि विभिन्न देशों के मजदूर मुक्ति की सेना में न सिर्फ़ भाइयों तथा साथियों की तरह **अनुभव करें**, वरन् इसी भावना से **काम भी करें**।

(ग) "कार्यकलाप की अन्तर्राष्ट्रीय एकता" के एक बड़े दृष्टान्त के रूप में हम सुझाव देते हैं कि **स्वयं मजदूर वर्ग तमाम देशों में मजदूर वर्गों की स्थिति की सांख्यिकीय जांच करें**। सफलता हासिल करने के लिए इस्तेमाल में आनेवाली सामग्री ज्ञात होनी चाहिए। इतना बड़ा काम शुरू कर मजदूर अपने भाग्य की बागडोर अपने हाथ में ले सकने की क्षमता सिद्ध कर देंगे। इसलिए हम प्रस्ताव करते हैं—

कि प्रत्येक बस्ती में, जहां हमारे संघ की शाखाएं मौजूद हैं, तुरन्त काम शुरू किया जाये तथा जांच की संलग्न योजना में बताये गये विभिन्न मुद्दों पर तथ्यात्मक सामग्री एकत्र की जाये।

कि कांग्रेस यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमरीका के तमाम मजदूरों को मजदूर वर्ग के बारे में सांख्यिकीय सामग्री एकत्र करने के लिए आमंत्रित करे; कि रिपोर्टों और तथ्यों को केन्द्रीय परिषद के पास भेजा जाये। कि केन्द्रीय परिषद उनका विशदीकरण कर एक आम रिपोर्ट बनाये तथा तथ्यात्मक सूचना को परिशिष्ट के रूप में नत्थी करे।

कि यह रिपोर्ट परिशिष्ट के साथ आगामी वार्षिक कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत की जाये और कांग्रेस की स्वीकृति की प्राप्ति के बाद उसे संघ के ख़र्च पर प्रकाशित किया जाये।

जांच की आम योजना जिसमें निस्सन्देह हर क्षेत्र में परिवर्तन किये जा सकते हैं

१. उद्योग का नाम।

२. काम पर लगे व्यक्तियों की आयु, वे स्त्री हैं या पुरुष।

३. काम पर लगे व्यक्तियों की संख्या।

४. वेतन तथा मज़दूरी – (क) प्रशिक्षार्थी; (ख) मज़दूरी दिन अथवा काम की मात्रा के हिसाब से; बिचौलियों द्वारा दी जाने वाली मज़दूरी का मान। औसत साप्ताहिक, वार्षिक मज़दूरी।

५. (क) कारख़ानों में काम के घंटे। (ख) छोटे मालिकों के पास और घर पर काम के घंटे – अगर काम इन भिन्न-भिन्न विधियों से होता है। (ग) रात का काम और दिन का काम।

६. भोजन का समय और मज़दूरों के साथ बर्ताव।

७. वर्कशाप का स्वरूप तथा श्रम की हालत: जगह की तंगी, दोषपूर्ण हवा-दारी, सूरज की रोशनी का अभाव, गैस की रोशनी का उपयोग। सफ़ाई, आदि।

८. व्यवसाय का स्वरूप।

९. श्रम का शारीरिक अवस्था पर प्रभाव।

१०. नैतिक अवस्था। शिक्षा।

११. उद्योग की स्थिति: क्या वह मौसमी रूप में काम करता है अथवा कमोबेश पूरे साल चलता है, क्या उसमें बहुत उतार-चढ़ाव आता है, क्या उसे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है, क्या वह मुख्यतया घरेलू अथवा विदेशी मंडी के लिए होता है, आदि।

३. कार्य-दिवस सीमित करना

एक प्रारम्भिक शर्त है **कार्य-दिवस सीमित करना**, जिसके बिना सुधार तथा मुक्ति के लिए आगे की सारी कोशिशें निश्चित रूप से विफल होंगी।

इसकी मज़दूर वर्ग को, जो प्रत्येक राष्ट्र का बहुत बड़ा भाग होता है, फिर से स्वस्थ और शारीरिक दृष्टि से सशक्त बनाने के लिए, उसके बौद्धिक विकास, सामाजिक संसर्ग, सामाजिक और राजनीतिक कार्यकलाप की सम्भावना मुहैया करने की ज़रूरत पड़ती है।

हम कार्य-दिवस की **क़ानूनी सीमा के रूप में आठ घंटे** के कार्य का प्रस्ताव पेश करते हैं। इस सीमा की संयुक्त राज्य अमरीका के सभी मेहनतकश लोग मांग कर रहे हैं; [40] कांग्रेस का निर्णय इसे संसार भर के मज़दूर वर्गों का आम मंच बना देगा।

महाद्वीप में सदस्यों की, जिनका फ़ैक्टरी-क़ानून का अनुभव अभी अपेक्षाकृत अल्पकालिक है, जानकारी के लिए हम यहां इतना और बता देना चाहते हैं कि यदि **दिन की अवधि** जिसमें काम के आठ घंटे होने चाहिए, नियत नहीं की गयी तो सारे क़ानूनी प्रतिबंध विफल हो जायेंगे तथा उन्हें पूंजी भंग कर देगी। इस समय की अवधि काम के आठ घंटों द्वारा तथा भोजन के लिए अतिरिक्त समय द्वारा नियत होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि भोजन के लिए बीच-बीच में दी जानेवाली छुट्टी **एक घंटे** के बराबर हो तो दिन की क़ानूनी अवधि ९ घंटे की होनी चाहिए जैसे सुबह के ७ बजे से शाम के ४ बजे तक अथवा सुबह के ८ बजे से शाम के ५ बजे तक। रात के काम की उन उद्योगों या उद्योगों की शाखाओं में अपवाद-स्वरूप ही इजाज़त दी जानी चाहिए, जो क़ानून द्वारा निर्दिष्ट हों। कोशिश यह होनी चाहिए कि रात्रिकालीन श्रम बिल्कुल न हो।

यह पैराग्राफ़ केवल वयस्कों—नर या नारी—के बारे में है, परन्तु स्त्रियों को **सारे रात्रिकालीन श्रम से**, वह चाहे कैसा ही हो, और ऐसे तमाम कामों से कड़ाई के साथ अलग रखा जाये जो कमनीय नारी शरीर के लिए हानिप्रद होते हैं अथवा जिनके कारण उनके शरीर पर ज़हरीली अथवा अन्य हानिकर सामग्रियों का प्रभाव पड़ता है। वयस्क व्यक्तियों से हमारा तात्पर्य ऐसे तमाम व्यक्तियों से है जिनकी आयु १८ वर्ष की हो चुकी है या जो इससे ज़्यादा है।

४. बच्चों तथा किशोरों का श्रम (नर और नारी दोनों)

हम बच्चों तथा किशोरों को—नर और नारी दोनों—सामाजिक उत्पादन के महान कार्य में लगाने की आधुनिक उद्योग की प्रवृत्ति को प्रगतिशील, दुरुस्त तथा न्यायोचित मानते हैं हालांकि पूंजी के अन्तर्गत इसे विकृत कर घृणित वस्तु बना दिया गया। समाज की विवेकसम्मत अवस्था में **हर बालक** को ९ वर्ष से ऊपर उसी प्रकार उत्पादक श्रमिक होना चाहिए जिस प्रकार किसी भी समर्थांग वयस्क को प्रकृति के आम नियम से, अर्थात् इस नियम से छूट नहीं दी जानी

चाहिए कि : भोजनप्राप्ति के लिए काम करना जरूरी है, और दिमाग से ही नहीं, वरन् हाथों से भी काम करना।

परन्तु हम फ़िलहाल मज़दूरों के परिवारों के बच्चों तथा किशोरों को—वे चाहे नर हों या नारी—लेकर विचार करेंगे। उन्हें **तीन समूहों** में बांटना होगा, जिनके साथ भिन्न-भिन्न रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए—पहला समह ६ साल से १२ साल तक, दूसरा समूह १३ साल से १५ साल तक तथा तीसरा समूह १६ और १७ साल। हमारा प्रस्ताव है कि किसी भी वर्कशाप में या घर पर काम के लिए पहले समूह के वास्ते **दो** घंटे, दूसरे समूह के लिए **चार** घंटे तथा तीसरे समूह के लिए छ घंटे क़ानूनी तौर पर नियत किये जायें। तीसरे समूह के लिए भोजन या आराम के लिए कम से कम एक घंटे की छुट्टी हो।

६ वर्ष की आयु से पहले प्राथमिक स्कूली शिक्षा लागू करना वांछनीय होगा, लेकिन यहां हम ऐसी सामाजिक प्रणाली की प्रवृत्तियों के विरुद्ध सबसे अपरिहार्य उपचारों की चर्चा कर रहे हैं, जो मेहनतकश इन्सान को पूंजी के संचय के औज़ार की दु:स्थिति में पहुंचा देती है तथा मां-बाप को अपनी आवश्यकताओं के कारण दास-स्वामी, अपने बच्चों का विक्रेता बना देती है। बच्चों तथा किशोरों के **अधिकार** की रक्षा की जानी चाहिए। वे स्वयं अपनी रक्षा करने के लिए कार्रवाई करने में असमर्थ हैं। अतः यह समाज का कर्तव्य है कि वह उनकी ओर से कार्रवाई करे।

यदि पूंजीपति वर्ग तथा उच्च वर्ग अपनी सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो यह उनका दोष है। इन वर्गों के विशेषाधिकारों का उपभोग करने के कारण बच्चे को उनके पूर्वाग्रहों का शिकार बनना पड़ता है।

मज़दूर वर्ग का मामला बिल्कुल भिन्न है। मज़दूर अपने कार्यकलाप में स्वतंत्र नहीं होता। बहुत सारे मामलों में तो उसमें इतना अज्ञान होता है कि वह अपने बच्चे के वास्तविक हित तथा मानव-विकास की सामान्य परिस्थितियों तक को नहीं समझ सकता। परन्तु मजदूर वर्ग का अधिक जागरूक भाग पूरी तरह समझता है कि उसके वर्ग का भविष्य और इस कारण मानवजाति का भविष्य पूरी तरह मजदूरों की उगती हुई पीढ़ी के लालन-पालन और शिक्षा पर निर्भर करता है। वह जानता है कि सर्वोपरि बाल और किशोर श्रमिकों को वर्तमान व्यवस्था के विनाशकारी प्रभाव से बचाया जाना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब **सामाजिक चेतना** को **सामाजिक शक्ति** में बदल दिया जायेगा और वर्तमान परिस्थितियों में यह कार्य **आम क़ानूनों** द्वारा, जिन्हें राज्य की शक्ति से लागू किया जाये, सम्पन्न

करने के अलावा और कोई तरीक़ा नहीं है। ऐसे क़ानूनों को लागू करने में मज़दूर वर्ग सरकारी सत्ता को मजबूत नहीं बनाता। इसके विपरीत वह इस समय अपने विरुद्ध इस्तेमाल होनेवाली उस सत्ता को अपने ही साधन में बदल देता है। वह एक आम क़ानूनी कार्रवाई द्वारा वह काम पूरा कर देता है जिसे वह अनगिनत अलग-थलग व्यक्तिगत प्रयासों से पूरा करने की निरर्थक चेष्टा करता है।

इस आधार बिन्दु से अग्रसर होते हुए हम घोषित करते हैं कि किसी भी मां-बाप या मालिक को बाल-श्रम का, यदि वह शिक्षा से जुड़ा हुआ न हो, उपयोग करने की इजाज़त नहीं मिलनी चाहिए।

शिक्षा से हमारा तात्पर्य तीन चीज़ों से है।

पहली, **मानसिक शिक्षा।**

दूसरी, **शारीरिक प्रशिक्षण,** जो स्कूलों में व्यायाम द्वारा या सैनिक अभ्यास द्वारा दिया जाता है।

तीसरी, **तकनीकी शिक्षा,** जो उत्पादन की तमाम प्रक्रियाओं के आम सिद्धान्त सिखाती है तथा साथ ही बच्चे और किशोर को तमाम व्यवसायों के प्राथमिक औजारों का व्यावहारिक उपयोग करना सिखाती है।

मानसिक, शारीरिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण का उत्तरोत्तर जटिल होनेवाला पाठ्यक्रम बाल तथा किशोर श्रमिकों के वर्गीकरण के अनुरूप होना चाहिए। तकनीकी स्कूलों पर आनेवाला ख़र्चा अंशतः उनके उत्पादों की बिक्री द्वारा पूरा किया जाना चाहिए।

पारिश्रमिक युक्त उत्पादक श्रम, मानसिक शिक्षा, शारीरिक व्यायाम तथा पोलिटेक्निकल प्रशिक्षण को समन्वित करने से मज़दूर वर्ग अभिजात तथा पूंजीपति वर्गों के स्तर से कहीं ऊपर उठ जायेगा।

निस्सन्देह ६ से १७ साल तक के सारे लोगों से रात को काम लेने तथा उन्हें स्वास्थ्य को नुक़सान पहुंचानेवाले सारे व्यवसायों में लगाने पर क़ानून द्वारा कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए।

५. सहकारी श्रम

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ का यह काम है कि वह **मज़दूर वर्गों के स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों** को ऐक्यबद्ध करे तथा उनको एक समान **प्रवृत्ति प्रदान** करे, न कि किसी भी तरह की जड़सूत्रवादी प्रणाली उनके सिर पर थोपे या उनको अंगीकार

करने का आदेश दे। इसलिए कांग्रेस को सहकारिता की कोई **विशेष प्रणाली** उद्घोषित नहीं करनी चाहिए बल्कि अपने को चन्द आम सिद्धान्तों के निरूपण तक सीमित रखना चाहिए।

(क) हम यह मानते हैं कि सहकारी आन्दोलन वर्ग वैरभाव पर आधारित वर्तमान समाज की रूपान्तरणकारी शक्तियों में से एक है। उसकी बहुत बड़ी विशेषता व्यावहारिक रूप से यह प्रदर्शित करना है कि **श्रम को** पूंजी के **मातहत बनानेवाली** वर्तमान प्रणाली का स्थान, जो दरिद्रीकरण करती है और निरंकुश है, **स्वतंत्र तथा एक समान उत्पादकों के संघ** की लोकतंत्रीय तथा कल्याणकारी प्रणाली ले सकती है।

(ख) परन्तु उन रूपों के बौनेपन के कारण, जिनका अलग-अलग उजरती दास अपने निजी प्रयत्नों द्वारा सृजन कर सकते हैं, सहकारी प्रणाली कभी पूंजी-वादी समाज का रूपान्तरण नहीं कर सकती। सामाजिक उत्पादन को मुक्त तथा सहकारी श्रम की एक बड़ी तथा सामंजस्यपूर्ण प्रणाली में बदलने के लिए **आम सामाजिक परिवर्तनों** की, **समाज की उन आम परिस्थितियों के परिवर्तनों** की जरूरत पड़ती है जिन्हें समाज की संगठित शक्तियों को, अर्थात् राजकीय सत्ता को, पूंजीपतियों तथा ज़मींदारों से छीन कर उसे स्वयं उत्पादकों के हाथों में सौंपे बिना कभी मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता।

(ग) हम मज़दूरों से सिफ़ारिश करते हैं कि वे **सहकारी व्यापार** के बजाय **सहकारी उत्पादन** को तरजीह दें। सहकारी व्यापार वर्तमान आर्थिक प्रणाली की केवल सतह को ही छूता है, जबकि सहकारी उत्पादन उसकी जड़ पर ही चोट करता है।

(घ) हम तमाम सहकारी सोसायटियों से सिफ़ारिश करते हैं कि वे उदाहरण और साथ ही शब्दों द्वारा, दूसरे शब्दों में नये उत्पादन-सहकारी सोसायटियों की स्थापना द्वारा, साथ ही अपनी शिक्षा के प्रसार द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अपनी संयुक्त आय के एक अंश को एक निधि में परिणत करें।

(ङ) सहकारी सोसायटियों का साधारण पूंजीवादी ज्वायंट स्टाक कम्पनियों (sociétés par actions) में अधःपतन रोकने के लिए काम करनेवाले सारे मज़दूरों को, वे चाहे शेयरहोल्डर हों या न हों, बराबर शेयर दिया जाना चाहिए। हम मात्र अस्थायी पग के रूप में यह सम्भावना मानने को तैयार हैं कि शेयरहोल्डरों को कुछ ब्याज मिलता रहे।

६. ट्रेड यूनियनें। उनका अतीत, वर्तमान तथा भविष्य

(**क**) उनका अतीत।

पूंजी संकेन्द्रित सामाजिक शक्ति है, जबकि मज़दूर के पास केवल अपनी श्रम-शक्ति होती है। इसलिए पूंजी तथा श्रम के बीच **क़रार** कभी बराबरी की शर्तों पर नहीं हो सकता, ऐसे समाज की दृष्टि से भी बराबर नहीं हो सकता जो अस्तित्व तथा श्रम के भौतिक साधनों को एक ओर तथा मौलिक उत्पादक शक्तियों को दूसरी ओर रखता है। मज़दूरों की एकमात्र सामाजिक शक्ति उनकी तादाद है। परन्तु तादाद की शक्ति को उनकी पृथकता भंग कर देती है। मज़दूरों की यह पृथकता **उनके मध्य अपरिहार्य प्रतियोगिता** द्वारा उत्पन्न होती तथा बरक़रार रखी जाती है।

ट्रेड यूनियनों का मूलतः आविर्भाव इस प्रतियोगिता को मिटाने या कम से कम इसे रोकने के लिए मजदूरों के **स्वतःस्फूर्त** प्रयत्नों से हुआ जिनका उद्देश्य क़रार की ऐसी शर्तें हासिल करना था जो उन्हें कम से कम मात्र दासों के स्तर से ऊपर उठा सकतीं। इसलिए ट्रेड यूनियनों का तात्कालिक लक्ष्य रोज़मर्रा की ज़रूरतों तक, पूंजी के निरन्तर आक्रमणों की राह में बाधा डालने के प्रयत्नों तक, दूसरे शब्दों में मजदूरी और श्रम के समय सम्बन्धी प्रश्नों तक सीमित रहा। ट्रेड यूनियनों का यह क्रियाकलाप न्यायोचित ही नहीं, वरन् आवश्यक है। इसका तब तक त्याग नहीं किया जा सकता जब तक उत्पादन की वर्तमान प्रणाली क़ायम रहेगी। इससे भी अधिक तमाम देशों में ट्रेड यूनियनों की स्थापना तथा एकजुटता द्वारा इस कार्यकलाप को विश्वव्यापी रूप दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर ट्रेड यूनियनें अनजाने ही मज़दूर वर्ग के लिए **संगठन-केन्द्र** उसी तरह स्थापित कर रही थीं जिस तरह मध्ययुगीन म्युनिसपलिटियों तथा कम्यूनों ने पूंजीपति वर्ग के लिए संगठन-केन्द्र स्थापित किये थे। यदि ट्रेड यूनियनों की पूंजी तथा श्रम के बीच छापामार लड़ाई के लिए ज़रूरत पड़ती है तो वे **संगठित शक्ति के रूप में उजरती श्रम तथा पूंजी के शासन की प्रणाली को ख़त्म करने के लिए और भी महत्वपूर्ण हैं।**

(**ख**) उनका वर्तमान।

पूंजी के विरुद्ध स्थानीय तथा तात्कालिक संघर्षों में विशिष्ट रूप से व्यस्त रहने के कारण ट्रेड यूनियनें उजरती दासता की प्रणाली के विरुद्ध संघर्ष करने

की अपनी शक्ति को अभी तक स्वयं नहीं पहचान पायी हैं। इसलिए उन्होंने अपने को आम सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों से बहुत दूर रखा है। परन्तु इधर उनमें अपने महान ऐतिहासिक मिशन की कुछ चेतना उत्पन्न होती प्रतीत होती है; इसका प्रमाण, उदाहरण के लिए, इंगलैंड में हाल के राजनीतिक आन्दोलन में उनकी शिरक़त,[41] संयुक्त राज्य अमरीका में अपने क्रियाकलाप के बारे में व्यापक दृष्टिकोण[42] तथा शेफ़ील्ड में ट्रेड यूनियनों के डेलीगेटों के हाल के विशाल सम्मेलन[43] में पास किया गया निम्नलिखित प्रस्ताव है:

"यह सम्मेलन तमाम देशों के मज़दूरों को भाईचारे के एक सूत्र में बांधने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ के प्रयत्नों की क़द्र करते हुए यहां प्रतिनिधित्वप्राप्त तमाम सोसायटियों से इस संघ के साथ सम्बद्ध होने की आग्रहपूर्वक सिफ़ारिश करता है, इसे वह पूरी मेहनतकश जनता की प्रगति तथा समृद्धि के लिए महत्वपूर्ण मानता है।"

(ग) उनका भविष्य।

उनके प्राथमिक उद्देश्य कुछ भी हों उन्हें अब मज़दूर वर्ग की **पूर्ण मुक्ति** के व्यापक हितार्थ उसके संगठनकारी केन्द्रों के रूप में सचेत रूप में कार्य करना सीखना चाहिए। उन्हें इस दिशा की ओर उन्मुख प्रत्येक सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए। अपने को पूरे मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधि मानते हुए और उसके हितों की वकालत करते हुए वे सोसायटी से बाहर के लोगों को अपनी क़तारों में शामिल करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हैं। उन्हें सबसे कम पारिश्रमिक वाले व्यवसायों के, उदाहरण के लिए खेत-मज़दूरों के, जिन्हें असाधारण परिस्थितियों ने असहाय बना दिया, हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। उन्हें पूरे संसार के सामने यह प्रदर्शित करना चाहिए कि उनके प्रयत्न संकीर्ण तथा स्वार्थपूर्ण नहीं हैं अपितु उनका लक्ष्य करोड़ों पददलित लोगों को मुक्ति दिलाना है।

७. प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर-प्रणाली

(क) कर-प्रणाली के रूप में कोई भी संशोधन श्रम तथा पूंजी के बीच सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं ला सकते।

(ख) फिर भी यदि कर-प्रणाली के दो रूपों में से कोई चुनना हो तो हम **अप्रत्यक्ष करों की पूर्ण समाप्ति** तथा **प्रत्यक्ष करों के आम प्रतिस्थापन** की सिफ़ारिश करते हैं।

चूंकि अप्रत्यक्ष कर माल की क़ीमतें बढ़ाते हैं, इसलिए उन क़ीमतों में व्यापारी अप्रत्यक्ष करों की राशि ही नहीं, वरन् उनके भुगतान के लिए अदा की जानेवाली पूंजी में ब्याज तथा मुनाफ़ा भी जोड़ देते हैं।

चूंकि अप्रत्यक्ष कर व्यक्ति से वह रक़म छुपाता है जो वह राज्य को अदा करता है, जबकि प्रत्यक्ष कर अप्रच्छन्न होता है, खुले रूप में दिया जाता है तथा वह अज्ञानी व्यक्ति को भी भ्रम में नहीं डालता। इसलिए प्रत्यक्ष कर-प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति को सरकार पर नियंत्रण करने के लिए प्रेरित करती है जबकि अप्रत्यक्ष कर-प्रणाली स्वशासन की दिशा में सारी प्रवृत्तियां नष्ट कर देती है।

८. अन्तर्राष्ट्रीय साख

पहलक़दमी फ़ांसीसियों के लिए छोड़ दी जाये।

९. पोलिश प्रश्न

(क) यूरोप के मजदूर यह प्रश्न क्यों उठाते हैं? सबसे पहले इसलिए कि पूंजीवादी लेखक तथा आन्दोलनकारी उसपर ख़ामोश रहने का षड्यंत्र रचते हैं हालांकि वे महाद्वीप में, यहां तक कि आयरलैंड में भी सब तरह की जातियों को संरक्षण देते हैं। यह ख़ामोशी क्यों? इसलिए कि अभिजात और पूंजीपति दोनों काली एशियाई शक्ति को, जो पृष्ठभूमि में खड़ी है, मजदूर वर्ग के आन्दोलन की बढ़ती लहर के विरुद्ध आख़िरी साधन के रूप में देखते हैं। इस शक्ति को केवल पोलैंड की जनवादी आधार पर पुनर्स्थापना के द्वारा ही वास्तविक रूप में कुचला जा सकता है।

(ख) मध्य यूरोप और विशेष रूप से जर्मनी में इस समय परिवर्तित स्थिति में जनवादी पोलैंड का अस्तित्व हासिल करना पहले से कहीं ज्यादा आवश्यक है। उसके बिना जर्मनी पुनीत संघ[44] की अग्रिम चौकी बन जायेगा और उसके होने पर वह जनतंत्रीय फ़्रांस का सहयोगी बन जायेगा। मजदूर आन्दोलन को तब तक निरन्तर रोका, परास्त तथा अवरुद्ध किया जाता रहेगा जब तक यह महत्वपूर्ण यूरोपीय प्रश्न तय नहीं हो जाता।

(ग) इस मामले में पहलक़दमी करना विशेष रूप से जर्मन मजदूर वर्ग की ज़िम्मेवारी है क्योंकि जर्मनी पोलैंड का विभाजन करनेवालों में से एक है।

१०. सेनाएं

(क) बहुत बड़ी स्थायी सेनाओं का **उत्पादन** पर पड़नेवाले हानिकर प्रभाव का सब तरह के नामों वाली पूंजीवादी कांग्रेसों – शान्ति कांग्रेसों, आर्थिक कांग्रेसों, सांख्यिकीय कांग्रेसों, परोपकारी कांग्रेसों, समाजशास्त्रीय कांग्रेसों – में पर्याप्त रूप से पर्दाफ़ाश किया जा चुका है। इसलिए हम इस मुद्दे पर विस्तारपूर्वक बात करना सर्वथा अनावश्यक मानते हैं।

(ख) हम जनता की आम हथियारबन्दी और हथियारों के उपयोग के लिए उसे आम शिक्षा देने का प्रस्ताव करते हैं।

(ग) हम छोटी स्थायी सेनाओं को मिलिशिया के अफ़सरों के लिए विद्यालय के रूप में इस्तेमाल करना एक अस्थायी आवश्यकता मानते हैं, प्रत्येक पुरुष नागरिक को इन सेनाओं में अत्यन्त सीमित समय के लिए काम करना होगा।

११. धर्म का प्रश्न

पहलक़दमी फ़्रांसीसियों के लिए छोड़ दी जाये।

कार्ल मार्क्स द्वारा अगस्त १८६६ के अन्त में लिखित। अंग्रेज़ी से अनूदित।

«*The International Courier*» अख़बार के अंक ६–७ (२० फ़रवरी) तथा अंक ८–१० (१३ मार्च १८६७) में, «*Le Courrier international*» अख़बार के अंक १० तथा ११ में (९ और १६ मार्च १८६७) और साथ ही «*Der Vorbote*» पत्रिका के अंक १० तथा ११ में (अक्तूबर और नवम्बर १८६६) प्रकाशित।

कार्ल मार्क्स

'पूंजी' के प्रथम खण्ड के पहले जर्मन संस्करण की भूमिका[45]

यह रचना, जिसका प्रथम खण्ड मैं अब पाठकों के सामने पेश कर रहा हूं, १८५९ में प्रकाशित मेरी पुस्तिका *«Zur Kritik der Politischen Oekonomie»* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') की ही एक अगली कड़ी है। इस काम के पहले हिस्से और उसकी बाद की कड़ी के बीच समय का जो इतना बड़ा अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण अनेक वर्षों तक मेरी बीमारी है, जिससे मेरे काम में बार-बार बाधा पड़ती रही।

उपरोक्त रचना का सारतत्त्व इस खण्ड के पहले तीन अध्यायों में दे दिया गया है।[46] यह केवल संदर्भ और पूर्णता की दृष्टि से ही नहीं किया गया है। विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण सुधारा गया है। उस किताब में बहुत-सी बातों की तरफ़ इशारा भर किया गया था, पर इस पुस्तक में, जहां तक परिस्थितियों ने इसकी इजाज़त दी है, उन पर अधिक पूर्णता के साथ विचार किया गया है। इसके विपरीत, उस किताब में जिन बातों पर पूर्णता के साथ विचार किया गया था, इस ग्रंथ में उनको छुआ भर गया है। मूल्य और मुद्रा के सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बन्धित हिस्से अब अलबत्ता बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं। किन्तु जिस पाठक ने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' को पढ़ा है, वह पायेगा कि पहले अध्याय के फ़ुटनोटों में इन सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी नयी सामग्री का हवाला दिया गया है।

यह नियम सभी विज्ञानों पर लागू होता है कि विषय-प्रवेश सदा कठिन होता है। इसलिए पहले अध्याय को और विशेषकर उस अंश को, जिसमें माल का विश्लेषण किया गया है, समझने में सबसे अधिक कठिनाई होगी। उस हिस्से को, जिसमें मूल्य के सार तथा मूल्य के परिमाण की विशेष रूप से चर्चा की गयी

है, मैंने जहां तक सम्भव हुआ है सरल बना दिया है।* मूल्य-रूप, जिसकी पूरी तरह विकसित शक्ल मुद्रा-रूप है, बहुत ही सीधी और सरल चीज़ है। फिर भी मानव-मस्तिष्क को उसकी तह तक पहुंचने का प्रयत्न करते हुए २,००० वर्ष से ज़्यादा हो गये हैं, पर बेकार। लेकिन, दूसरी तरफ़, उससे कहीं अधिक जटिल और संश्लिष्ट रूपों का विश्लेषण करने में लोग सफलता के कम से कम काफ़ी नज़दीक पहुंच गये हैं। इसका क्या कारण है? यही कि एक सजीव इकाई के रूप में शरीर का अध्ययन करना उस शरीर के जीवकोषों के अध्ययन से ज़्यादा आसान होता है। इसके अलावा, आर्थिक रूपों का विश्लेषण करने में न तो सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से कोई मदद मिल सकती है और न ही रासायनिक अभिकर्मकों से। दोनों का स्थान विविक्ति की शक्ति को लेना होगा। लेकिन पूंजीवादी समाज में श्रम की पैदावार का माल-रूप – या माल का मूल्य-रूप – आर्थिक जीवकोष-रूप होता है। सतही नजर रखनेवाले पाठक को लगेगा कि इन रूपों का विश्लेषण करना बहुत ज़्यादा बारीकियों में जाना है। बेशक, यह बारीकियों में जाना है पर ये बारीकियां उन्हीं जैसी हैं जिनका सूक्ष्म शरीररचनाविज्ञान में विवेचन हुआ है।

अतएव, मूल्य-रूप वाले एक हिस्से को छोड़कर इस पुस्तक पर दुरूह होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। पर जाहिर है, मैं ऐसे पाठक को मानकर चलता हूं, जो एक नयी चीज़ सीखने को और इसलिये ख़ुद अपने दिमाग़ से सोचने को तैयार है।

---

*यह इसलिये और भी आवश्यक था कि शुल्ज़े-डेलिच के मत का खण्डन करने के लिये लिखी गयी फ़र्दीनांद लासाल की रचना के उस हिस्से में भी, जिसमें वह इन विषयों की मेरी व्याख्या का "बौद्धिक सारतत्त्व" देने का दावा करते हैं, महत्वपूर्ण ग़लतियां मौजूद हैं।[47] यदि फ़र्दीनांद लासाल ने अपनी आर्थिक रचनाओं की समस्त सामान्य सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं, जैसे कि पूंजी के ऐतिहासिक स्वरूप के तथा उत्पादन की अवस्थाओं और उत्पादन-प्रणाली के बीच के संबंध के बारे में प्रस्थापनाएं, इत्यादि, और यहां तक कि वह शब्दावली भी, जिसे मैंने रचा है, मेरी रचनाओं से आभार स्वीकार किये बिना ही अक्षरश: उठा ली हैं, तो संभवत: उन्होंने प्रचार के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। इन प्रस्थापनाओं का उन्होंने जिस तरह विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और उनको जिस तरह लागू किया है, बेशक मैं यहां उसका जिक्र नहीं कर रहा हूं। उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। (**मार्क्स का नोट।**)

भौतिकविज्ञानी या तो भौतिक घटनाओं का उस समय पर्यवेक्षण करता है, जब वे अपने सबसे प्रत्यक्ष रूप में होती हैं और जब वे विघ्नकारी प्रभावों से अधिकतम मुक्त होती हैं, या वह, जहां कहीं सम्भव होता है, ऐसी परिस्थितियों में प्रयोग करके देखता है, जिनसे घटना का शुद्ध रूप में घटित होना सुनिश्चित होता है। इस रचना में मुझे उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति और इस पद्धति से सम्बद्ध उत्पादन और विनिमय की परिस्थितियों का अध्ययन करना है। अभी तक इस उत्पादन-पद्धति की क्लासिकीय भूमि इंगलैंड है। यही कारण है कि अपने सैद्धान्तिक विचारों का प्रतिपादन करते हुए मैंने इंगलैंड को मुख्य उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया है। किन्तु यदि जर्मन पाठक इंगलैंड के औद्योगिक तथा खेतिहर मज़दूरों की हालत को देखकर अपने कंधे झटक दे या बड़े आशावादी ढंग से अपने दिल को यह दिलासा दे कि ख़ैर जर्मनी में कम से कम इतनी ख़राब हालत नहीं है, तो मुझे उससे साफ़-साफ़ कह देना पड़ेगा कि De te fabula narratur! [दर्पण में यह आप ही की सूरत है! – हारेस।]

असल में सवाल यह नहीं है कि पूंजीवादी उत्पादन के स्वाभाविक नियमों के परिणामस्वरूप जो सामाजिक विरोध पैदा होते हैं, वे बहुत या कम बढ़े हैं। सवाल यहां ख़ुद इन नियमों का और इन प्रवृत्तियों का है, जो कठोर आवश्यकता के साथ कुछ अनिवार्य नतीजे पैदा कर रही हैं। औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश कम विकसित देश के सामने केवल उसके भविष्य का चित्र अंकित कर देता है।

लेकिन इसके अलावा एक बात और भी है। जर्मन लोगों के यहां जहां-जहां पूंजीवादी उत्पादन पूरी तरह देशी चीज़ बन गया है (उदाहरण के लिये, उन कारख़ानों में, जिनको सचमुच फ़ैक्टरियां कहा जा सकता है), वहां हालत इंगलैंड से कहीं ज्यादा ख़राब है, क्योंकि वहां फ़ैक्टरी-क़ानून नहीं हैं। बाक़ी तमाम क्षेत्रों में, यूरोपीय के पश्चिमी भाग के अन्य सब देशों की तरह, हमें न सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन के विकास के कष्ट ही सहन करने पड़ रहे हैं, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से पैदा होनेवाली तकलीफ़ें भी झेलनी पड़ रही हैं। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ विरासत में मिली हुई बुराइयों की बड़ी तादाद भी हमारे ऊपर सितम ढा रही है। ये बुराइयां उत्पादन की प्राचीन पद्धतियों और उनसे सम्बन्धित अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक असंगतियों के अभी तक बचे रहने के फलस्वरूप पैदा होती हैं। हम जो जीवित है उससे ही नहीं बल्कि जो मृत है उससे भी पीड़ित हैं। Le mort saisit le vif! [मृत जीवित को अपने बाहुपाश में जकड़े हुए है!]

इंगलैंड की तुलना में जर्मनी और बाक़ी पश्चिमी यूरोप में सामाजिक आंकड़े बहुत ही ख़राब ढंग से इकट्ठा किये जाते हैं। लेकिन वे नक़ाब को इतना ज़रूर उठा देते हैं कि उसके पीछे छिपे हुए मेदूसा के ख़ौफ़नाक चेहरे की हमें एक झलक मिल जाती है। यदि इंगलैंड की तरह हमारी सरकारें और संसदें भी समय-समय पर आर्थिक हालत की जांच करने के लिये आयोग नियुक्त करतीं, यदि सत्य का पता लगाने के लिये इन आयोगों के हाथ में भी उतने ही पूर्ण अधिकार होते और यदि इस काम के लिये हमारे देशों में भी इंगलैंड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों, सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टें तैयार करनेवाले अंग्रेज़ी डाक्टरों और स्त्रियों तथा बच्चों के शोषण और घरों तथा खाद्य-पदार्थों की स्थिति की जांच करनेवाले आयोगों के सदस्यों जैसे योग्य और निष्पक्ष तथा मुलाहिज़े-मुरौवत से बरी लोगों को पाना सम्भव होता, तो हम अपने घर की हालत देखकर भयभीत हो उठते। पर्सियस ने एक जादू की टोपी पहन ली थी, ताकि वह जिन दानवों का शिकार करने के लिये निकला था, वे उसे देख न पायें। हमने अपनी आंखें और कान जादू की टोपी से इसलिये ढंक लिये हैं कि हम यह सोचकर अपना दिल ख़ुश कर सकें कि दुनिया में दानव हैं ही नहीं।

इस मामले में अपने को धोखा नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार अठारहवीं सदी में अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध ने यूरोपीय पूंजीपति वर्ग को जागृत करने के लिये घंटा बजाया था, उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में अमरीका के गृहयुद्ध ने यूरोप के मज़दूर वर्ग के जागरण का घंटा बजाया है। इंगलैंड में सामाजिक विघटन को बढ़ते हुए कोई भी देख सकता है। जब वह एक ख़ास बिन्दु पर पहुंच जायेगा, तो उसकी यूरोपीय महाद्वीप में अनिवार्य रूप से प्रतिक्रिया होगी। वहां ख़ुद मज़दूर वर्ग के विकास की अवस्था के अनुरूप यह विघटन अधिक पाशविक या अधिक मानवीय रूप धारण करेगा। इसलिये, अधिक ऊंचे उद्देश्यों को यदि अलग रख दिया जाये, तो भी इस समय जो वर्ग शासक वर्ग हैं, उनके अपने ही अति-महत्त्वपूर्ण स्वार्थ यह तक़ाज़ा कर रहे हैं कि मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र विकास के रास्ते से क़ानूनी ढंग से जितनी रुकावटें हटायी जा सकती हैं, वे फ़ौरन हटा दी जायें। वैसे तो इसी कारण से मैंने इस ग्रंथ में इंगलैंड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों के इतिहास, उनके विस्तृत वर्णन तथा उनके परिणामों को इतना अधिक स्थान दिया है। हरेक क़ौम दूसरी क़ौमों से सीख सकती है और उसे सीखना चाहिये। और जब कोई समाज अपनी गति के स्वाभाविक नियमों का पता लगाने के लिये सही रास्ते पर चल पड़ता है, – और इस रचना का अन्तिम उद्देश्य आधुनिक समाज

की गति के आर्थिक नियम को खोलकर रख देना ही है,—तब भी विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं को वह न तो छलांग मारकर पार कर सकता है और न ही क़ानून बनाकर उन्हें रद्द कर सकता है। लेकिन वह प्रसव की पीड़ा को कम कर सकता है और उसकी अवधि को घटा सकता है।

एक सम्भव ग़लतफ़हमी से बचने के लिये दो शब्द कह दिये जायें। मैंने पूंजीपति और ज़मींदार को बहुत सुहावने रंगों में कदापि चित्रित नहीं किया है। लेकिन यहां व्यक्तियों की चर्चा केवल उसी हद तक की गयी है, जिस हद तक कि वे किन्हीं आर्थिक प्रवर्गों के साकार रूप या किन्हीं ख़ास वर्गीय सम्बन्धों और वर्गीय हितों के मूर्त रूप बन गये हैं। मेरे दृष्टिकोण के अनुसार समाज की आर्थिक विरचना का विकास इतिहास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है; इसलिये और किसी भी दृष्टिकोण की अपेक्षा मेरा दृष्टिकोण व्यक्ति पर उन सम्बन्धों की कम ज़िम्मेदारी डाल सकता है, जिनका वह सामाजिक दृष्टि से सदा दास बना रहता है, भले ही उसने मनोगत दृष्टि से अपने को उनसे चाहे जितना ऊपर उठा लिया हो।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्र वैज्ञानिक खोज को केवल अन्य सभी क्षेत्रों में सामने आनेवाले शत्रुओं का ही सामना नहीं करना पड़ता। यहां उसे जिस विशेष प्रकार की सामग्री की छान-बीन करनी पड़ती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि मानव-हृदय के सबसे हिंसक, नीच और घृणित आवेग—निजी स्वार्थ की राक्षसी प्रवृत्तियां—उसके शत्रुओं के रूप में मैदान में उतर पड़ते हैं। उदाहरण के लिये इंगलैंड के इस्टेब्लिश्ड चर्च[48] की यदि ३९ में से ३८ धाराओं पर भी हमला हो, तो वह उसे माफ़ कर सकता है, लेकिन उसकी आमदनी के ३९ वें हिस्से पर चोट होने पर वह ऐसा नहीं करेगा। आजकल मौजूदा सम्पत्ति-सम्बन्धों की आलोचना के मुक़ाबले में तो ख़ुद अनीश्वरवाद भी culpa levis (क्षम्य पाप) है। लेकिन यहां भी स्पष्ट रूप से प्रगति हुई है। मैं, मिसाल के लिये, यहां उस नीली पुस्तक का हवाला देता हूं, जो पिछले चन्द हफ़्तों के अंदर ही निकली है। उसका नाम है «*Correspondence with Her Majesty's Missions Abroad, regarding Industrial Questions and Trades Unions*». इस प्रकाशन में परराष्ट्रों में तैनात अंग्रेज़ महारानी के प्रतिनिधियों ने यह साफ़-साफ़ कहा है कि जर्मनी में, फ्रांस में—संक्षेप में कहा जाये, तो यूरोपीय महाद्वीप के सभी सभ्य देशों में—पूंजी और श्रम के मौजूदा सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन उतना ही प्रत्यक्ष और अनिवार्य है जितना इंगलैंड में है। इसके साथ-साथ,

अटलाण्टिक महासागर के उस पार, संयुक्त राज्य अमरीका के उप-राष्ट्रपति मि० वेड ने सार्वजनिक सभा में ऐलान किया है कि दास-प्रथा का अन्त कर देने के बाद अब अगला काम पूंजी के और भूमि पर स्वामित्व के सम्बन्धों को मौलिक रूप से बदल देना है। ये हैं युग के लक्षण, जिन्हें न तो सम्राटों के लाल और न पादरियों के काले चोगे छिपा सकते हैं। उनका यह अर्थ नहीं है कि कल कोई अलौकिक चमत्कार हो जायेगा। उनसे यह प्रकट होता है कि खुद शासक वर्गों के भीतर अब यह पूर्वाभास उत्पन्न होने लगा है कि मौजूदा समाज कोई ठोस स्फटिक नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा संघटन है, जो बदल सकता है और बराबर बदल रहा है।

इस रचना के दूसरे खण्ड में पूंजी के परिचलन की प्रक्रिया का (दूसरी पुस्तक) और पूंजी अपने विकास के दौरान जो विविध रूप धारण करती है, उनका (तीसरी पुस्तक) विवेचन किया जायेगा और तीसरे तथा अन्तिम खण्ड (चौथी पुस्तक) में आर्थिक सिद्धांतों के इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा।

मैं वैज्ञानिक आलोचना पर आधारित प्रत्येक मत का स्वागत करता हूं। जहां तक तथाकथित लोकमत के पूर्वाग्रहों का सम्बन्ध है, जिसके लिये मैंने कभी कोई रिआयत नहीं की, पहले की तरह आज भी उस महान फ्लोरेंसवासी का यह सिद्धान्त ही मेरा भी सिद्धांत है:

Segui il tuo corso, e lascia dir le genti! *

कार्ल मार्क्स

लन्दन, २५ जुलाई १८६७

पहली बार K. Marx. *«Das Kapital. Kritik der politischen Oekonomie»*. Erster Band. Hamburg, 1867, में प्रकाशित।

अंग्रेजी से अनूदित।

---

* तुम अपनी राह चलते जाओ, लोग कुछ भी कहें, कहने दो! (**दान्ते**, 'दिव्य कामेडी') – **सं०**

कार्ल मार्क्स

'पूंजी' के पहले खण्ड के १८७२ के दूसरे जर्मन संस्करण का परिशिष्ट

मुझे, सबसे पहले, प्रथम संस्करण के पाठकों को यह बताना चाहिये कि दूसरे संस्करण में क्या-क्या परिवर्तन किये गये हैं। इस पर पहली नजर डालते ही एक तो यह बात साफ़ हो जाती है कि पुस्तक की व्यवस्था अब अधिक सुस्पष्ट हो गयी है। जो नये फ़ुटनोट जोड़े गये हैं, उनके आगे हर जगह लिख दिया गया है कि वे दूसरे संस्करण के फ़ुटनोट हैं। मूल पाठ के बारे में निम्नलिखित बातें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

पहले अध्याय के अनुभाग १ में उन समीकरणों के विश्लेषण से, जिनके द्वारा प्रत्येक विनिमय-मूल्य अभिव्यक्त किया जाता है, मूल्य की व्युत्पत्ति का विवेचन पहले से अधिक वैज्ञानिक कड़ाई के साथ किया गया है; इसी प्रकार, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल द्वारा मूल्य के परिमाण के निर्धारित होने और मूल्य के सार के आपसी सम्बन्ध की तरफ़ जहां पहले संस्करण में इशारा भर किया गया था, वहां अब उस पर ख़ास जोर दिया गया है। पहले अध्याय के अनुभाग ३ ('मूल्य का रूप') को एकदम नये सिरे से लिखा गया है; यह और कुछ नहीं तो इसलिये जरूरी हो गया था कि पहले संस्करण में इस विषय का दो जगहों पर विवेचन हो गया था।—यहां प्रसंगवश यह भी बता दूं कि यह दोहरा विवेचन मेरे मित्र, हैनोवर के डाक्टर एल० कुगेलमन के कारण हुआ था। १८६७ के वसन्त में मैं उनके यहां गया हुआ था। उसी वक़्त हैम्बर्ग से किताब के पहले प्रूफ़ आ गये और डा० कुगेलमन ने मुझे इस बात का क़ायल कर दिया कि अधिकतर पाठकों के लिये मूल्य के रूप की एक अतिरिक्त अधिक प्रबोधक व्याख्या की आवश्यकता है।—पहले अध्याय का अन्तिम अनुभाग—'मालों की जड़-पूजा, इत्यादि'—बहुत कुछ बदल दिया गया है। तीसरे अध्याय के अनुभाग १

('मूल्य की माप') को बहुत ध्यानपूर्वक संशोधित किया गया है, क्योंकि पहले संस्करण में इस अनुभाग की तरफ़ लापरवाही बरती गयी थी और पाठक को «*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*», Berlin, 1859 में दी गयी व्याख्या का हवाला भर दे दिया गया था। सातवें अध्याय को, ख़ासकर उसके दूसरे हिस्से को [अंग्रेज़ी और हिन्दी संस्करणों के नौवें अध्याय के अनुभाग २ को], बहुत हद तक फिर से लिख डाला गया है।

पुस्तक के पाठ में जो बहुत से आंशिक परिवर्तन किये गये हैं, उन सब की चर्चा करना समय का अपव्यय करना होगा, इस कारण और भी कि बहुधा वे विशुद्ध शैलीगत परिवर्तन हैं। ऐसे परिवर्तन पूरी किताब में मिलेंगे। फिर भी अब पेरिस से निकलनेवाले फ़्रांसीसी अनुवाद को संपादित करते हुए मुझे लगता है कि जर्मन भाषा के मूल पाठ के कई हिस्से ऐसे हैं, जिनको सम्भवतया बहुत मुकम्मल ढंग से नये सिरे से ढालने की आवश्यकता है, कई अन्य हिस्सों का बहुत काफ़ी शैलीगत सम्पादन करने की ज़रूरत है और कुछ और हिस्सों को काफ़ी मेहनत के साथ समय-समय पर हो जानेवाली भूलों से साफ़ करना आवश्यक है। लेकिन इसके लिये समय नहीं था। कारण कि पहले संस्करण के ख़त्म होने और दूसरे संस्करण की छपाई के जनवरी १८७२ में आरम्भ होने की सूचना मुझे १८७१ की शरद में मिली। तब मैं दूसरे ज़रूरी कामों में फंसा हुआ था।

«*Das Kapital*» ('पूंजी') को जर्मन मज़दूर वर्ग के व्यापक क्षेत्रों में जितनी जल्दी आदर प्राप्त हुआ, वही मेरी मेहनत का सबसे बड़ा इनाम है। आर्थिक मामलों में पूंजीवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवाले वियेना के एक कारख़ानेदार हेर मायेर ने फ़्रांसीसी-जर्मन युद्ध[49] के दौरान प्रकाशित एक पुस्तिका[50] में इस विचार का बहुत ठीक-ठीक प्रतिपादन किया था कि सैद्धान्तिक चिन्तन करने की महान क्षमता, जो जर्मन लोगों की पुश्तैनी सम्पत्ति समझी जाती थी, अब जर्मनी के शिक्षित कहलानेवाले वर्गों में लगभग पूर्णतया ग़ायब हो गयी है, किन्तु, इसके विपरीत, जर्मन मज़दूर वर्ग में वह क्षमता अपने पुनरुत्थान का उत्सव मना रही है।[51]

जर्मनी में इस समय तक अर्थशास्त्र एक विदेशी विज्ञान जैसा था। गुस्टाव फ़ोन गुलीह ने अपनी पुस्तक «*Geschichtliche Darstellung des Handels, der Gewerbe etc.*» ['व्यापार, उद्योग, इत्यादि का ऐतिहासिक वर्णन'] में और ख़ासकर उसके १८३० में प्रकाशित पहले दो खण्डों में उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है, जो जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली

के विकास में बाधक हुईं और इसलिये जिनके कारण उस देश में आधुनिक पूंजीवादी समाज का विकास नहीं हो पाया। इस प्रकार, वहां वह मिट्टी ही नहीं थी, जिसमें अर्थशास्त्र का पौधा उगता है। इस विज्ञान को बने-बनाये तैयार माल के रूप में इंगलैंड और फ्रांस से मंगाना पड़ा, और उसके जर्मन प्रोफ़ेसर स्कूली लड़के बनकर रह गये। उनके हाथों में विदेशी वास्तविकता की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति कठमुल्लों के सूत्रों का संग्रह बन गयी, जिनकी व्याख्या वे अपने इर्द-गिर्द की टुटपुंजिया दुनिया के रंग में रंगकर करते थे और इसीलिये उनकी वे ग़लत व्याख्या करते थे। वैज्ञानिक नपुंसकता की भावना को, जो बहुत दबाने पर भी पूरी तरह कभी नहीं दबती, और इस परेशान करनेवाले अहसास को कि हम एक ऐसे विषय में हाथ लगा रहे हैं, जो हमारे लिये वास्तव में एक पराया विषय है, या तो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पांडित्य-प्रदर्शन के नीचे छिपा दिया जाता था, या इन पर तथाकथित "कामेराल" विज्ञानों, अर्थात् अनेक विषयों की उस पंचमेली, सतही और अपूर्ण जानकारी से उधार मांगकर लायी हुई कुछ बाहरी सामग्री का पर्दा डाल दिया जाता था, जिसकी वैतरणी को जर्मन नौकरशाही का सदस्य बनने की इच्छा रखनेवाले हर निराश उम्मीदवार को पार करना पड़ता है।

१८४८ से जर्मनी में पूंजीवादी उत्पादन का बहुत तेज़ी से विकास हुआ है, और इस वक़्त तो वह सट्टेबाज़ी और धोखाधड़ी की पूरी जवानी पर है। लेकिन हमारे पेशेवर अर्थशास्त्रियों पर भाग्य ने अब भी दया नहीं की है। जिस समय वे लोग अर्थशास्त्र का निष्पक्ष रूप से अध्ययन कर सकते थे, उस समय जर्मनी में आधुनिक आर्थिक परिस्थितियां वास्तव में मौजूद नहीं थीं। और जब ये परिस्थितियां वहां पैदा हुईं, तो ऐसी हालत में कि पूंजीवादी क्षितिज के भीतर रहते हुए उनकी वास्तविक एवं निष्पक्ष छानबीन करना असम्भव हो गया। जिस हद तक अर्थशास्त्र इस क्षितिज के भीतर रहता है, अर्थात् जिस हद तक पूंजीवादी व्यवस्था को सामाजिक उत्पादन के विकास की एक अस्थायी ऐतिहासिक मंज़िल नहीं, बल्कि उसका एकदम अन्तिम स्वरूप समझा जाता है, उस हद तक अर्थशास्त्र केवल उसी समय तक विज्ञान बना रह सकता है, जब तक कि वर्ग संघर्ष सुषुप्तावस्था में है या जब तक कि वह केवल इक्की-दुक्की और अलग-थलग घटनाओं के रूप में प्रकट होता है।

हम इंगलैंड को लें। उसका अर्थशास्त्र उस काल का है, जब वर्ग संघर्ष का विकास नहीं हुआ था। उसके अन्तिम महान प्रतिनिधि – रिकार्डो – ने आख़िर में जाकर वर्ग हितों के विरोध को, मजदूरी और मुनाफ़े तथा मुनाफ़े और लगान

के विरोध को सचेतन ढंग से अपनी खोज का प्रस्थान-बिन्दु बनाया और अपने भोलेपन में यह समझा कि यह विरोध प्रकृति का एक सामाजिक नियम है। किन्तु इस प्रकार प्रारम्भ करके पूंजीवादी अर्थशास्त्र उस सीमा पर पहुंच गया था, जिसे लांघना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। रिकार्डो के जीवन-काल में ही और उनके विरोध के तौर पर सीसमांडी ने इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना की।

इसके बाद जो काल आया, अर्थात् १८२० से १८३० तक, वह इंगलैंड में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक छानबीन के लिए उल्लेखनीय था। यह रिकार्डो के सिद्धान्त को अतिसरल बनाने की चेष्टा में उसे भोंडे ढंग से पेश करने और उसका विस्तार करने और साथ ही पुराने मत के साथ इस सिद्धान्त के संघर्ष का भी काल था। बड़े शानदार दंगल हुए। उनमें जो कुछ हुआ, उसकी यूरोपीय महाद्वीप में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि शास्त्रार्थ का अधिकतर भाग पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले लेखों, जब-तब प्रकाशित पुस्तक-पुस्तिकाओं में बिखरा हुआ है। इस शास्त्रार्थ के तटस्थ एवं पूर्वग्रहरहित स्वरूप का कारण—हालांकि कुछ ख़ास-ख़ास मौक़ों पर रिकार्डो का सिद्धान्त तभी से पूंजीवादी अर्थतन्त्र पर हमला करने के हथियार का काम देने लगा था—उस समय की परिस्थितियां थीं। एक ओर तो आधुनिक उद्योग ख़ुद उस समय अपने बचपन से अभी-अभी निकल ही रहा था, जिसका प्रमाण यह है कि १८२५ के अर्थ-संकट से ही उसके आधुनिक जीवन के नियतकालिक चक्र का पहली बार श्रीगणेश हुआ था। दूसरी ओर, इस समय पूंजी और श्रम का वर्ग संघर्ष पृष्ठभूमि में पड़ गया था—राजनीति के क्षेत्र में एक तरफ़ पुनीत संघ के इर्द-गिर्द एकत्रित सरकारों तथा सामन्ती अभिजात वर्ग और दूसरी तरफ़ पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में साधारण जनता के बीच संघर्ष के कारण; अर्थतंत्र के क्षेत्र में औद्योगिक पूंजी तथा अभिजातवर्गीय भूसम्पत्ति के झगड़े के कारण, जो फ़्रांस में छोटी और बड़ी भूसम्पत्ति के झगड़े से छिप गया था, और इंगलैंड में वह अनाज आयात विरोधी क़ानूनों के बाद खुल्लमखुल्ला शुरू हो गया था। इस समय का इंगलैंड का अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य उस तूफ़ानी प्रगति की याद दिलाता है, जो फ़्रांस में डा० केने की मृत्यु के बाद हुई थी, मगर उसी तरह, जैसे अक्तूबर की अल्पकालीन गरमी वसन्त की याद दिलाती है। १८३० में निर्णायक संकट आ पहुंचा।

फ़्रांस और इंगलैंड में पूंजीपति वर्ग ने राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया था। उस समय से ही वर्ग संघर्ष व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से अधिकाधिक बेलाग और डरावना रूप धारण करता गया। इसने वैज्ञानिक

पूंजीवादी अर्थशास्त्र की मौत की घण्टी बजा दी। उस वक़्त से ही सवाल यह नहीं रह गया कि अमुक प्रमेय सही है या नहीं, बल्कि सवाल यह हो गया कि वह पूंजी के लिये हितकर है या हानिकारक, उपयोगी है या अनुपयोगी, राजनीतिक दृष्टि से ख़तरनाक है या नहीं। तटस्थ भाव से छान-बीन करनेवालों की जगह किराये के पहलवानों ने ले ली; सच्ची वैज्ञानिक खोज का स्थान पूंजी के हितों का अशुभ और चापलूसी भरे समर्थन ने ग्रहण कर लिया। फिर भी उन निकृष्ट पुस्तिकाओं का भी यदि वैज्ञानिक नहीं, तो ऐतिहासिक महत्त्व ज़रूर है, जिनसे काबडेन और ब्राइट नामक कारख़ानेदारों के नेतृत्व में चलनेवाली अनाज आयात विरोधी क़ानून संस्था ने दुनिया को पाट दिया था। उनका ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए है कि उनमें अभिजातवर्गीय भूस्वामियों का खण्डन किया गया था। लेकिन उसके बाद से स्वतंत्र व्यापार[52] के क़ानूनों ने, जिनका उद्घाटन सर राबर्ट पील ने किया था, घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र के इस आख़िरी कांटे को भी निकाल दिया है।

१८४८ में यूरोपीय महाद्वीप में जो क्रान्ति हुई, उसकी प्रतिक्रिया इंगलैंड में भी हुई। जो लोग अब भी वैज्ञानिक होने का दावा करते थे और शासक वर्गों के मात्र कुतर्कवादी दार्शनिकों तथा भाड़े के टट्टुओं से कुछ अधिक बनना चाहते थे, उन्होंने पूंजी के अर्थशास्त्र का सर्वहारा के उन दावों के साथ ताल-मेल बैठाने की कोशिश की, जिनकी अब अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इससे एक छिछला समन्वयवाद आरम्भ हुआ, जिसके सबसे अच्छे प्रतिनिधि जान स्टुअर्ट मिल हैं। यह पूंजीवादी अर्थशास्त्र के दिवालियेपन की घोषणा थी, जिस पर महान रूसी विद्वान एवं आलोचक नि० चेर्निशेव्स्की ने अपनी रचना 'मिल के अनुसार अर्थशास्त्र की रूपरेखा' में शानदार ढंग से प्रकाश डाला है।

अतः जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली उस वक़्त सामने आयी, जब उसका अन्तर्विरोधी स्वरूप इंगलैंड और फ़्रांस में पहले ही वर्गों के भीषण संघर्ष में प्रकट हो चुका था। इसके अलावा, इस बीच जर्मन सर्वहारा वर्ग ने जर्मन पूंजीपति वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट वर्ग-चेतना प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार, जब आख़िर वह घड़ी आयी कि जर्मनी में पूंजीवादी अर्थशास्त्र सम्भव प्रतीत होने लगा, ठीक उसी समय वह वास्तव में फिर असम्भव हो गया था।

ऐसी परिस्थिति में उसके प्रोफ़ेसर दो दलों में बंट गये। एक दल, जिसमें व्यावहारिक ढंग के, हर चीज़ से चौकस व्यवसायी लोग थे, बास्तिआ के झण्डे के नीचे इकट्ठा हो गया, जो कि घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र का सबसे ज़्यादा

सतही और इसलिये सबसे ज़्यादा अधिकारी प्रतिनिधि था। दूसरा दल, जिसे अपने विज्ञान की प्रोफ़ेसराना प्रतिष्ठा का गर्व था, जान स्टुअर्ट मिल का अनुसरण करते हुए ऐसी चीज़ों में मेल बिठाने की कोशिश करने लगा, जिनमें कभी मेल नहीं हो सकता। जिस तरह पूंजीवादी अर्थशास्त्र के अभ्युदय के काल में जर्मन लोग महज़ स्कूली लड़के, नक़्क़ाल, पिछलग्गू और थोक व्यापार करने-वाली विदेशी कम्पनियों का अपने देश में फुटकर ढंग से और फेरी लगाकर माल बेचनेवाले मनिहार बनकर रह गये थे, ठीक वही हाल उनका अब पूंजीवादी अर्थशास्त्र के पतन के काल में हुआ।

अतएव, जर्मन समाज का ऐतिहासिक विकास जिस विशेष ढंग से हुआ है, वह उस देश में पूंजीवादी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के सृजनात्मक कार्य की तो इजाज़त नहीं देता, पर उस अर्थशास्त्र की आलोचना करने की छूट दे देता है। जिस हद तक यह आलोचना किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उस हद तक वह केवल उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकती है, जिसको इतिहास में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का तख़्ता उलट देने और सभी वर्गों को अन्तिम रूप से मिटा देने का काम मिला है, अर्थात् वह केवल सर्वहारा वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर सकती है।

जर्मन पूंजीपति वर्ग के पंडित और अपंडित प्रवक्ताओं ने शुरू में 'पूंजी' को ख़ामोशी के ज़रिये मार डालने की कोशिश की। वे मेरी पहले वाली रचनाओं के साथ ऐसा ही कर चुके थे। पर ज्यों ही उन्होंने यह देखा कि यह चाल अब समय की परिस्थितियों से मेल नहीं खाती, त्यों ही उन्होंने मेरी किताब की आलोचना करने के बहाने "पूंजीवादी मनःस्थिति को शान्त करने" के नुसख़े लिखने शुरू कर दिये। लेकिन मज़दूरों के अख़बारों में उनको अपने से शक्तिशाली विरोधियों का सामना करना पड़ा—मिसाल के लिए, *«Volksstaat»*[53] में जोज़ेफ़ डीयेट्ज़गेन के लेखों को देखिये—और उनका वे आज तक जवाब नहीं दे पाये हैं।*

---

*जर्मनी के घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र के चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले बकवासियों ने मेरी पुस्तक की शैली की निन्दा की है। 'पूंजी' के साहित्यिक दोषों का जितना अहसास मुझे है, उससे ज्यादा किसी को नहीं हो सकता। फिर भी मैं इन महानुभावों के तथा उनको पढ़नेवाले लोगों के लाभ और मनोरंजन के लिये इस संबंध में एक अंग्रेज़ी तथा एक रूसी समालोचना को उद्धृत करूंगा। *«Saturday Review»*[54] ने, जो मेरे विचारों का सदा विरोधी रहा है, पहले संस्करण की

'पूंजी' का एक बहुत अच्छा रूसी अनुवाद १८७२ के वसन्त में प्रकाशित हुआ था। ३,००० प्रतियों का यह संस्करण लगभग समाप्त भी हो गया है। कीयेव विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर एन० ज़ीबेर ने १८७१ में ही अपनी रचना 'डेविड रिकार्डो का मूल्य का और पूंजी का सिद्धान्त' में मूल्य, मुद्रा और पूंजी के मेरे सिद्धान्त का ज़िक्र किया था और कहा था कि जहां तक उसके सार का सम्बन्ध है, यह सिद्धान्त स्मिथ और रिकार्डो की सीख का आवश्यक परिणाम है। इस सुन्दर रचना को पढ़ने पर जो बात पश्चिमी यूरोप के पाठकों को आश्चर्य में डाल देती है, वह यह है कि विशुद्ध सैद्धान्तिक प्रश्नों पर लेखक की बहुत ही सुसंगत और मज़बूत पकड़ है।

'पूंजी' में प्रयोग की गयी पद्धति के सिलसिले में जो तरह-तरह की परस्पर-विरोधी धारणाएं लोगों में उत्पन्न हुई हैं, उनसे मालूम होता है कि इस पद्धति को लोगों ने बहुत कम समझा है।

चुनांचे पेरिस की *«Revue Positiviste»*[56] ने मेरी इसलिये भर्त्सना की है कि एक तरफ़ तो मैं अर्थशास्त्र का अद्वंद्वात्मक ढंग से विवेचन करता हूं और दूसरी तरफ़ – ज़रा सोचिये तो! – मैं भविष्य के बावर्चीख़ानों के लिये नुसख़े (शायद कोम्तवादी नुसख़े?) लिखने के बजाय केवल वास्तविक तथ्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता हूं। जहां तक अद्वंद्वात्मकता की शिकायत है, उसके जवाब में प्रोफ़ेसर ज़ीबेर ने यह लिखा है –

"जहां तक वास्तविक सिद्धान्त के विवेचन का सम्बन्ध है, मार्क्स की पद्धत्ति पूरी अंग्रेजी धारा की निगमन-पद्धत्ति है, और इस धारा में वे तमाम गुण और अवगुण मौजूद हैं, जो सर्वोत्तम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों में पाये जाते हैं।"[57]

आलोचना करते हुए लिखा था – "विषय को जिस ढंग से पेश किया गया है, वह नीरस से नीरस आर्थिक प्रश्नों में भी एक अनोखा आकर्षण पैदा कर देता है।"। **'सेंट पीटर्सबर्ग जर्नल'**[55] ('सांक्त-पेतेरबुर्ग्स्किये वेदोमोस्ती') ने अपने २० अप्रैल १८७२ के अंक में लिखा है – "एक-दो बहुत ही ख़ास हिस्सों को छोड़कर विषय को पेश करने का ढंग ऐसा है कि वह सामान्य पाठक की भी समझ में आ जाता है, ख़ूब साफ़ हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत जटिल होते हुए भी असाधारण रूप से सजीव हो उठता है। इस दृष्टि से लेखक... अधिकतर जर्मन विद्वानों से बिल्कुल भिन्न हैं, जो... अपनी पुस्तकें ऐसी नीरस और दुरूह भाषा में लिखते हैं कि साधारण इनसानों के सिर तो उनसे टकराकर ही टूट जाते हैं।"

एम० ब्लोक ने *«Les Théoriciens du Socialisme en Allemagne. Extrait du «Journal des Économistes», juillet et août 1872»* में यह आविष्कार किया है कि मेरी पद्धति विश्लेषणात्मक है, और लिखा है कि

"इस रचना द्वारा श्रीमान मार्क्स ने सबसे प्रमुख विश्लेषणकारी प्रतिभाओं की पंक्ति में स्थान प्राप्त कर लिया है।"

जर्मन पत्रिकाएं, जाहिर है, "हेगेलवादी वितंडावाद" के ख़िलाफ़ चीख़ रही हैं। सेंट पीटर्सबर्ग के **'वेस्तनिक येवरोपी'**[58] नामक पत्र ने एक लेख में 'पूंजी' की केवल पद्धति की ही चर्चा की है (मई का अंक, १८७२, पृ० ४२७–४३६)। उसको मेरा खोज का तरीक़ा तो अतियथार्थवादी लगता है, लेकिन विषय को पेश करने का मेरा ढंग, उसकी दृष्टि से, दुर्भाग्यवश जर्मन-द्वन्द्ववादी है। उसने लिखा है–

"यदि हम विषय को पेश करने के बाहरी ढंग के आधार पर अपना मत क़ायम करें, तो पहली दृष्टि में लगेगा कि मार्क्स भाववादी दार्शनिकों में भी सबसे अधिक भाववादी हैं, और यहां हम इस शब्द का प्रयोग उसके जर्मन अर्थ में, यानी बुरे अर्थ में, कर रहे हैं। लेकिन असल में वह आर्थिक आलोचना के क्षेत्र में अपने समस्त पूर्वगामियों से कहीं अधिक यथार्थवादी हैं। उन्हें किसी भी अर्थ में भाववादी नहीं कहा जा सकता।"

मैं इस लेखक को उत्तर देने का इससे अच्छा कोई ढंग नहीं सोच सकता कि ख़ुद उनकी आलोचना के कुछ उद्धरण की सहायता लूं; हो सकता है कि रूसी लेख जिनकी पहुंच के बाहर है, मेरे कुछ ऐसे पाठकों को भी उसमें दिलचस्पी हो।

१८५९ में बर्लिन से प्रकाशित मेरी पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका का एक ऐसा उद्धरण (पृ० चार–सात) देने के बाद, जिसमें मैंने अपनी पद्धत्ति के भौतिकवादी आधार की चर्चा की है, इस लेखक ने आगे लिखा है–

"मार्क्स के लिये जिस एक बात का महत्त्व है, वह यह है कि जिन घटनाओं की छान-बीन में वह किसी वक़्त लगा हुआ हो, उनके नियम का पता लगाया जाये। और उसके लिये केवल उस नियम का ही महत्त्व नहीं है, जिसके द्वारा

इन घटनाओं का उस हद तक नियमन होता है, जिस हद तक कि उसका कोई निश्चित स्वरूप होता है और जिस हद तक कि उनके बीच किसी ख़ास ऐतिहासिक काल के भीतर पारस्परिक सम्बन्ध होता है। मार्क्स के लिये इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण नियम है घटनाओं के परिवर्तन का, उनके विकास का, अर्थात् उनके एक रूप से दूसरे रूप में बदलने का, सम्बन्धों के एक क्रम से दूसरे क्रम में परिवर्तित होने का। इस नियम का पता लगा लेने के बाद वह विस्तार के साथ इस बात की खोज करते हैं कि यह नियम सामाजिक जीवन में किन-किन रूपों में प्रकट होता है। इसके परिणामस्वरूप मार्क्स को केवल एक ही बात की चिन्ता रहती है, वह यह कि कड़ी वैज्ञानिक खोज के द्वारा सामाजिक परिस्थितियों की एक के बाद दूसरी आनेवाली अलग-अलग निश्चित व्यवस्थाओं की आवश्यकता सिद्ध करके दिखा दी जाये और अधिक से अधिक निष्पक्ष भाव से उन तथ्यों की स्थापना की जाये, जो मार्क्स के लिये बुनियादी प्रस्थान-बिन्दुओं का काम करते हैं उनके लिये बस इतना बहुत काफ़ी है, यदि वह वर्त्तमान व्यवस्था की आवश्यकता सिद्ध करने के साथ-साथ उस नयी व्यवस्था की आवश्यकता भी सिद्ध कर दे, जिसमें कि वर्त्तमान व्यवस्था को अनिवार्य रूप से बदल जाना है। और यह परिवर्तन हर हालत में होता है, चाहे लोग इसमें विश्वास करें या न करें और चाहे वे इसके बारे में सजग हों या न हों। मार्क्स सामाजिक प्रगति को प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में पेश करते हैं, जो ऐसे नियमों द्वारा नियंत्रित होती है, जो न केवल मनुष्य की इच्छा, चेतना और समझ-बूझ से स्वतंत्र होते हैं, बल्कि, इसके विपरीत, जो इस इच्छा, चेतना और समझ-बूझ को निर्धारित करते हैं... यदि सभ्यता के इतिहास में चेतन तत्त्व की भूमिका इतनी गौण है, तो यह बात स्वतःस्पष्ट है कि जिस आलोचनात्मक खोज की विषय-वस्तु सभ्यता है, वह अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा चेतना के किसी भी रूप पर अथवा चेतना के किसी भी परिणाम पर कम ही आधारित हो सकती है। तात्पर्य यह है कि यहां विचार नहीं, बल्कि केवल भौतिक घटना ही प्रस्थान-बिन्दु का काम कर सकती है। इस प्रकार की खोज किसी तथ्य का मुक़ाबला और तुलना विचारों से नहीं करेगी, बल्कि वह एक तथ्य का मुक़ाबला और तुलना किसी दूसरे तथ्य से करने तक ही अपने को सीमित रखेगी। इस खोज के लिये महत्त्वपूर्ण बात सिर्फ़ यह है कि दोनों तथ्यों की छान-बीन यथासम्भव बिल्कुल सही-सही की जाये, और यह कि एक-दूसरे के सम्बन्ध में वे एक विकास-क्रिया की दो भिन्न अवस्थाओं का सचमुच प्रतिनिधित्व करें; लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि एक के बाद एक सामने आनेवाली उन अवस्थाओं, अनुक्रमों और शृंखलाओं के क्रम का कड़ाई के साथ विश्लेषण किया जाये, जिनके रूप में इस प्रकार के विकास की अलग-अलग मंज़िलें प्रकट होती हैं। लोग सोच सकते हैं कि आर्थिक जीवन के सामान्य नियम तो सदा एक से होते हैं, चाहे वे भूतकाल पर लागू किये जायें और चाहे वर्त्तमान काल पर। पर इस बात से

मार्क्स साफ़ तौर पर इनकार करते हैं। उनके मतानुसार, ऐसे सामान्य नियम होते ही नहीं। इसके विपरीत, उनकी राय में तो प्रत्येक ऐतिहासिक युग के अपने अलग नियम होते हैं... जब समाज विकास के किसी ख़ास युग को पीछे छोड़ देता है और एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल में प्रवेश करने लगता है, तब उसी वक़्त से उस पर कुछ दूसरे नियम भी लागू होने लगते हैं। संक्षेप में कहा जाये, तो आर्थिक जीवन हमारे सामने एक ऐसी क्रिया प्रस्तुत करता है, जो जीवविज्ञान की अन्य शाखाओं में पाये जानेवाले विकास के इतिहास से बिल्कुल मिलती-जुलती है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियमों को भौतिकविज्ञान तथा रसायनविज्ञान के नियमों के समान बताकर उनकी प्रकृति को ग़लत समझा था। घटनाओं का अधिक गहरा अध्ययन करने पर पता लगा कि सामाजिक संघटनों के बीच अलग-अलग ढंग के पौधों या पशुओं के समान ही बुनियादी भेद होता है ...चूंकि इन सामाजिक संघटनों की पूरी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है, उनके अवयव अलग-अलग प्रकार के होते हैं और ये अवयव अलग-अलग तरह की परिस्थितियों में काम करते हैं, इसलिये उनमें एक ही घटना बिल्कुल भिन्न नियमों के अधीन हो जाती है। उदाहरण के लिये, मार्क्स इससे इनकार करते हैं कि आबादी का नियम प्रत्येक काल और प्रत्येक स्थान में एक सा रहता है। इसके विपरीत, उनका कहना यह है कि विकास की हरेक मंज़िल का अपना आबादी का नियम होता है... उत्पादक शक्तियों का विकास जितना कम-ज्यादा होता है, उसके अनुसार सामाजिक परिस्थितियां और उन्हें नियंत्रित करनेवाले नियम भी बदलते जाते हैं। जब मार्क्स ने पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन एवं व्याख्या करने का लक्ष्य अपने सामने रखा था, तब उन्होंने केवल उसी उद्देश्य को सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया था, जो आर्थिक जीवन की प्रत्येक परिशुद्ध खोज का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसी खोज का वैज्ञानिक महत्त्व इस बात में है कि वह उन विशेष नियमों को खोलकर रख दे, जिनके द्वारा किसी सामाजिक संघटन की उत्पत्ति, अस्तित्व, विकास और अन्त का तथा उसके स्थान पर किसी और, अधिक ऊंचे संघटन की स्थापना का नियमन होता है। और, असल में, मार्क्स की पुस्तक का महत्व इसी बात में है।"

यहां पर लेखक ने जिसे मेरी पद्धति समझकर इस सुन्दर और (जहां तक इसका सम्बन्ध है कि ख़ुद मैंने उसे किस तरह लागू किया है) उदार ढंग से चित्रित किया है, वह द्वन्द्ववादी पद्धत्ति के सिवा और क्या है?

ज़ाहिर है, किसी विषय को पेश करने का ढंग खोज के ढंग से भिन्न होता है। खोज के समय विस्तार में जाकर सारी सामग्री पर अधिकार करना पड़ता है, उसके विकास के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करना होता है और उनके आन्तरिक सम्बन्ध का पता लगाना पड़ता है। जब यह काम सम्पन्न हो जाता

है, तभी जाकर कहीं वास्तविक गति का पर्याप्त वर्णन करना सम्भव होता है। यदि यह काम सफलतापूर्वक पूरा हो जाता है, यदि विषय का जीवन दर्पण के समान विचारों में झलकने लगता है, तब यह सम्भव है कि हमें ऐसा प्रतीत हो, जैसे किसी ने अपने दिमाग़ से सोचकर कोई तसवीर गढ़ दी है।

मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति हेगेलवादी पद्धत्ति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हेगेल के लिए मानव-मस्तिष्क की जीवन-प्रक्रिया, अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया, जिसे "विचार" के नाम से उसने एक स्वतंत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक संसार "विचार" का बाहरी रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिये विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक संसार मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।

हेगेलवादी द्वन्द्ववाद के भ्रमजनक पहलू की मैंने लगभग तीस वर्ष पहले आलोचना की थी, जब उसका काफ़ी चलन था। लेकिन जिस समय मैं 'पूंजी' के प्रथम खण्ड पर काम कर रहा था, ठीक उसी समय योग्य नेताओं के इन अयोग्य, चिड़चिड़े, घमंडी और प्रतिभाहीन अनुयायियों[59] को, जो आजकल सुसंस्कृत जर्मनी में बड़ी लम्बी-लम्बी हांक रहे हैं, हेगेल के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करने की सूझी, जैसा लेसिंग के काल में बहादुर मोसेस मेंडेलस्सोन ने स्पिनोज़ा के साथ किया था—यानी उन्होंने भी हेगेल के साथ "मरे हुए कुत्ते" जैसा व्यवहार करने की सोची। तब मैंने खुल्लमखुल्ला यह स्वीकार किया कि मैं उस महान विचारक का शिष्य हूं, और मूल्य के सिद्धान्त वाले अध्याय में जहां-तहां मैंने अभिव्यक्ति के उस ढंग से भी आंख-मिचौली खेली है, जो हेगेल का ख़ास ढंग है। हेगेल के हाथों में द्वन्द्ववाद पर रहस्य का आवरण पड़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद यह सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढंग से यह बताया था कि अपने सामान्य रूप में द्वन्द्ववाद किस प्रकार काम करता है। हेगेल के यहां द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर ढके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्त्व का पता लगाना चाहते हैं, तो आपको उसे पलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

अपने रहस्यमय रूप में द्वन्द्ववाद का जर्मनी में इसलिये चलन हो गया था कि वह विद्यमान व्यवस्था को रूपान्तरित करता तथा उसका गुणगान करता प्रतीत होता था। अपने विवेकपूर्ण रूप में वह पूंजीवादी संसार तथा उसके पण्डिताऊ प्रोफ़ेसरों के लिए एक निन्दनीय और घृणित वस्तु है, क्योंकि उसमें वर्त्तमान

व्यवस्था की उसकी समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति में साथ ही साथ इस व्यवस्था के निषेध और उसके अवश्यम्भावी विनाश की स्वीकृति भी शामिल है; क्योंकि द्वन्द्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवर्तनशील मानता है और इसलिये उसके अस्थायी स्वरूप का उसके क्षणिक अस्तित्व से कम खयाल नहीं रखता है और क्योंकि द्वन्द्ववाद किसी चीज को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता और वह अपने सार-तत्त्व में आलोचनात्मक एवं क्रान्तिकारी है।

पूंजीवादी समाज की गति में जो अन्तर्विरोध निहित हैं, वे व्यावहारिक पूंजीपति के दिमाग़ पर सबसे अधिक ज़ोर से उस नियतकालिक चक्र के परिवर्तनों के रूप में प्रभाव डालते हैं, जिसमें से समस्त आधुनिक उद्योग को गुज़रना पड़ता है और जिसका सर्वोच्च बिन्दु सर्वव्यापी संकट होता है। वह संकट एक बार फिर आने को है, हालांकि अभी वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है; और इस संकट की लपेट इतनी सर्वव्यापी होगी और उसका प्रभाव इतना तीव्र होगा कि वह इस नये पवित्र प्रशियाई-जर्मन साम्राज्य के बरसात में कुकुरमुत्तों की तरह पैदा होनेवाले नये नवाबों के दिमाग़ों में भी द्वन्द्ववाद को ठोक-ठोक कर घुसा देगा।

कार्ल मार्क्स

लन्दन, २४ जनवरी १८७३

K. Marx. *«Das Kapital. Kritik der politischen Oekonomie».* Erster Band. Zweite verbesserte Auflage. Hamburg, 1872
किताब में पहले पहल प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

पूंजी

आठवां भाग

तथाकथित आदिम संचय

छब्बीसवां अध्याय

आदिम संचय का रहस्य

हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा किस तरह पूंजी में बदल दी जाती है, किस तरह पूंजी से अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है और फिर अतिरिक्त मूल्य से किस तरह और पूंजी बना ली जाती है। लेकिन पूंजी का संचय होने के लिये अतिरिक्त मूल्य का पैदा होना आवश्यक है, अतिरिक्त मूल्य पैदा होने के लिये पूंजीवादी उत्पादन का होना ज़रूरी है और पूंजीवादी उत्पादन के अस्तित्व में आने के लिये आवश्यक है कि मालों के उत्पादकों के हाथों में पूंजी और श्रम-शक्ति की काफ़ी बड़ी राशियां पहले से मौजूद हों। इसलिये, ऐसा लगता है, जैसे यह पूरी क्रिया एक अपचक्र के भीतर चलती रहती है, जिससे बाहर निकलने का केवल एक यही रास्ता है कि हम यह मान लें कि पूंजीवादी संचय के पहले आदिम संचय (जिसे ऐडम स्मिथ ने "previous accumulation" कहा है) हुआ था, यानी कभी एक ऐसा संचय हुआ था, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का परिणाम नहीं, बल्कि उसका प्रस्थान-बिन्दु था।

यह आदिम संचय राजनीतिक अर्थशास्त्र में वही भूमिका अदा करता है, जो धर्मशास्त्र में मूल पाप अदा करता है। आदम ने सेब को चखा, इस कारण मानव-जाति पाप के पंक में फंस गयी। उसकी व्युत्पत्ति बीते हुए ज़माने की एक कथा सुनाकर स्पष्ट कर दी जाती है। बहुत, बहुत दिन बीते दुनिया में दो तरह के आदमी थे। एक ओर, कुछ चुने हुए लोग थे, जो परिश्रमी, बुद्धिमान और सबसे बड़ी बात यह कि मितव्ययी थे। दूसरी ओर थे काहिल और बदमाश, जो अपना सारा सत्त्व और दूसरी चीज़ें भोग-विलास और दुराचरण में लुटा देते थे। यह सच है कि धर्मशास्त्र की मूल पाप की पुरानी कथा हमें यह बता देती है कि आदमी को रोटी पाने के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक करने के लिये शापित

होना पड़ा। लेकिन आर्थिक क्षेत्र में मूल पाप का इतिहास हमें बताता है कि कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिनके लिये रोटी पाने के लिये मेहनत करना आवश्यक नहीं है। ख़ैर जाने दीजिये! सो, इस तरह पहली क़िस्म के लोगों ने धन संचय कर लिया और दूसरी क़िस्म के लोगों के पास अन्त में अपनी खाल के सिवा बेचने के लिये कुछ भी नहीं बचा। इसी मूल पाप का यह नतीजा हुआ कि दुनिया में ज़्यादातर आदमी ग़रीब हैं और दिन-रात मेहनत करने के बावजूद आज भी उनके पास बेचने के लिये अपने तन के सिवा और कुछ नहीं है और इस तरह थोड़े-से लोगों का धन बराबर बढ़ता ही जाता है हालांकि इन लोगों ने बहुत दिन पहले काम करना बन्द कर दिया था। सम्पत्ति की हिमायत में हमें हर रोज़ इस तरह की बेहूदा और बचकानी बकवास सुनायी जाती है। मिसाल के लिये, मोशिये थियेर में इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने एक राजनेता के समस्त गाम्भीर्य के साथ उन फ़्रांसीसी लोगों के सामने यह बात दुहरायी थी, जो किसी समय बड़े हाज़िरजवाब (spirituel) थे। जैसे ही कहीं पर सम्पत्ति का सवाल उठ खड़ा होता है, वैसे ही यह घोषणा करना हरेक आदमी का पुनीत कर्तव्य बन जाता है कि शिशु का बौद्धिक भोजन ही हर आयु और विकास की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य की सबसे अच्छी ख़ुराक होता है। यह बात सर्वविदित है कि वास्तविक इतिहास में देश जीतने, दूसरों को ग़ुलाम बनाने, डाकाज़नी, हत्या और संक्षेप में कहें, तो बलप्रयोग की भूमिका प्रमुख है। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र के मधुर इतिहास में बाबा आदम के ज़माने से केवल प्रिय बातों की ही चर्चा है। धन सदा केवल न्यायोचित अधिकार और "श्रम" से ही एकत्रित हुआ है—हां, "चालू साल" की बात हमेशा दूसरी रहती है। सच्ची बात यह है कि आदिम संचय जिन तरीक़ों से हुआ है, वे और कुछ भी हों, प्रिय हरगिज़ नहीं थे।

जिस तरह उत्पादन के साधन तथा जीवन-निर्वाह के साधन ख़ुद अपने में पूंजी नहीं होते, उसी तरह मुद्रा और माल भी ख़ुद अपने में पूंजी नहीं होते। उनको तो पूंजी में रूपान्तरित करना पड़ता है। परन्तु यह रूपान्तरण ख़ुद केवल कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में ही हो सकता है। इन परिस्थितियों की मुख्य बात यह है कि दो बहुत भिन्न प्रकार के मालों के मालिकों को एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा होना और एक-दूसरे के सम्पर्क में आना चाहिये। एक तरफ़ होने चाहिये मुद्रा, उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक, जो दूसरों की श्रम-शक्ति को ख़रीदकर अपने मूल्यों की राशि को बढ़ाने के लिये उत्सुक हों। दूसरी तरफ़ होने चाहिये स्वतंत्र मज़दूर, जो ख़ुद अपनी श्रम-शक्ति बेचते हों

और इसलिये जो श्रम बेचते हों। इन मज़दूरों को इस दोहरे अर्थ में स्वतंत्र होना चाहिये कि वे न तो दासों, कृषि-दासों, आदि की भांति ख़ुद उत्पादन के साधनों का एक अंश हों और न ही ख़ुद अपनी ज़मीन जोतनेवाले किसानों की भांति उत्पादन के साधन उनकी सम्पत्ति हों। इस तरह, वे उत्पादन के हर प्रकार के साधनों से बिल्कुल मुक्त होते हैं, और उनके सिर पर किसी भी प्रकार के ख़ुद अपने उत्पादन के साधनों का बोझा नहीं होता। मालों की मण्डी में इस प्रकार का ध्रुवण हो जाने पर पूंजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक मूलभूत परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के लिये यह आवश्यक होता है कि मज़दूर जिन साधनों के द्वारा अपने श्रम को मूर्त रूप दे सकते हैं, उन पर मज़दूरों का तनिक भी स्वामित्व न रहे और इस प्रकार के स्वामित्व से मज़दूरों का बिल्कुल अलगाव हो जाये। पूंजीवादी उत्पादन जब एक बार अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, तो फिर वह न सिर्फ़ इस अलगाव को क़ायम रखता है, बल्कि बढ़ते हुए पैमाने पर उसका लगातार पुनरुत्पादन करता जाता है। इसलिये, पूंजीवादी व्यवस्था के वास्ते रास्ता तैयार करनेवाली क्रिया केवल वही क्रिया हो सकती है, जो मज़दूर से उसके उत्पादन के साधनों का स्वामित्व छीन ले, जो, एक ओर तो, जीवन-निर्वाह और उत्पादन के सामाजिक साधनों को पूंजी में और, दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में बदल डाले। अतः तथाकथित आदिम संचय उत्पादक को उत्पादन के साधनों से अलग कर देने की ऐतिहासिक क्रिया के सिवा और कुछ नहीं है। वह आदिम क्रिया इसलिये प्रतीत होती है कि वह पूंजी और तदनुरूप उत्पादन प्रणाली की प्रागैतिहासिक अवस्था होती है।

पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा सामन्ती समाज के आर्थिक ढांचे में से निकला है। सामन्ती समाज के आर्थिक ढांचे के छिन्न-भिन्न हो जाने पर पूंजीवादी ढांचे के तत्व उन्मुक्त हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष उत्पादक, या मज़दूर, केवल उसी समय अपनी देह को बेच सकता था, जब वह धरती से न बंधा हो और किसी अन्य व्यक्ति का दास या कृषि-दास न हो। इसके अलावा, श्रम-शक्ति का स्वतन्त्र विक्रेता बनने के लिये, जो जहां श्रम-शक्ति की मांग हो, वहीं पर उसे बेच सके, यह भी आवश्यक था कि मज़दूर को शिल्पी संघ के शासन, शिक्षार्थी मज़दूरों तथा शागिर्दों के लिये बनाये गये शिल्पी संघों के नियमों और उनके श्रम के क़ायदों की रुकावटों से मुक्ति मिल गयी हो। अतः वह ऐतिहासिक क्रिया, जो उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में बदल देती है, एक ओर तो इन लोगों को कृषि-दास-प्रथा तथा शिल्पी संघों के बन्धनों

से आज़ाद कराने की क्रिया प्रतीत होती है, और हमारे पूंजीवादी इतिहासकारों को उसका केवल यही पहलू नज़र आता है। लेकिन, दूसरी ओर, इस तरह जिन लोगों को नयी स्वतंत्रता मिलती है, वे केवल उसी हालत में ख़ुद अपने विक्रेता बनते हैं, जब उत्पादन के सारे साधन उनसे पहले से ही छीन लिये जाते हैं और पुरानी सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त जीवन-निर्वाह की प्रतिभूतियों से वे वंचित कर दिये जाते हैं। और उनकी इस सम्पत्ति-अपहरण की कहानी मानवजाति के इतिहास में रक्तसिंचित एवं आग्नेय अक्षरों में लिखी हुई है।

उधर इन नये शक्तिमानों को, औद्योगिक पूंजीपतियों को, न केवल दस्तकारियों के शिल्पी संघों के उस्तादों को विस्थापित करना था, बल्कि धन के स्रोतों के स्वामियों, सामन्ती प्रभुओं का भी स्थान छीन लेना था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक पूंजीपतियों को सामन्ती प्रभुओं तथा उनके अन्यायपूर्ण विशेषाधिकारों के विरुद्ध और शिल्पी संघों तथा उत्पादन के स्वतंत्र विकास एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के स्वच्छंद शोषण पर इन संघों द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करके सामाजिक सत्ता प्राप्त हुई है। लेकिन उद्योग के धनी सरदारों को तलवार के धनी सरदारों का स्थान छीन लेने में यदि सफलता मिली, तो केवल इसलिये कि उन्होंने कुछ ऐसी घटनाओं से लाभ उठाया, जिनकी उनपर कोई ज़िम्मेदारी न थी। उन्होंने ऊपर उठने के लिये उतने ही घटिया हथकण्डों का प्रयोग किया, जितने घटिया हथकण्डों का रोम के मुक्त दासों ने अपने स्वामियों का स्वामी बनने के लिये किया था।

जिस विकास-क्रम के फलस्वरूप उजरती मज़दूर और पूंजीपति दोनों का जन्म हुआ है, उसका प्रस्थान-बिंदु मजदूर की गुलामी था। प्रगति इस बात में हुई थी कि इस गुलामी का रूप बदल गया था और सामन्ती शोषण पूंजीवादी शोषण में रूपान्तरित हो गया था। इस विकास-क्रम को समझने के लिये हमें बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि पूंजीवादी उत्पादन की शुरूआत के कुछ स्वतःस्फूर्त प्रारम्भिक चिन्ह हमें इक्के-दुक्के ढंग से भूमध्यसागर के कुछ नगरों में १४वीं या १५वीं शताब्दी में भी मिलते हैं, तथापि पूंजीवादी युग का श्रीगणेश १६वीं शताब्दी से ही हुआ है। पूंजीवाद केवल उन्हीं स्थानों में प्रकट होता है, जहां कृषि-दास-प्रथा बहुत दिन पहले समाप्त कर दी गयी है और जहां मध्ययुगीन विकास की सर्वोच्च देन, प्रभुसत्तासम्पन्न नगर, काफ़ी समय से पतनोन्मुख अवस्था में हैं।

आद्िम संचय के इतिहास में ऐसी तमाम क्रान्तियां युगान्तरकारी होती हैं, जो विकासमान पूंजीपति वर्ग के लिये लीवर का काम करती हैं। सबसे अधिक

यह बात उन क्षणों के लिये सच है, जब बड़ी संख्या में मनुष्यों को यकायक और ज़बर्दस्ती उनके जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग कर दिया जाता है और स्वतंत्र एवं "अनाश्रित" सर्वहारा के रूप में श्रम की मण्डी में फेंक दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया का आधार है खेतिहर उत्पादक – किसान – की ज़मीन का उससे छीन लिया जाना। इस भूमि-अपहरण का इतिहास अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप धारण करता है और हर जगह एक भिन्न क्रम में तथा भिन्न कालों में अपनी अनेक अवस्थाओं में से गुज़रता है। उसका प्रतिनिधि रूप केवल इंगलैंड में देखने को मिलता है, जिसको हम आगे मिसाल की तरह पाठकों के सामने पेश करेंगे।*

सत्ताईसवां अध्याय

खेतिहर आबादी की ज़मीनों का अपहरण

इंगलैंड में १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कृषि-दास-प्रथा का वस्तुतः अन्त हो गया था। उस समय – और १५वीं शताब्दी में तो और भी अधिक परिमाण में – आबादी की प्रबल बहुसंख्या** ऐसे स्वतंत्र किसानों की थी, जो

---

*इटली में, जहां पूंजीवादी उत्पादन सबसे पहले शुरू हुआ था, कृषि-दास-प्रथा भी अन्य स्थानों की अपेक्षा पहले छिन्न-भिन्न हो गयी थी। भूमि पर कोई रूढ़िगत अधिकार प्राप्त करने के पहले ही वहां का कृषि-दास मुक्त कर दिया गया था। वह मुक्त हुआ, तो तुरन्त ही स्वतंत्र सर्वहारा में बदल गया और वह भी एक ऐसे सर्वहारा में जिसका मालिक उन शहरों में बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो प्रायः रोमन काल से विरासत में मिले थे। जब १५वीं शताब्दी के समाप्त होने के लगभग विश्व-मण्डी में क्रान्ति[60] आयी और उसने वाणिज्य के क्षेत्र में उत्तरी इटली की श्रेष्ठता का अन्त कर दिया, तो एक उल्टा विकास-क्रम आरम्भ हुआ। तब शहरों के मज़दूरों को बड़ी संख्या में गांवों में खदेड़ दिया गया, और उससे बाग़बानी के ढंग की छोटे पैमाने की खेती को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

**"उस समय... ख़ुद अपने हाथों से अपने खेतों को जोतने-बोनेवाले और कम सामर्थ्यवाले छोटे मालिक किसान... आजकल की अपेक्षा राष्ट्र के अधिक महत्त्वपूर्ण भाग थे। यदि उस युग के आंकड़ों का विवेचन करनेवाले सबसे अच्छे लेखकों पर विश्वास किया जाये, तो हम यह पाते हैं कि उन दिनों कम से कम १,६०,००० मालिक छोटी-छोटी माफ़ी ज़मींदारियों (freehold estates) के सहारे जीवन-निर्वाह करते थे। अपने परिवारों के साथ ये लोग

अपनी भूमि के मालिक थे, भले ही उनका स्वामित्व कैसे भी सामन्ती अधिकार के पीछे छिपा रहा हो। ज्यादा बड़ी जागीरों में पुराने bailiff (कारिन्दे) का, जो खुद भी किसी समय कृषि-दास था, स्वतंत्र कृषक ने स्थान ले लिया था। खेती में उजरती मजदूरों का एक भाग किसानों का था, जो अवकाश के समय का उपयोग करने के लिये बड़ी जागीरों पर काम करने चले आते थे, और दूसरा भाग वेतनभोगी उजरती मजदूरों के एक स्वतंत्र विशिष्ट वर्ग का था, जिनकी संख्या सापेक्ष एवं निरपेक्ष दृष्टि से बहुत कम थी। इन मजदूरों को एक तरह से किसान भी कहा जा सकता था, क्योंकि मज़दूरी के अलावा उनको अपने घरों के साथ-साथ ४ एकड़ या उससे ज्यादा खेती के लायक़ ज़मीन भी मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त, अन्य किसानों के साथ-साथ इन लोगों को भी गांव की सामुदायिक भूमि के उपयोग का अधिकार मिला हुआ था, जिस पर उनके ढोर चरते थे और जिससे उनको इमारती लकड़ी, जलाने के लिये लकड़ी, पीट, आदि मिल जाती थी।* यूरोप के सभी देशों में सामन्ती उत्पादन का

उस ज़माने की कुल आबादी के सातवें हिस्से से ज़्यादा रहे होंगे। इन छोटे ज़मींदारों की औसत आय... लगभग ६०–७० पौण्ड वार्षिक के बीच होती थी। हिसाब लगाया गया था कि खुद अपनी ज़मीन जोतनेवाले व्यक्तियों की संख्या उन लोगों से अधिक थी, जो दूसरों की ज़मीन जोतते थे।" (Macaulay, «*History of England*», 10 th ed,, London, 1854, v. I, pp. 333, 334). १७ वीं शताब्दी की आख़िरी तिहाई में भी इंगलैंड के रहनेवालों में पांच में से चार आदमी खेती का धंधा करते थे। (वही, p. 413.) — मैंने मैकाले को इसलिये उद्धृत किया है कि इतिहास को सुनियोजित ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश करनेवाले लेखक के रूप में वह इस प्रकार के तथ्यों पर सदा कम से कम ज़ोर देते हैं।

* हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि कृषि-दास केवल अपने घर के साथ जुड़े हुए ज़मीन के टुकड़े का ही मालिक नहीं होता था — हालांकि उसे इस ज़मीन के लिये अपने सामन्त को ख़िराज देना पड़ता था — बल्कि अन्य लोगों के साथ-साथ उसका भी गांव की सामुदायिक भूमि पर अधिकार माना जाता था। मिराबो ने लिखा है कि (फ़्रेडरिक द्वितीय के राज्यकाल में सिलेशिया में) "किसान कृषि-दास होता है।" परन्तु इन कृषि-दासों का सामुदायिक भूमि पर अधिकार होता था। "सिलेशिया के लोगों को अभी तक सामुदायिक भूमि को बांट लेने के लिये राज़ी नहीं किया जा सका है, हालांकि नैमार्क में मुश्किल से ही कोई ऐसा गांव होगा, जहां इस तरह का बंटवारा अत्यधिक सफलता के साथ नहीं कर दिया गया है।" (Mirabeau, «*De la Monarchie Prussienne*», Londres, 1788, t. II, pp. 125, 126.)

विशेष लक्षण यह है कि ज़मीन सामन्तों के अधीन किसानों की बड़ी से बड़ी संख्या में बंटी रहती है। अधिपति की भांति, सामन्ती प्रभु की शक्ति भी उसकी जमाबन्दी की लम्बाई पर नहीं, बल्कि उसके प्रजा-जनों की संख्या पर निर्भर करती थी; और उसकी प्रजा की संख्या भूमिपति किसानों की संख्या पर निर्भर करती थी। इसलिये, यद्यपि इंगलैंड की ज़मीन नार्मन विजय के बाद[61] बड़ी-बड़ी जागीरों* (baronies) में बंट गयी थी, जिनमें से एक-एक में अक्सर नौ-नौ सौ पुरानी एंग्लो-सैक्सन ज़मींदारियां शामिल थीं, फिर भी सारे देश में किसानों की छोटी-छोटी भूसम्पत्तियां बिखरी हुई थीं और बड़ी-बड़ी जागीरें केवल उनके बीच-बीच में जहां-तहां पायी जाती थीं। इन्हीं परिस्थितियों का और १५ वीं शताब्दी में ख़ास तौर पर शहरों में जो समृद्धि पायी जाती थी, उसका यह फल था कि आम लोगों का धन ख़ूब बढ़ गया था, जिसका चांसलर फ़ोर्टेस्क्यु ने अपनी रचना «*Laudibus legum Angliae*» में बहुत ज़ोरदार वर्णन किया है। लेकिन इन परिस्थितियों के कारण पूंजीवादी धन का बढ़ना असम्भव था।

जिस क्रान्ति ने उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डाली, उसकी प्रस्तावना १५ वीं शताब्दी की आख़िरी तिहाई में और १६ वीं शताब्दी के पहले दशकों में तैयार हो गयी थी। इस काल में सामन्तों के भृत्यों के दस्ते, जिनसे, सर जेम्स स्टूअर्ट के न्यायोचित शब्दों में, "हर घर और क़िला व्यर्थ में भरा रहता था,"[62] भंग कर दिये गये, और इसके फलस्वरूप स्वतंत्र सर्वहाराओं की एक बहुत बड़ी संख्या श्रम की मण्डी में झोंक दी गयी। यद्यपि यह सच है कि राज-शक्ति ने, जो ख़ुद भी पूंजीवादी विकास की उपज थी, अपनी अबाध प्रभुसत्ता क़ायम करने के लिये संघर्ष करते हुए भृत्यों के इन दलों को बलपूर्वक जल्दी-जल्दी भंग करा दिया था, तथापि इनके भंग हो जाने का यही एक कारण नहीं था। इससे कहीं अधिक बड़ा सर्वहारा वर्ग बड़े-बड़े सामन्तों ने राजा और संसद के विरुद्ध धृष्टतापूर्वक संघर्ष करते हुए, किसानों को ज़बर्दस्ती उन ज़मीनों से खदेड़कर, जिन पर उनका भी ख़ुद सामन्तों के समान ही सामन्ती अधिकार था, और

---

*इतिहास की हमारी सभी पुस्तकें प्रायः पूंजीवादी पूर्वाग्रहों के साथ लिखी गयी हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा तो यूरोपीय मध्य युग का कहीं अधिक सच्चा चित्र हमें जापान में देखने को मिलता है, जहां भूसम्पत्ति का विशुद्ध सामन्ती ढंग का संगठन और छोटे पैमाने की खेती विस्तृत रूप में पायी जाती है। मध्य युग को कोसकर "उदारपंथी" कहलाना बहुत सुविधाजनक रहता है।

सामुदायिक भूमि को छीनकर पैदा कर दिया। फ्लैण्डर्स में ऊन के मैनुफ़ैक्चरों का तेज़ विकास होने और उसके साथ-साथ इंगलैंड में ऊन का भाव बढ़ जाने से इन बेदख़लियों को प्रत्यक्ष रूप में बढ़ावा मिला। पुराना अभिजात वर्ग बड़े-बड़े सामन्ती युद्धों में मर-खप गया था। नया अभिजात वर्ग अपने युग की सन्तान था, जिसके लिये पैसा ही सबसे बड़ी ताक़त था। इसलिये उसका नारा था कि कृषियोग्य ज़मीनों को भेड़ों की चरागाहों में बदल डालो! हैरीसन ने अपनी रचना *«Description of England, prefixed to Holinshed's Chronicles»* में बताया है कि छोटे किसानों की ज़मीनों के छिन जाने के फलस्वरूप किस प्रकार देश चौपट हुआ जा रहा है। पर "what care our great encroachers ?" (जमीन छीननेवाले बड़े लोगों को इसकी क्या चिन्ता है?)। किसानों के घर और मज़दूरों के झोंपड़े गिरा दिये गये हैं या सड़-गलकर गिर जाने के लिये छोड़ दिये गये हैं। हैरिसन ने लिखा है: "यदि किसी भी जागीर के काग़ज़ देखे जायें, तो शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कुछ जागीरों पर सत्रह, अठारह या बीस घर तक नष्ट हो गये हैं... और इंगलैंड में आजकल जितनी कम आबादी है, उतनी कम पहले कभी न थी... मैं ऐसे अनेक शहरों और क़स्बों का वर्णन कर सकता हूं,.. जो या तो बिल्कुल तबाह हो गये हैं या जिनका चौथाई या आधा भाग बरबाद हो गया है, हालांकि यह भी मुमकिन है कि जहां-तहां एकाध शहर पहले से थोड़ा बढ़ गया हो; और मैं ऐसे क़स्बों के बारे में भी कुछ बता सकता हूं, जिनको गिराकर भेड़ों की चरागाहें बना दी गई हैं और जिनकी जगहों पर अब केवल सामन्ती प्रभुओं के महल खड़े हैं।" इन पुराने इतिहासकारों की शिकायतों में कुछ अतिशयोक्ति हमेशा रहती है, परन्तु उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उस ज़माने में उत्पादन की परिस्थितियों में जो क्रांति आयी थी, उसका उस ज़माने के लोगों के दिमाग़ों पर क्या असर पड़ा था। चांसलर फ़ोर्टेस्क्यु और टामस मोर की रचनाओं की तुलना कीजिये; यह स्पष्ट हो जायेगा कि १५वीं और १६वीं शताब्दियों के बीच कितनी बड़ी खाई है। जैसा कि थार्नटन ने ठीक ही कहा है, अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग को किसी संक्रमण-काल से नहीं गुज़रना पड़ा, बल्कि उसको तो यकायक स्वर्ण-युग से उठाकर सीधे लौह-युग में पटक दिया गया।

क़ानून बनानेवाले इस क्रान्ति को देखकर भयभीत हो उठे। अभी तक वे सभ्यता के उस शिखर पर नहीं पहुंचे थे, जहां "wealth of the nation" [राष्ट्र के धन] को बढ़ाना (अर्थात् पूंजी का निर्माण तथा जनसाधारण का

निर्मम शोषण करना और उसकी ग़रीबी को लगातार बढ़ाते जाना) हर प्रकार की राज्य संचालन नीति की ultima Thule [पराकाष्ठा] समझा जाता है। हेनरी सप्तम की जीवनी में बेकन ने लिखा है: "उस समय (१४८९ में) सामुदायिक ज़मीन को घेरकर अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेने का चलन बहुत बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप कृषियोग्य ज़मीन (जिसे लोगों और उनके बाल-बच्चों के अभाव में जोतना-बोना सम्भव नहीं था) चरागाह में बदल दी गयी, जिसपर चन्द गड़रिये बड़ी आसानी से ढोरों के रेवड़ की देखभाल कर सकते थे; और जिन ज़मीनों पर किसानों को एक निश्चित अवधि के लिये, जीवन भर के लिये या अस्थायी अधिकार मिला हुआ था (और अधिकतर "yeomen"– स्वतंत्र कृषक – इसी प्रकार की ज़मीनों पर रहते थे), वे सामन्तों की सीर बन गयीं। इससे लोगों का पतन होने लगा और (उसके फलस्वरूप) शहरों, धर्म-संगठनों, दशांश-व्यवस्था, आदि का पतन होने लगा... इस बुराई को दूर करने के लिये राजा और उस काल की संसद ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया... उन्होंने आबादी को उजाड़नेवाली इस अहाताबन्दी (depopulating inclosures) को और आबादी को उजाड़नेवाली इन चरागाहों की प्रथा (depopulating pasturage) को बन्द कर देने के लिये क़दम उठाया।" हेनरी सप्तम के राज्यकाल के १४८९ के एक क़ानून (अध्याय १९) के द्वारा "ऐसे तमाम काश्तकारों के मकानों" को गिराने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, जो कम से कम २० एकड़ ज़मीन के मालिक थे। हेनरी अष्टम के राज्यकाल के २५ वें वर्ष में बनाये गये क़ानून के अनुसार यह प्रतिबंध फिर से लगा दिया गया। इस क़ानून में अन्य बातों के अलावा यह भी कहा गया है कि "बहुत-से फ़ार्म और ढोरों के – विशेषकर भेड़ों के – बड़े-बड़े रेवड़ चन्द आदमियों के हाथों में संकेन्द्रित हो गये हैं, जिसके फलस्वरूप ज़मीन का लगान बहुत बढ़ गया है और खेती के रक़बे (tillage) में कमी आ गयी है, बहुत-से गिरजाघर और मकान गिरा दिये गये हैं और अतिविशाल संख्या में लोगों से ऐसे तमाम साधन छीन लिये गये हैं, जिनसे वे अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पाल सकते थे।" चुनांचे इस क़ानून के ज़रिये आदेश दिया गया कि जीर्ण फ़ार्मों को फिर से तैयार किया जाये, और अनाज की कृषियोग्य ज़मीन तथा चरागाह की ज़मीन का अनुपात निश्चित कर दिया गया, इत्यादि-इत्यादि। १५३३ के एक क़ानून में कहा गया है कि कुछ मालिकों के पास २४,००० भेड़ें हैं, और उसके ज़रिये यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि

कोई व्यक्ति २,००० से अधिक भेड़ें नहीं रख सकता।* छोटे काश्तकारों और किसानों के सम्पत्ति-अपहरण के विरुद्ध लोगों ने बहुत शोर मचाया और हेनरी सप्तम के बाद डेढ़ सौ वर्ष तक इस सम्पत्ति-अपहरण को रोकने के लिये अनेक क़ानून भी बनाये गये। लेकिन दोनों ही चीज़ें व्यर्थ सिद्ध हुईं। लोगों की शिकायतों और इन क़ानूनों के निकम्मेपन का क्या रहस्य था, यह बेकन ने हमें अनजाने में बता दिया है। उन्होंने अपनी «*Essays, Civil and Moral*» [नागरिक और नैतिक निबंधावली] के २९ वें निबंध में लिखा है कि "हेनरी सप्तम ने एक बहुत ही गूढ़ और प्रशंसनीय उपाय खोज निकाला था। वह यह कि काश्तकारों के फ़ार्मों और घरों को एक निश्चित अनुपात के अनुसार बनाया जाये, अर्थात् उनको इस अनुपात में ज़मीन दी जाये, जिससे प्रजा-जन दासत्व की स्थिति में न रहें, बल्कि सुविधाजनक समृद्धि में जीवन व्यतीत करें, और जिससे हल महज़ भाड़े के मज़दूरों के हाथों में न रहकर मालिकों के हाथ में रहे" ("to keep the plough in the hands of the owners and not mere hirelings")**।

---

*टामस मोर ने अपनी पुस्तक «*Utopia*» में कहा है कि इंगलैंड में "तुम्हारी वे भेड़ें, जो कभी इतनी नम्र और विनीत और इतनी मिताहारी हुआ करती थीं, अब मैं सुनता हूं कि ऐसी सर्वभक्षी और इतनी जंगली हो गयी हैं कि ख़ुद मनुष्यों को ही चबाकर निगल जाती हैं।" «*Utopia*», transl. by Robinson, ed. Arber, London, 1869, p. 41.

**बेकन ने इस ओर भी संकेत किया है कि स्वतंत्र और खाते-पीते किसानों तथा अच्छी पैदल सेना के बीच क्या संबंध होता है। "राज्य की शक्ति और आचरण से इस बात का घनिष्ठ संबंध था कि फ़ार्मों को ऐसे आकार का रखा जाये, जो समर्थ मनुष्य को अभाव से बचाकर जीवित रखने के लिये पर्याप्त हों; और इससे राज्य की ज़मीन का एक बड़ा भाग सचमुच काश्तकारों (yeomanry) या मध्य वर्ग के ऐसे लोगों की काश्त और क़ब्ज़े में आ गया है, जिनकी हैसियत भद्र पुरुषों और झोंपड़ों में रहनेवालों (cottagers) तथा किसानों के बीच की है... कारण कि युद्ध-सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ जानकारी रखनेवाले लोगों का सामान्य मत यह है कि युद्धों में... किसी भी सेना की मुख्य शक्ति पैदल सैनिकों की होती है। और अच्छी पैदल सेना भर्ती करने के लिये ज़रूरी होता है कि लोगों का लालन-पालन दासत्व अथवा अभाव की अवस्था में न होकर स्वतंत्रता एवं समृद्धि में हुआ हो। इसलिये, यदि किसी राज्य में केवल सामन्तों और भद्र पुरुषों का ही ख़याल रखा जाता है और काश्तकार तथा हल चलानेवाले महज़ उनके टहलुए और मज़दूरों की तरह होते हैं या उनकी हैसियत केवल झोंपड़ों में रहनेवालों की

दूसरी ओर, पूंजीवादी व्यवस्था के लिये यह आवश्यक था कि जनसाधारण पतन और लगभग दासत्व की स्थिति में हों, उनको भाड़े के टट्टुओं में परिणत कर दिया जाये और उनके श्रम के साधनों को पूंजी में बदल दिया जाये। परिवर्तन के इस काल में क़ानून बनाकर इस बात की भी कोशिश की गयी कि खेतिहर उजरती मज़दूर के झोंपड़े के साथ ४ एकड़ ज़मीन का टुकड़ा जुड़ा रहे, और उसे अपने झोंपड़े में किरायेदार रखने की मनाही कर दी गयी। चार्ल्स प्रथम के राज्यकाल में फ़ण्ट-मिल के रोजर क्रोकर को १६२७ में इस बात के लिये सज़ा दी गयी कि उसने फ़ण्ट-मिल की अपनी ज़मींदारी में एक झोंपड़ा बना लिया था, हालांकि उसके साथ ४ एकड़ ज़मीन का कोई टुकड़ा स्थायी रूप से नहीं जुड़ा हुआ था। इसके बाद, चार्ल्स प्रथम के राज्यकाल के समय, १६३८ में पुराने क़ानूनों को—ख़ास कर ४ एकड़ ज़मीनवाले क़ानून को—अमल में लागू करने के लिये एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। यहां तक कि क्रॉमवेल के समय में भी लन्दन के ४ मील के घेरे में उस समय तक कोई मकान नहीं बनाया जा सकता था, जब तक कि उसके साथ ४ एकड़ ज़मीन न हो। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी यदि किसी खेतिहर मज़दूर के झोंपड़े के साथ दो-एक एकड़ ज़मीन का कोई टुकड़ा नहीं जुड़ा होता था, तो शिकायत कर दी जाती थी। आजकल यदि उसे अपने झोंपड़े के साथ एक छोटा-सा बग़ीचा लगाने के लिये ज़रा-सी ज़मीन मिल जाती है या वह अपने झोंपड़े से काफ़ी दूर दो-एक रूड (चौथाई एकड़) ज़मीन लगान पर ले सकता है, तो वह अपने को बहुत सौभाग्यशाली समझता है। डा० हंटर ने लिखा है—"इस मामले में ज़मींदारों और काश्तकारों

होती है (जो आश्रय-प्राप्त भिखारियों से अधिक कुछ नहीं होते), तो उस राज्य में घुड़सवार सेना तो अच्छी बन सकती है, लेकिन अच्छे और टिकाऊ पैदल दस्ते कभी नहीं भर्ती किये जा सकते... और फ़्रांस और इटली में तथा अन्य कई विदेशी इलाक़ों में यही स्थिति है। वहां असल में या तो अभिजात वर्ग के लोग हैं या किसान हैं... यहां तक कि इन देशों को अपनी पैदल पलटनों के लिये स्विट्ज़रलैंडवासियों में से या किसी और देश के रहनेवालों में से भाड़े के सिपाही भर्ती करने पड़ते हैं; और उसका यह नतीजा भी होता है कि इन देशों में रहनेवालों की संख्या तो बहुत बड़ी होती है, पर वहां सिपाही बहुत कम होते हैं।" *«The Reign of Henry VII etc. Verbatim Reprint from Kennet's England, ed. 1719»*, London, 1870, p. 308.)

की मिली-भगत रहती है। झोंपड़े के साथ यदि दो-एक एकड़ ज़मीन भी हो, तो मज़दूर अत्यधिक स्वतंत्र हो जायें।"*

लोगों की सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण कर लेने की क्रिया को १६ वीं शताब्दी में रोमन Reformation[63] से और उसके फलस्वरूप चर्च की सम्पत्ति की ज़बर्दस्त लूट से एक नया और जबर्दस्त बढ़ावा मिला। चर्च-सुधार के समय कैथोलिक चर्च इंगलैंड की भूमि के एक बहुत बड़े हिस्से का सामन्ती स्वामी था। जब मठों, आदि पर ताले डाल दिये गये, तो उनमें रहनेवाले लोग सर्वहारा की पांतों में भर्ती हो गये। चर्च की जागीरें अधिकतर राजा के लुटेरे कृपा-पात्रों को दे दी गयीं या नाम मात्र के दाम पर सट्टेबाज़ काश्तकारों और नागरिकों के हाथ बेच दी गयीं, जिन्होंने सारे के सारे पुश्तैनी शिकमीदारों को ज़मीन से खदेड़ दिया और उनकी जोतों को मिलाकर एक कर लिया। क़ानून ने अधिक ग़रीब लोगों को चर्च के दशांश में से एक भाग पाने का अधिकार दे रखा था; अब वह अधिकार भी छीन लिया गया।** रानी एलिज़ाबेथ इंगलैंड की यात्रा करने के बाद चिल्ला पड़ी थीं कि "pauper ubique jacet."[64] उसके राज्यकाल के ४३ वें वर्ष में राष्ट्र को ग़रीबों की आर्थिक सहायता करने के लिये कर लगाकर सरकारी तौर पर यह मान लेना पड़ा कि देश में मुहताजी फैली हुई है। "मालूम होता है कि इस क़ानून के रचयिताओं को यह बताने में संकोच होता था कि इस प्रकार का क़ानून बनाने की आवश्यकता क्यों हुई, क्योंकि (परम्परागत प्रथा के विपरीत) इस क़ानून में किसी भी प्रकार की प्रस्तावना नहीं है।"*** चार्ल्स

---

* Dr. Hunter, «*Public Health. 7 th Report 1864*», London, 1865, p. 134. "(पुराने क़ानूनों के अनुसार) जितनी ज़मीन होनी चाहिये थी, वह अब मज़दूरों के लिये बहुत अधिक समझी जाती है, और लोगों का विचार है कि इतनी अधिक ज़मीन तो मज़दूरों को छोटे फ़ार्मरों में बदल देगी।" (George Roberts, «*The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries*». London, 1856, pp. 184—185.)

** "दशांश पर ग़रीबों का अधिकार प्राचीन काल के क़ानूनों के अनुसार स्थापित है।" (J. D.Tuckett, «*A History of the Past and Present State of the Labouring Population, including the Progress of Agriculture, Manufactures and Commerce. In two volumes*». London, 1846, Vol. II, pp. 804—805.)

*** William Cobbett, «*A History of the Protestant Reformation*», §471.

प्रथम के राज्यकाल के १६ वें वर्ष में बनाये गये क़ानून के चौथे अध्याय के द्वारा ग़रीबों की आर्थिक सहायता के इस क़ानून को एक चिरस्थायी क़ानून घोषित कर दिया गया, और असल में तो कहीं १८३४ में जाकर ही इस क़ानून ने एक नया और अधिक कड़ा रूप धारण किया।* चर्च-सुधार के ये तात्कालिक परिणाम उसके

---

*अन्य बातों के अलावा, निम्नलिखित उदाहरण से भी प्रोटेस्टेण्ट मत की "भावना" स्पष्ट हो जाती है। दक्षिणी इंगलैंड के कुछ भूस्वामियों और खाते-पीते काश्तकारों ने आपस में मन्त्रणा करके एलिज़ाबेथ के काल में बनाये गये ग़रीबों की आर्थिक सहायता के क़ानून की सही व्याख्या के विषय में दस प्रश्न तैयार किये। और इन प्रश्नों को उन्होंने उस काल के एक विख्यात क़ानूनदां, सार्जेण्ट स्निग (जो बाद को, जेम्स प्रथम के काल में, जज नियुक्त हुए) के सामने पेश किया और उनकी राय मांगी। "प्रश्न ६ यह था कि इस इलाक़े (parish) के कुछ अपेक्षाकृत अधिक धनी काश्तकारों ने एक धूर्ततापूर्ण उपाय ढूंढ़ निकाला है, जिससे इस क़ानून को (एलिज़ाबेथ के राज्यकाल के ४३ वें वर्ष में बनाये गये क़ानून को) अमल में लाने के सारे झंझट से बचा जा सकता है। उनका सुझाव है कि इस इलाक़े (parish) में एक जेलख़ाना बनाया जाये और फिर आस-पड़ोस के लोगों से यह कह दिया जाये कि यदि कुछ लोग इस इलाक़े (parish) के ग़रीबों के जीवन-निर्वाह का ठेका लेना चाहते हैं, तो वे किसी निश्चित दिन अपने मुहरबंद सुझाव दाख़िल कर दें कि वे कम से कम कितने पैसों में इन ग़रीबों की परवरिश की ज़िम्मेदारी हमारे कंधों से ले सकते हैं। साथ ही यह बात भी साफ़ कर दी जानी चाहिये कि यदि कोई ग़रीब आदमी उपर्युक्त जेलख़ाने में बन्द कर दिये जाने के लिये तैयार नहीं होगा, तो उसे किसी भी तरह की आर्थिक सहायता से इनकार करना पड़ेगा। इस योजना के प्रस्तावकों का विचार है कि आस-पास की काउण्टियों में ऐसे अनेक आदमी मिलेंगे, जो श्रम करने को तैयार नहीं हैं और जिनके पास इतने साधन या इतनी साख भी नहीं है कि श्रम किये बिना जीवन-निर्वाह के लिये कोई फ़ार्म या जहाज ले सकें, और इसलिये जो, सम्भव है इस सम्बन्ध में इलाक़े (parish) के सामने कोई बहुत लाभदायक सुझाव रखने को प्रेरित हों। यदि ग़रीबों में से कोई आदमी ठेकेदार की देखरेख में मर जाता है, तो इसका पाप ठेकेदार के सिर पर पड़ेगा, क्योंकि इलाक़ा (parish) तो उसे ठेकेदार को सौंपकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुका होगा। लेकिन हमें डर है कि मौजूदा क़ानून (एलिज़ाबेथ के राज्यकाल के ४३ वें वर्ष में बनाया गया क़ानून) इस तरह का विवेकसंगत क़दम उठाने की इजाज़त नहीं देगा। मगर आपको मालूम होना चाहिए कि इस काउण्टी के और पड़ोस की 'ख' नामक काउण्टी के बाक़ी माफ़ीदार अपने भाईबन्दों को एक ऐसे क़ानून का प्रस्ताव करने की सलाह देने के लिये बड़ी आसानी से तैयार हो जायेंगे,

अधिक स्थायी परिणाम नहीं थे। चर्च की सम्पत्ति भूस्वामित्व की परम्परागत व्यवस्था का धार्मिक आधार बनी हुई थी। उसके पतन के साथ ही इस व्यवस्था का क़ायम रहना भी असम्भव हो गया।*

१७वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भी yeomanry – स्वतंत्र किसानों का वर्ग – काश्तकारों के वर्ग से संख्या में अधिक था। क्रॉमवेल की शक्ति का मुख्य आधार ये ही लोग थे, और यहां तक कि मैकाले भी यह बात मानता है कि

जिसमें किसी व्यक्ति को ग़रीबों को ताले में बन्द करके उनसे काम लेने का ठेका देने की व्यवस्था हो और जिसके ज़रिये यह घोषणा कर दी जाये कि जो व्यक्ति इस तरह ताले में बन्द होकर काम करने से इनकार करेगा, वह किसी भी प्रकार की सहायता पाने का अधिकारी नहीं होगा। आशा की जाती है कि इस प्रकार का क़ानून ग़रीब लोगों को सार्वजनिक सहायता मांगने से रोकेगा और इस तरह बस्तियों का सार्वजनिक ख़र्च कम हो जायेगा।" (R. Blakey, «*The History of Political Literature from the Earliest Times*», London, 1855, vol. II, pp. 84—85). स्कॉटलैण्ड में कृषि-दासप्रथा का अन्त इंगलैंड की अपेक्षा कुछ शताब्दियों बाद हुआ था। यहां तक कि १६९८ में भी साल्टून-निवासी फ़्लेटचर ने स्कॉट संसद में यह कहा था कि "स्कॉटलैण्ड में भिखारियों की संख्या २,००,००० से कम नहीं समझी जाती। मैं सिद्धान्ततः प्रजातन्त्रवादी हूं और फिर भी मैं इसकी एक यही दवा सुझा सकता हूं कि कृषि-दासप्रथा को फिर से चालू कर दिया जाये और जो लोग ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह का कोई प्रबन्ध नहीं कर सकते, उन सब को दास बना दिया जाये।" ईडन ने अपनी रचना «*The State of the Poor*», London, 1797, Book I, ch. 1, pp. 60-61 में लिखा है: "कृषि-दासप्रथा के ह्रास का युग ही वह युग था, जब मुहताजों का जन्म हुआ था। मैनुफ़ैक्चर और वाणिज्य हमारे राष्ट्र के मुहताजों के दो जनक हैं।" हमारे उस सिद्धान्ततः प्रजातंत्रवादी स्कॉट की तरह ईडन ने भी केवल यही एक ग़लती की है: खेतिहर मज़दूर यदि सर्वहारा और अन्त में मुहताज बन गया, तो इसका कारण यह नहीं था कि कृषि-दासप्रथा का अन्त कर दिया गया था, बल्कि यह कि धरती पर खेतिहर मज़दूर का कोई स्वामित्व नहीं रह गया था। फ़्रांस में यह सम्पत्ति-अपहरण एक और ढंग से सम्पन्न हुआ। इंगलैंड में जो काम ग़रीबों की सहायता के क़ानूनों ने किया था, वहां वही काम मूलां के आर्डिनेंस (१५६६) ने और १६५६ के फ़रमान ने पूरा किया।

*यद्यपि प्रोफ़ेसर राजर्स पहले प्रोटेस्टेंट कट्टरता के गढ़ – ओक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालय – में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे, तथापि उन्होंने «*History of Agriculture*» की भूमिका में इस तथ्य पर ज़ोर दिया है कि चर्च-सुधार के फलस्वरूप साधारण लोग मुहताज बन गये हैं।

शराब के नशे में चूर ज़मींदारों और उनकी नौकरी करनेवाले, उन देहाती पादरियों की तुलना में, जिन्हें अपने मालिकों की छोड़ी हुई रखैलों के विवाह की व्यवस्था करनी पड़ती थी, ये स्वतंत्र किसान कहीं अधिक योग्य सिद्ध होते थे। १७५० के लगभग स्वतंत्र किसानों के इस वर्ग (yeomanry) का लोप हो गया था,* और उसके साथ-साथ १८वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में खेतिहरों की सामुदायिक भूमि का भी आख़िरी निशान तक ग़ायब हो गया था। यहां हम खेती में होनेवाली क्रान्ति के विशुद्ध आर्थिक कारणों पर विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हम केवल ज़ोर-ज़बर्दस्ती के तरीक़ों की चर्चा कर रहे हैं।

स्टूअर्ट राजवंश की पुनःस्थापना हो जाने[65] के बाद भूस्वामियों ने क़ानूनी उपायों से एक ऐसा सत्ता-अपहरण किया, जो महाद्वीपीय यूरोप में हर जगह बिना किसी क़ानूनी औपचारिकता के सम्पन्न हुआ था। उन्होंने भूमि की सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया, अर्थात् भूमि को राज्य के प्रति तमाम ज़िम्मेदारियों से मुक्त कर दिया; राज्य की "क्षति-पूर्ति" इस तरह की गयी कि किसानों और बाक़ी जनता पर कर लगा दिये गये; जिन जागीरों पर उनको पहले केवल सामन्ती अधिकार प्राप्त था, उनपर उनको आधुनिक ढंग के निजी स्वामित्व का अधिकार मिल गया; और, अन्त में, उन्होंने बन्दोबस्त के ऐसे क़ानून ("laws of settlement") बना दिये, जिनका mutatis mutandis (कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ) अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूरों पर वही प्रभाव हुआ, जो रूसी किसानों पर तातार बरीस गोदुनोव के फ़रमान का हुआ था।[66]

"Glorious Revolution" (गौरवशाली क्रान्ति)[67] के परिणामस्वरूप सत्ता

---

* देखिये «*A Letter to Sir T. C. Bunbury, Bart., on the High Price of Provisions*». *By a Suffolk Gentleman*, Ipswich, 1795, p. 4. यहां तक कि बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के कट्टर समर्थक, «*Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions*», London, 1773, p. 139 के लेखक ने भी यह लिखा है कि "स्वतंत्र किसानों के उस वर्ग (yeomanry) के नष्ट हो जाने का मुझे अत्यधिक दुःख है, जिसने ही वास्तव में इस राष्ट्र की स्वाधीनता को सुरक्षित रखा था, और मुझे यह देखकर बड़ा अफ़सोस होता है कि उन लोगों की ज़मीनें अब एकाधिकारी प्रभुओं के हाथों में चली गयी हैं, जो उनको छोटे काश्तकारों को लगान पर उठा देते हैं; और इन काश्तकारों के पट्टों के साथ ऐसी-ऐसी शर्तें लगी रहती हैं, जिनके फलस्वरूप उनकी दशा लगभग उन ग़ुलामों के समान हो जाती है, जिन्हें मामूली-सी गड़बड़ के लिये जवाब देना पड़ता है।"

ओरेंज के विलियम* के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य हड़पनेवाले ज़मींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में चली गयी। उन्होंने सरकारी ज़मीनों की बहुत ही बड़े पैमाने पर लूट मचाकर नये युग का समारम्भ किया – इसके पहले यह लूट कुछ छोटे पैमाने पर होती थी। ये राजकीय जागीरें इनाम में दे दी गयीं, हास्यास्पद दामों पर बेच दी गयीं या यहां तक कि सीधे-सीधे ज़बर्दस्ती करके निजी जागीरों में मिला ली गयीं।** और यह सब करते हुए क़ानूनी शिष्टाचार की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार जिन राजकीय ज़मीनों पर धोखाधड़ी के ज़रिये अधिकार कर लिया गया और चर्च की जिन जागीरों को लूट लिया गया, वे जिस हद तक प्रजातन्त्रवादी क्रान्ति के समय फिर अपने नये मालिकों के हाथों से नहीं चली गयीं, उस हद तक उन्हीं ज़मीनों से अंग्रेज़ अल्पतंत्र की वर्तमान बड़ी-बड़ी जागीरों का आधार तैयार हुआ है।*** पूंजीपतियों ने इस क्रिया का,

---

*इस पूंजीवादी नायक के निजी नैतिक चरित्र के विषय में, अन्य बातों के अलावा, यह अंश भी देखिये: "१६९५ में लेडी ओर्कनी को आयरलैण्ड में जो बड़ी जागीर इनाम में दी गयी, वह राजा के प्रेम का और इस महिला के प्रभाव का एक सार्वजनिक प्रमाण है... समझा जाता है कि लेडी ओर्कनी का प्रीतिकर कार्य यह था कि उनको foeda labiorum ministeria [ओठों का असम्मानप्रद कार्य] करना पड़ता था।" (ब्रिटिश संग्रहालय में *Sloane Manuscript Collection, Nó. 4224.* इस हस्तलिपि का शीर्षक है: *«The Character and Behaviour of King William, Sunderland, etc. as Represented in Original Letters to the Duke of Shrewsbury from Somers, Halifax, Oxford, Secretary Vernon, etc».* इस हस्तलिपि में अजीब-अजीब बातें पढ़ने को मिलती हैं।)

**"शाही जागीरों का कुछ हद तक बिक्री और कुछ हद तक इनाम के ज़रिये जिस ग़ैरक़ानूनी ढंग से हस्तांतरण किया गया, वह इंगलैंड के इतिहास का एक कलंकमय अध्याय है... इस तरह राष्ट्र के साथ एक बड़ा भारी धोखा किया गया।" (F. W. Newman, *«Lectures on Political Economy»*, London, 1851, pp. 129, 130.) (इंगलैंड के मौजूदा बड़े भूस्वामियों के हाथ में ये जागीरें किस तरह आयीं, इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये: *«Our Old Nobility. By Noblesse Oblige»*. London, 1879. – फ़्रे०एंगेल्स।)

***मिसाल के लिये, बेडफ़ोर्ड के ड्यूक-वंश के सम्बन्ध में E. Burke की पुस्तिका देखिये। लार्ड जान रसेल *«the tomtit of Liberalism»* [उदारतावाद की फुदकी] इसी वंश के उपज थे।

अन्य बातों के अलावा, इस उद्देश्य से भी समर्थन किया कि इससे ज़मीन के स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा मिलेगा, बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के अनुसार आधुनिक ढंग की खेती का क्षेत्र बढ़ाया जा सकेगा, और इस तरह मज़दूरी करने के लिये सदैव तैयार रहनेवाले स्वतंत्र खेतिहर सर्वहारा की संख्या में वृद्धि हो जायेगी। इसके अलावा, भूस्वामियों का यह नया अभिजात वर्ग बैंकपतियों के नये वर्ग का – नवजात उच्च पूंजी का – और मैनुफ़ेक्चरों के उन बड़े-बड़े मालिकों का स्वाभाविक मित्र था, जो उस ज़माने में संरक्षण करों पर निर्भर करते थे। इंगलैंड के पूंजीपति वर्ग ने उतनी ही बुद्धिमानी के साथ अपने हितों की रक्षा की, जितनी बुद्धिमानी के साथ स्वीडन के पूंजीपति वर्ग ने अपने हितों की रक्षा की थी, हालांकि स्वीडिश पूंजीपति वर्ग ने इस क्रिया को उलटकर अपने आर्थिक मित्र – किसानों – के साथ मिलकर अभिजात वर्ग से शाही ज़मीनें फिर से छीन लेने में राजाओं की मदद की थी। चार्ल्स दसवें और चार्ल्स ग्यारहवें के राज्यकाल में १६०४ से यह क्रिया आरम्भ हो गयी थी।

सामुदायिक सम्पत्ति – जिसे हमें उस राजकीय सम्पत्ति से सदा अलग करके देखना चाहिये, जिसका अभी-अभी वर्णन किया गया है – एक पुरानी ट्यूटौनिक प्रथा थी, जो सामन्तवाद की रामनामी ओढ़कर जीवित थी। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार १५वीं शताब्दी के अन्त में इस सामुदायिक सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण आरम्भ हुआ था और १६वीं शताब्दी में जारी रहा था और किस तरह उसके साथ-साथ आम तौर पर कृषियोग्य ज़मीनें चरागाहों की ज़मीनों में बदल दी गयी थीं। परन्तु उस समय यह क्रिया व्यक्तिगत हिंसक कार्यों के द्वारा सम्पन्न हो रही थी, जिनको रोकने के लिये क़ानून बना-बनाकर डेढ़ सौ वर्ष तक बेकार कोशिशें होती रहीं। १८वीं शताब्दी में जो प्रगति हुई, वह इस रूप में व्यक्त होती है कि क़ानून ख़ुद लोगों की ज़मीनें चुराने का साधन बन जाता है, हालांकि बड़े-बड़े फ़ार्मर अपने छोटे-छोटे स्वतंत्र उपायों का प्रयोग भी जारी रखते हैं।* इस लूट का संसदीय रूप सामुदायिक ज़मीन घेरने के क़ानून हैं

* "काश्तकार लोग झोंपड़ों में रहनेवाले मज़दूरों को अपने बाल-बच्चों के सिवा किसी और प्राणी को झोंपड़ों में रखने की मनाही कर देते हैं। इसके लिये बहाना यह बनाया जाता है कि यदि मज़दूर जानवर या मुर्ग़ी, आदि रखेंगे, तो वे काश्तकारों के खलिहानों से अनाज चुरा-चुराकर उन्हें खिलायेंगे। काश्तकार लोग यह भी कहते हैं कि मज़दूरों को ग़रीब बनाकर रखो, तो वे मेहनती बने

(Acts for enclosures of Commons), दूसरे शब्दों में ऐसे अध्यादेश हैं, जिनके द्वारा ज़मींदार जनता की ज़मीन को अपनी निजी सम्पत्ति के रूप में अपने को भेंट कर लेते हैं, अर्थात् जिनके द्वारा वे जनता की सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं। सर एफ़० एम० ईडन ने सामुदायिक सम्पत्ति को उन बड़े ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति साबित करने की कोशिश की है ,जिन्होने सामन्ती प्रभुओं का स्थान ले लिया है। मगर जब वह खुद यह मांग करते हैं कि "सामुदायिक ज़मीनों को घेरने के लिये संसद को एक सामान्य क़ानून बनाना चाहिये" (इस तरह वह यह स्वीकार कर लेते हैं कि सामुदायिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित करने के लिये आवश्यक है कि संसद में क़ानून बनाकर उसका बलात् अपहरण कर लिया जाये), और इसके अलावा जब वह संसद से उन गरीबों की क्षति-पूर्ति करने के लिये भी कहते हैं, जिनकी सम्पत्ति छीन ली गयी है, तब वह वास्तव में अपने धूर्ततापूर्ण तर्क का खुद ही खण्डन कर डालते हैं।*

जब स्वतंत्र किसानों (yeomen) का स्थान कच्चे असामियों (tenants at will), साल-साल भर के पट्टों पर ज़मीन जोतनेवाले छोटे काश्तकारों और ज़मींदारों की दया पर निर्भर रहनेवाले दासों जैसे लोगों की भीड़ ने ले लिया, तो राजकीय जागीरों की चोरी के साथ-साथ सामुदायिक ज़मीनों की सुनियोजित लूट ने ख़ास तौर पर उन बड़े फ़ार्मों का आकार बढ़ाने में मदद दी, जो १८ वीं शताब्दी में बड़े फ़ार्म** या सौदागरों के फ़ार्म*** कहलाते थे, और खेतिहर आबादी को मैनुफ़ेक्चर सम्बन्धी उद्योगों में काम करने के लिये "उन्मुक्त करके" सर्वहारा में परिणत कर दिया।

रहेंगे, इत्यादि। लेकिन मुझे यक़ीन है कि असली बात यह है कि काश्तकार लोग इस तरह सारी सामुदायिक ज़मीन केवल अपने अधिकार में रखना चाहते हैं।" (*«A Political Inquiry into the Concequences of Enclosing Waste Lands»*. London, 1785, p. 75.)

* Eden, वही, भूमिका।

** *«Capital Farms». «Two Letters on the Flour Trade and the Dearness of Corn. By a Person in Business»*. London,1767, pp. 19,20.

*** *«Merchant Farms». «An Inquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions»*, London, 1767, p. 111. Note. — यह सुन्दर पुस्तक, जो बिना किसी नाम के प्रकाशित हुई थी, रैवेरण्ड नथेनियल फ़ोर्स्टर की रचना है।

लेकिन १८ वीं शताब्दी ने अभी तक १९ वीं शताब्दी की भांति पूरे तौर पर यह बात स्वीकार नहीं की थी कि राष्ट्र का धन और जनता की ग़रीबी – ये दोनों एक ही चीज़ हैं। चुनांचे उस ज़माने के आर्थिक साहित्य में "enclosure of commons" [सामुदायिक ज़मीनों को घेरने] के प्रश्न के सम्बन्ध में हमें बड़ी गरम बहसें सुनने को मिलती हैं। मेरे सामने जो ढेरों सामग्री पड़ी हुई है, उसमें से मैं केवल कुछ ही उद्धरण यहां पेश करूंगा, जिनसे उस काल की परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जायेगा। एक व्यक्ति ने बड़े क्रोध के साथ लिखा है: "हेर्टफ़ोर्डशायर के कुछ इलाक़ों (parish) में औसतन ५० एकड़ से १५० एकड़ तक के २४ फ़ार्मों को तोड़कर तीन फ़ार्मों में इकट्ठा कर दिया गया है।"* "नौर्थेम्प्टनशायर और लीसेस्टरशायर में बहुत बड़े पैमाने पर सामुदायिक ज़मीनों को घेर लिया गया है, और इस घेरेबन्दी के फलस्वरूप जो नयी ज़मींदारियां क़ायम हुई हैं, उनमें से अधिकतर को चरागाहों में बदल दिया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जिन ज़मींदारियों में पहले हर साल १,५०० एकड़ ज़मीन जोती जाती थी, उनमें अब ५० एकड़ ज़मीन भी नहीं जोती जाती... पुराने रहनेवालों के घरों, खलिहानों, अस्तबलों, आदि के ध्वंसावशेष," ही अब यह बताते हैं कि वहां कभी कुछ लोग रहा करते थे। "कुछ खुले खेतोंवाले गांवों में सौ घर और परिवार... कम होते-होते आठ या दस रह गये हैं... जिन इलाक़ों में केवल १५ या २० वर्ष से ही घेराबन्दी हुई है, उनमें से अधिकतर में खुले खेतों के ज़माने में जितने भूमिधर रहा करते थे, अब उनकी तुलना में बहुत कम किसान रह गये हैं। यह कोई बहुत असाधारण बात नहीं है कि जो इलाक़ा पहले २० या ३० काश्तकारों और इतने ही छोटे असामियों (tenants) और मालिकों के क़ब्ज़े में था, उसे ४ या ५ बड़े ज़मींदारों ने घेरकर अपनी चरागाहों में बदल दिया है। और इस तरह इन सारे काश्तकारों, छोटे असामियों और मालिकों की और उनके परिवारों की और बहुत-से अन्य परिवारों की, जो मुख्यतया इन लोगों के लिये काम किया करते थे और इनपर निर्भर करते थे – इन सबकी जीविका छूट जाती है।"** न केवल उस ज़मीन पर, जो परती पड़ी हुई थी,

---

*Thomas Wright, «*A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms*», 1799, pp. 2, 3.

** Rev. Addington, «*Inquiry into the Reasons for or against Enclosing Open Fields*», London, 1772, pp. 37-43, passim.

बल्कि उस ज़मीन पर भी, जिसे लोग सामूहिक ढंग से जोता करते थे या जिसको कुछ ख़ास व्यक्ति ग्राम-समुदाय को एक निश्चित लगान देकर जोतते थे, आस-पड़ोस के ज़मींदार घेरेबन्दी के बहाने क़ब्ज़ा कर लेते थे। "मैं यहां खुले खेतों और ऐसी ज़मीनों के घेरे जाने का ज़िक्र कर रहा हूं, जिनमें पहले ही काफ़ी सुधार किया जा चुका है। घेरेबन्दी (enclosures) का समर्थन करनेवाले लेखक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि इन गांवों के संकुचित हो जाने से बड़े फ़ार्मों की इजारेदारियों में इज़ाफ़ा होता है, खाने-पीने की वस्तुओं के दाम चढ़ जाते हैं और आबादी उजड़ जाती है... और यहां तक कि परती पड़ी हुई ज़मीनों की घेरेबन्दी से (जिस तरह आजकल वह की जाती है) भी ग़रीबों के कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, क्योंकि उससे आंशिक रूप में उनकी जीविका के साधन नष्ट हो जाते हैं, और उसका केवल यही नतीजा होता है कि बड़े-बड़े फ़ार्म, जिनका आकार पहले ही से बहुत बढ़ गया था, और भी बड़े हो जाते हैं।"* डा० प्राइस ने लिखा है: "जब यह ज़मीन चन्द बड़े-बड़े काश्तकारों के हाथों में चली जायेगी, तब इसका आवश्यक रूप से यह परिणाम होगा कि छोटे काश्तकार" (जिनके बारे में डा० प्राइस पहले बता चुके हैं कि "छोटे-छोटे मालिकों और असामियों की यह विशाल संख्या उस ज़मीन की उपज से, जो उसके दख़ल में होती है, सामुदायिक भूमि पर चरनेवाली अपनी भेड़ों की मदद से और मुर्ग़ियों, सुअरों, आदि के सहारे अपना तथा अपने परिवारों का पेट पालती है और इसलिये उसे जीवन-निर्वाह के किसी साधन को ख़रीदने की बहुत कम ज़रूरत पड़ती है") "ऐसे लोगों में परिणत हो जायेंगे, जिनको अपनी जीविका के लिये दूसरों के वास्ते मेहनत करनी पड़ेगी और जिनको ज़रूरत की हर चीज़ बाज़ार से ख़रीदनी पड़ेगी... तब शायद श्रम पहले से अधिक होगा, क्योंकि लोगों के साथ पहले से ज़्यादा ज़बर्दस्ती की जायेगी... शहरों और मैनुफ़ेक्चरों की संख्या बढ़ जायेगी, क्योंकि निवास-स्थान और नौकरी की तलाश में पहले से अधिक संख्या में लोग वहां पहुंचेंगे। फ़ार्मों के आकार को बढ़ाने का स्वभावतः यही परिणाम होता

---

* Dr. R. Price, «*Observations on Reversionary Payments*», 6th ed. By W. Morgan, London, 1803, v. II, p. 155. फ़ोर्स्टर, एडिंगटन, केंट, प्राइस और जेम्स एडरसन की रचनाओं को देखिये और चाटुकार मैककुलोच ने अपने सूची-पत्र «*The Lite rature of Political Economy*», London, 1845 में जिस तरह की टुच्ची बकवास की है, उसके साथ इन रचनाओं की तुलना कीजिये।

है। और इस राज्य में अनेक वर्षों से असल में यही चीज़ हो रही है।"* घेरेबन्दी के परिणामों का सारांश लेखक ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: "कुल मिलाकर निचले वर्गों के लोगों की हालत लगभग हरेक दृष्टि से पहले से ज़्यादा ख़राब हो जाती है। पहले वे ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों के मालिक थे; अब उनकी हैसियत मज़दूरों और भाड़े के टट्टुओं की हो जाती है, और साथ ही उनके लिये इस अवस्था में अपना जीवन-निर्वाह करना और अधिक कठिन हो जाता है।"** बल्कि सच तो यह है कि सामुदायिक ज़मीनों के अपहरण का और उसके साथ-साथ खेती में जो क्रान्ति आ गयी थी, उसका खेतिहर मज़दूरों पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा था कि ईडन के कथनानुसार भी १७६५ और १७८० के बीच उनकी मज़दूरी आवश्यक अल्पतम मज़दूरी से भी कम हो गयी थी और वे ग़रीबों के क़ानून के मातहत सार्वजनिक सहायता लेने लगे थे। ईडन ने कहा है कि

---

* Price, वही, p. 147.

** Price, वही, p. 159. इससे हमें प्राचीन रोम की याद आती है। वहां "धनियों ने अविभाजित भूमि के अधिकांश पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनको पूर्ण विश्वास था कि यह भूमि उनसे कभी वापस नहीं ली जायेगी, और इसलिये उनकी ज़मीनों के आस-पास ग़रीबों की जो भूमि थी, उन्होंने उसको भी या तो उसके मालिकों की रज़ामन्दी से ख़रीद लिया था, या उसपर ज़बर्दस्ती अधिकार कर लिया था, और इस तरह अब वे इक्के-दुक्के खेतों के बजाय बहुत फैली हुई जागीरों को जोतते थे। वे खेती और पशु-पालन में दासों से काम लेते थे, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्यों को सैनिक सेवा के लिये लिया जाता था। दासों के स्वामी होने से उनको बड़ा लाभ होता था, क्योंकि दासों से सेना में काम नहीं लिया जा सकता था और इसलिये वे खुलकर अपनी नस्ल को बढ़ा सकते थे और ख़ूब बच्चे पैदा कर सकते थे। अतएव शक्तिशाली व्यक्ति सारा धन अपने पास खींचे ले रहे थे। और देश दासों से भर गया था। दूसरी ओर, इटालियनों की संख्या बराबर कम होती जाती थी, क्योंकि उनको ग़रीबी, कर और सैनिक सेवा खाये जा रही थी। यहां तक कि जब शान्ति के दिन आये, तब भी ये लोग निष्क्रिय ही बने रहे, क्योंकि ज़मीन धनियों के क़ब्ज़े में थी, जो उसे जुतवाने के लिये स्वतन्त्र मनुष्यों के बजाय दासों से काम लेते थे।" (Appian, «*Civil Wars*», I, 7.) इस अंश में लीसिनियस के क़ानून[68] के बनने के पहले के काल का वर्णन किया गया है। जिस सैनिक सेवा ने रोम के जनसाधारण की तबाही की क्रिया को इतना तेज़ कर दिया था, उसी ने शार्लेमान के हाथों में स्वतन्त्र जर्मन किसानों को ज़बर्दस्ती कृषि-दासों और क्रीत-दासों में रूपान्तरित कर देने के मुख्य साधन का काम किया।

"जीवन के लिये नितान्त आवश्यक वस्तुएं ख़रीदने के लिये जो रक़म ज़रूरी होती थी, खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी उससे अधिक नहीं होती थी।"

अब एक क्षण के लिये एक ऐसे आदमी की बात भी सुनिये, जो घेरेबन्दी का समर्थक और डा० प्राइस का विरोधी था। "यदि लोग खुले खेतों में व्यर्थ का श्रम करते नहीं दिखाई देते, तो इसका यह मतलब नहीं है कि आबादी कम हो गयी है... यदि छोटे काश्तकारों को दूसरों के वास्ते काम करनेवाले मनुष्यों में परिणत करके उनसे पहले से अधिक श्रम कराया जाता है, तो इससे सारे राष्ट्र का लाभ होता है, और राष्ट्र को इसका स्वागत करना चाहिये," (पर, ज़ाहिर है, कि जिन लोगों को इस प्रकार "परिणत किया गया है," वे इस राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं) "...क्योंकि जब इन लोगों से एक फ़ार्म पर संयुक्त श्रम कराया जाता है, तब पैदावार ज्यादा होती है, मैनुफ़ेक्चरों के वास्ते अतिरिक्त पैदावार तैयार हो जाती है और इस तरह जितना अधिक अनाज पैदा होता है, उतनी ही अधिक मैनुफ़ेक्चरों की वृद्धि होती है, जो राष्ट्र के लिये धन की खान का काम करते हैं।"*

जब उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डालने के लिये इसकी आवश्यकता होती है, तब "सम्पत्ति के पवित्र अधिकार" के अत्यन्त लज्जाहीन अतिक्रमण और व्यक्तियों पर अत्यन्त भोंडे हमलों को भी अर्थशास्त्री जिस निःस्पृह भाव और जिस निरुद्विग्न मन के साथ देखता रहता है, उसका एक उदाहरण सर एफ़० एम० ईडन हैं, जो बड़े दानवीर और साथ ही अनुदारदली भी हैं। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों से लेकर १८वीं शताब्दी के अन्त तक जनता की सम्पत्ति का जिस तरह बलपूर्वक अपहरण होता रहा और उसके साथ-साथ जो चोरियां और अत्याचार होते रहे और जनता पर जो मुसीबत का पहाड़ टूटता रहा, उस सब का अध्ययन करने के बाद सर एफ़० एम० ईडन केवल इस "सुविधाजनक" परिणाम पर ही पहुंचते हैं कि "कृषियोग्य ज़मीन और चरागाह की ज़मीन के

---

* *«An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions, etc.»*, pp. 124, 129. निम्नलिखित उद्धरण इसके उल्टे दृष्टिकोण से लिखा गया है, पर उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है: "मज़दूरों को उनके झोंपड़ों से खदेड़कर नौकरी की तलाश में शहरों में मारे-मारे फिरने के लिये मजबूर कर दिया जाता है; पर तब पहले से अधिक अतिरिक्त पैदावार तैयार होती है, और इस प्रकार पूंजी में वृद्धि होती है।" (*«The Perils of the Nation»*, 2nd ed., London, 1843, p. 14).

बीच एक सही (due) अनुपात क़ायम करना ज़रूरी था। पूरी १४ वीं शताब्दी में और १५ वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में एक एकड़ चरागाह के पीछे २,३ और यहां तक कि ४ एकड़ कृषियोग्य ज़मीन हुआ करती थी। १६ वीं शताब्दी के मध्य के लगभग यह अनुपात बदलकर २ एकड़ चरागाह के पीछे २ एकड़ कृषियोग्य ज़मीन का हो गया, बाद को २ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ कृषियोग्य ज़मीन का अनुपात हो गया और आख़िर ३ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ कृषियोग्य ज़मीन का सही अनुपात भी क़ायम हो गया।"

१९ वीं शताब्दी में, ज़ाहिर है, इस बात की किसी को याद तक नहीं रह गयी कि खेतिहर मज़दूर का सामुदायिक ज़मीन से भी कभी कोई सम्बन्ध था। अभी हाल के दिनों की बात जाने दीजिये; १८०१ और १८३१ के बीच जो ३५,११,७७० एकड़ सामुदायिक ज़मीन खेतिहर आबादी से छीन ली गयी और संसद के हथकण्डों के ज़रिये ज़मींदारों के द्वारा ज़मींदारों को भेंट कर दी गयी, क्या उसके एवज़ में खेतिहर आबादी को एक कौड़ी का भी मुआवज़ा मिला है?

बड़े पैमाने पर खेतिहर आबादी की भूमि के अपहरण की अन्तिम क्रिया वह है, जिसका नाम है «Clearing of estates» (जागीरों को साफ़ करना – अर्थात् उनको जन-विहीन बना देना)। इंगलैंड में भूमि-अपहरण के जितने तरीक़ों पर हमने अभी तक विचार किया है, वे सब मानों इस "सफ़ाई" के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। पिछले एक अध्याय में हमने आधुनिक परिस्थितियों का वर्णन किया था और बताया था कि जहां उजाड़े जाने के लिये स्वतन्त्र किसान नहीं रह गये हैं, वहां झोंपड़ों की "सफ़ाई" शुरू हो जाती है, जिससे खेतिहर मज़दूरों को उस भूमि पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, रहने के लिये एक चप्पा ज़मीन भी नहीं मिलती। लेकिन "clearing of estates" का असल में और सही तौर पर क्या मतलब होता है, यह हमें केवल आधुनिक रोमानी कथा-साहित्य की आदर्श भूमि, स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में ही देखने को मिलता है। वहां इस क्रिया की विशेषता यह है कि वह बड़े सुनियोजित ढंग से सम्पन्न होती है; एक ही झटके में बड़े भारी इलाक़े की सफ़ाई हो जाती है (आयरलैण्ड में ज़मींदारों ने कई-कई गांव एक साथ साफ़ कर दिये हैं; स्कॉटलैण्ड में तो जर्मन रियासतों जितने बड़े-बड़े इलाक़े एक बार में साफ़ कर दिये जाते हैं), और अन्तिम बात यह कि ग़बन की हुई ज़मीनें एक विचित्र प्रकार के स्वामित्व का रूप धारण कर लेती हैं।

स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में रहनेवाले केल्ट लोग क़बीलों में संगठित थे। प्रत्येक क़बीला जिस भूमि पर बसा हुआ था, वह उसका मालिक था। क़बीले का प्रतिनिधि, उसका मुखिया, या "बड़ा आदमी" केवल नाम के लिये इस सम्पत्ति का मालिक होता था, जैसे इंगलैंड की रानी नाम के लिये राष्ट्र की समस्त भूमि की स्वामिनी हैं। जब अंग्रेज़ सरकार इन "बड़े आदमियों" की आपसी लड़ाइयों को बन्द कराने में कामयाब हो गयी और स्कॉटलैण्ड के मैदानी भागों पर ये "बड़े आदमी" लगातार जो चढ़ाइयां किया करते थे, जब वे भी रोक दी गयीं, तो इन क़बीलों के मुखियाओं ने डकैती का अपना पुराना पुश्तैनी पेशा छोड़ नहीं दिया, बल्कि उसका केवल रूप बदल दिया। जो नाम मात्र का अधिकार था, उसे उन्होंने ख़ुद अपनी मर्ज़ी से निजी सम्पत्ति के अधिकार में बदल दिया, और इससे चूंकि उनका ख़ुद अपने क़बीलों के लोगों के साथ टकराव हुआ, इसलिये उन्होंने इन लोगों को ज़बर्दस्ती ज़मीनों से भगाने का निश्चय कर लिया। प्रोफ़ेसर न्यूमैन ने कहा है: "इस तरह तो इंगलैंड का राजा यह दावा कर सकता था कि उसे अपनी प्रजा को समुद्र में धकेल देने का अधिकार है।"* स्कॉटलैण्ड में यह क्रान्ति दावेदार (Pretender)[69] के समर्थकों के अन्तिम विद्रोह के बाद आरम्भ हुई थी। सर जेम्स स्टूअर्ट** और जेम्स एंडरसन*** की रचनाओं में हम उसके प्रथम चरण का अध्ययन कर सकते हैं। १८वीं शताब्दी में अपनी ज़मीनों से खदेड़े हुए गैल लोगों[71] को देश छोड़कर चले जाने की भी मनाही कर दी

* F.W. Newman, वही, p. 132.

** स्टूअर्ट ने लिखा है: "यदि आप इन ज़मीनों के विस्तार के साथ उनके लगान की तुलना करें," (यहां उसने लगान नामक आर्थिक परिकल्पना में उस ख़िराज को भी शामिल कर लिया है, जो टाक्समैन[70] अपने मुखिया को दिया करते थे) "तो आप पायेंगे कि लगान बहुत कम मालूम होता है। यदि आप लगान की तुलना इस बात से करेंगे कि फ़ार्म के सहारे कितने मनुष्यों का पेट पलता है, तो आप यह पायेंगे कि किसी अच्छे उपजाऊ प्रान्त की एक जागीर पर जितने लोगों का लालन-पालन होता है, स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में उतने ही मूल्य की जागीर से उससे शायद दस गुने अधिक लोगों का जीवन-निर्वाह होता है।" (J. Steuart, «*An Inquiry into the Principles of Political Economy*», London, 1767, v. I, ch. XVI, p. 104.)

*** James Anderson, «*Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry, etc.*», Edinburgh, 1777.

गयी, ताकि उनके सामने ग्लासगो तथा अन्य औद्योगिक नगरों में जाकर रहने के सिवा और कोई चारा न रह जाये।*

१९वीं शताब्दी में किस तरह के तरीक़े इस्तेमाल किया जाते थे,** इसके

---

*जिन लोगों की ज़मीनें ज़बर्दस्ती छीन ली गयीं, उनको १८६० में धोखा देकर कनाडा भेज दिया गया। कुछ लोग पहाड़ों में भाग गये और आस-पास के द्वीपों को चले गये। पुलिस ने उनका पीछा किया। उसके साथ उनकी मार-पीट भी हुई। पर आख़िर वे बच निकलने में कामयाब हुए।

**१८१४ में ऐडम स्मिथ के टीकाकार ब्यूकेनेन ने लिखा: "स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में सम्पत्ति की प्राचीन प्रणाली पर नित नये प्रहार हो रहे हैं... ज़मींदार पुश्तैनी असामी का कोई ख़याल नहीं करता," (यहां पुश्तैनी असामी नामक परिकल्पना का ग़लती से प्रयोग किया गया है), "बल्कि अपनी ज़मीन उसे देता है, जो सबसे ऊंचा लगान देने को तैयार होता है। यदि यह आदमी सुधारक होता है, तो वह तुरन्त ही एक नये ढंग की खेती चालू कर देता है। पहले ज़मीन पर छोटे असामियों या मज़दूरों की एक बड़ी संख्या बिखरी रहती थी, और आबादी ज़मीन की उपज के अनुपात में होती थी। अब सुधरी हुई खेती और बढ़े हुए लगान की नयी प्रणाली के अनुसार कम से कम ख़र्चा करके ज्यादा से ज्यादा उपज पैदा की जाती है, और इस उद्देश्य से, जो मज़दूर अनावश्यक होते हैं, उनको ज़मीन से हटा दिया जाता है और इस तरह आबादी को उस संख्या से घटाकर, जिसकी ज़मीन परवरिश कर सकती है, उस संख्या पर ले आया जाता है, जिसको ज़मीन काम दे सकती है... तब जिन असामियों की बेदख़ली की जाती है, वे या तो पड़ोस के शहरों में जीविका की तलाश करते हैं," इत्यादि। (David Buchanan, «*Observations on, etc., A. Smith's Wealth of Nations*», Edinburgh, 1814, v. IV, p. 144.) "स्कॉटलैण्ड के धनी लोग किसानों के परिवारों की सम्पत्ति का इस तरह अपहरण करते थे, जैसे झाड़ियों के जंगल को साफ़ कर रहे हों, और वे गांवों तथा उनमें रहनेवाले लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते थे, जिस प्रकार का व्यवहार जंगली जानवरों से परेशान रेड इंडियन प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त होकर हिंस्र पशुओं से भरे हुए जंगल के साथ करते हैं... जानवर की एक खाल या एक लोथ के साथ इनसान की अदला-बदली कर ली जाती है, बल्कि कभी-कभी तो इनसान को उससे भी सस्ता समझा जाता है... अरे, सच पूछिये, तो यह उन मंगोलों के इरादों से कहीं अधिक भयानक है, जिन्होंने चीन के उत्तरी प्रान्तों में घुसने के बाद अपनी परिषद् के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वहां के निवासियों को मार डाला जाये और भूमि को चरागाह में परिणत कर दिया जाये। स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश के बहुत-से भूस्वामियों ने ख़ुद अपने देश में और अपने देशवासियों

एक उदाहरण के रूप में केवल सदरलैंड की डचेस द्वारा की गयी "सफ़ाई" का ज़िक्र देना काफ़ी होगा। यह महिला अर्थशास्त्र में पारंगता थी। इसलिये, अपनी जागीर की बागडोर संभालते ही उसने उसमें एक मौलिक सुधार करने का निश्चय किया और तय कर दिया कि वह अपनी पूरी काउण्टी को, जिसकी आबादी इसी प्रकार की अन्य कार्रवाइयों के फलस्वरूप पहले ही केवल १५,००० रह गयी थी, भेड़ों की चरागाह में बदल देगी। १८२० तक इन १५,००० निवासियों के लगभग ३,००० परिवारों को सुनियोजित ढंग से उजाड़ा और खदेड़ा गया। उनके सारे गांव नष्ट कर दिये गये और जला डाले गये। उनके तमाम खेतों को चरागाहों में बदल दिया गया। उनको बेदख़ल करने के लिये अंग्रेज़ सिपाही भेजे गये, जिनकी गांवों के निवासियों के साथ कई बार मार-पिटाई हुई। एक बुढ़िया ने अपने झोंपड़े से निकालने से इनकार कर दिया था। उसे उसी में जलाकर भस्म कर दिया गया। इस प्रकार इस भद्र महिला ने ७,९४,००० एकड़ ऐसी ज़मीन पर अधिकार कर लिया, जिस पर बाबा आदम के ज़माने से क़बीले का अधिकार था। निकाले हुए ग्राम-वासियों को उसने समुद्र के किनारे ६,००० एकड़ ज़मीन दे दी – यानी प्रति परिवार दो एकड़। यह ६,००० एकड़ ज़मीन अभी तक बिल्कुल परती पड़ी हुई थी, और उससे उसके मालिकों को ज़रा भी लाभ नहीं होता था। परन्तु डचेस के मन में अपनी प्रजा के लिये यकायक इस हद तक दया उमड़ी कि उसने इस ज़मीन को केवल २ शिलिंग ६ पेन्स प्रति एकड़ के औसत लगान पर उनको उठा दिया और यह लगान उसने अपने क़बीले के उन लोगों से वसूल किया, जो सदियों से उसके परिवार के लिये अपना ख़ून बहाते आये थे। क़बीले की चुरायी हुई ज़मीन को उसने भेड़ पालने के २९ बड़े-बड़े फ़ार्मों में बांट दिया, जिनमें से हरेक में केवल एक परिवार रहता था और जिन पर प्रायः इंगलैंड से मंगाये हुए खेत-मज़दूरों को बसाया गया था। १८२५ के आते-आते १५,००० गैल नर-नारियों का स्थान १,३१,००० भेड़ों ने ले लिया था। आदिवासियों में से बचे-खुचे लोग समुद्र के किनारे पर पटक दिये गये, जहां वे मछलियां पकड़कर ज़िन्दा रहने की कोशिश करने लगे। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में, ये लोग

का गला काटकर इस योजना को कार्यान्वित कर दिखाया है।" (George Ensor, «*An Inquiry concerning the Population of Nations*», London, 1818, pp. 215, 216)

जल-स्थलचर बन गये थे और आधे धरती पर और आधे पानी में रहते थे, और फिर भी दोनों जगह अर्धजीवित अवस्था में ही रह पाते थे।*

लेकिन बहादुर गैल लोग क़बीले के "बड़े आदमियों" की जो रोमानी पूजा किया करते थे, उसकी उन्हें अभी और भी ऊंची क़ीमत चुकानी थी। उनकी मछलियों की सुगंध "बड़े आदमियों" की नाकों तक भी पहुंची। उनको उसमें मुनाफ़े की बू आयी और उन्होंने समुद्र का किनारा लन्दन के मछलियों के बड़े व्यापारियों को ठेके पर उठा दिया। बेचारे गैल लोगों को दोबारा उनके घरों से खदेड़ा गया।**

लेकिन अन्त में भेड़ों की चरागाहों का एक हिस्सा हिरनों के जंगलों में बदल दिया जाता है। हर कोई जानता है कि इंगलैंड में बड़े जंगल नहीं हैं। बड़े लोगों के बग़ीचों में पलनेवाले हिरन लन्दन के नगर-पिताओं जैसे मोटे और पालतू ढोर हैं। इसलिये शिकार के "उदात्त शौक़" को पूरा करने के लिये अब एकमात्र उचित स्थान स्कॉटलैण्ड ही बचा है। १८४८ में सोमर्स ने लिखा था: "स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में कुकुरमुत्तों की तरह नये-नये जंगल पैदा हो रहे हैं। यहां, गैक के इस तरफ़ यदि ग्लेनफ़ेशी का नया जंगल है, तो वहां, दूसरी तरफ़,

---

* जब सदरलैंड की मौजूदा डचेस ने «*Uncle Tom's Cabin*» की लेखिका श्रीमती बीचर-स्टाव को लन्दन में एक शानदार दावत दी और इस तरह अमरीकी प्रजातंत्र के हब्शी दासों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करनी चाही—हालांकि गृहयुद्ध के समय, जबकि इंगलैंड का प्रत्येक अभिजातवर्गीय हृदय दासों के मालिकों के हितों की चिन्ता में व्यग्र था, अभिजात वर्ग के अपने अन्य सहयोगियों के साथ-साथ सदरलैंड की डचेस भी अपनी इस सहानुभूति को भूल गयी थी—तब मैंने «*New-York Tribune*» में सदरलैंड के दासों से सम्बन्धित कुछ तथ्य प्रकाशित करवाये थे[72] (जिनमें से कुछ Carey की रचना «*The Slave Trade*», Philadelphia, 1853, pp. 203, 204 में उद्धृत किये गये थे)। मेरे लेख को एक स्कॉच समाचारपत्र ने भी छापा, जिसके फलस्वरूप सदरलैंड-परिवार के चाटुकारों और इस समाचारपत्र के बीच अच्छा-खासा वाद-विवाद छिड़ गया।

** मछलियों के इस व्यापार का रोचक विवरण मि० डेविड उर्कहार्ट के «*Portfolio, new series*» में मिलेगा।—Nassau W. Senior की जो रचना («*Journals, Conversations and Essays relating to Ireland*», London, 1868) उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई थी और जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, उसमें "सदरलैंडशायर में इस कार्रवाई को मनुष्य की स्मृति में एक सबसे अधिक लाभदायक सफ़ाई" कहा गया है।

आर्डवेरिकी का नया जंगल है। इसी सीध में ब्लैक मौण्ट भी है। यह विशाल बंजर भूमि भी अभी हाल में तैयार की गयी है। पूर्व से पश्चिम तक – एबेरडीन के पास से लेकर ओबान के टीलों तक – अब जंगलों की एक अनवरत पंक्ति दिखाई देती है। उधर पर्वतीय प्रदेश के अन्य भागों में लौक आर्केग, ग्लेनगार्री, ग्लेनमौरिस्टन, आदि के नये जंगल खड़े हो गये हैं। जिन घाटियों में कभी छोटे काश्तकारों की बस्तियां बसी हुई थीं, उनमें भेड़ों को बसा दिया गया था और काश्तकारों को ज़्यादा ख़राब और कम उपजाऊ ज़मीन पर भोजन तलाश करने के लिये खदेड़ दिया गया था। अब भेड़ों का स्थान हिरन ले रहे हैं, और अब हिरन छोटे काश्तकारों का घर-द्वार छीनते जा रहे हैं। इन काश्तकारों को अब पहले से भी ज़्यादा ख़राब ज़मीन पर जाकर बसना होगा और पहले से भी अधिक भयानक ग़रीबी में जीवन बिताना पड़ेगा। हिरनों के जंगलों* और मनुष्यों का सह-अस्तित्व असम्भव है। दोनों में से एक न एक को हट जाना पड़ेगा। पिछले पचीस साल से जंगल संख्या और विस्तार में जिस तरह बढ़ रहे हैं, उसी तरह अगले पचीस साल तक उन्हें और बढ़ने दीजिये, तो पूरी की पूरी गैल जाति अपने देश से निर्वासित हो जायेगी... पर्वतीय प्रदेश के भूस्वामियों में से कुछ के लिये हिरनों के जंगल बनाने की इच्छा ने एक महत्वाकांक्षा का रूप धारण कर लिया है... कुछ शिकार के शौक़ के कारण यह काम करते हैं... और दूसरे, जो अधिक व्यावहारिक ढंग के लोग हैं, केवल मुनाफ़ा कमाने की दृष्टि से हिरनों का धंधा करते हैं। कारण कि बहुत-सी पहाड़ियों को भेड़ों की चरागाहों के रूप में ठेके पर उठाने की अपेक्षा उनको हिरनों का जंगल बनाकर इस्तेमाल करने में मालिकों को अधिक लाभ रहता है... शिकार के लिये हिरनों का जंगल चाहनेवाला शिकारी उसके लिये कोई भी रक़म देने को तैयार रहता है। अपनी थैली के आकार के सिवा वह इस मामले में और किसी चीज़ का ख़याल नहीं करता... पर्वतीय प्रदेश के लोगों पर जो मुसीबतें ढायी गयी हैं, वे उन मुसीबतों से किसी तरह भी कम नहीं हैं, जिनका पहाड़ नौर्मन राजाओं की नीति के फलस्वरूप लोगों पर टूट पड़ा था। हिरनों के निवास-स्थानों का विस्तार

---

*स्कॉटलैण्ड के हिरनों के जंगलों (deer forests) में एक भी पेड़ नहीं है। नंगी पहाड़ियां हैं, जिनसे भेड़ों को भगा दिया गया है और हिरनों को लाकर बसा दिया गया है, और इन पहाड़ियों का नाम रख दिया गया है "deer forests"। इस तरह, पेड़ लगाने और वन-रोपण की भी कोई व्यवस्था नहीं है।

अधिकाधिक बढ़ता जाता है, जबकि मनुष्यों को एक अधिकाधिक संकुचित घेरे में बन्द किया जा रहा है... जनता के एक के बाद दूसरे अधिकार की हत्या हो रही है... अत्याचार दिन प्रति दिन बढ़ते ही जा रहे हैं... लोगों को उनकी ज़मीनों से हटाना और इधर-उधर बिखेर देना मालिकों के लिये एक निर्णीत सिद्धान्त और खेती की आवश्यकता बन गया है। वे इनसानों की बस्तियों का उसी तरह सफ़ाया करते हैं, जिस तरह अमरीका या आस्ट्रेलिया में परती ज़मीन पर खड़े हुए पेड़ों या झाड़ियों को हटाया जाता है, और यह कार्य बहुत ही ख़ामोशी के साथ और बड़े कामकाजी ढंग से किया जाता है।"*

चर्च की सम्पत्ति की लूट, राज्य के इलाक़ों पर धोखेधड़ी से क़ब्ज़ा कर लेना,

---

* Robert Somers, «*Letters from the Highlands; or the Famine of 1847*», London, 1848, pp. 12-28 passim. ये पत्र शुरू में «*The Times*» में प्रकाशित हुए थे। १८४७ में गैल क़ौम को जिस अकाल की विभीषिका से गुज़रना पड़ा था, उसका अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों ने ज़ाहिर है, यह कारण बताया था कि आबादी बहुत ज़्यादा बढ़ गयी थी। और यह भी नहीं, तो आबादी खाने-पीने की वस्तुओं की मात्रा की तुलना में तो अवश्य ही बहुत बढ़ गयी थी। जर्मनी में "जागीरों की सफ़ाई", या वहां की भाषा में "Bauernlegen" ख़ास तौर पर तीस वर्षीय युद्ध[73] के बाद हुई थी, और उसके फलस्वरूप १७६० में भी कुरसाख़सेन में किसानों के विद्रोह हुए थे। विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी में इस तरह की सफ़ाई हुई। प्रशा के अधिकतर प्रान्तों में पहली बार फ़्रेडरिक द्वितीय ने किसानों को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिलवाया था। सिलेशिया को जीतने के बाद उसने ज़मींदारों को झोंपड़े और खलिहान, आदि फिर से बनवाने और किसानों को ढोर और औज़ार देने के लिये मजबूर किया था। उसे अपनी सेना के लिये सिपाही और ख़ज़ाने के लिये कर देनेवाले चाहिये थे। लेकिन बाक़ी बातों में फ़्रेडरिक द्वितीय की वित्तीय प्रणाली और निरंकुश शासन – नौकरशाही तथा सामन्तवाद के उस गड़बड़-झाले – के अन्तर्गत रहनेवाले किसान कितना सुखमय जीवन बिताते थे, यह फ़्रेडरिक द्वितीय के प्रशंसक मिराबो के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है: "उत्तरी जर्मनी में फ़्लैक्स की खेती काश्तकार के लिये धन के एक प्रधान स्रोत का काम करती है। मानवजाति के दुर्भाग्य से यह केवल ग़रीबी को दूर रखने का ही काम कर सकती है, क्योंकि उसे सुख और समृद्धि का साधन नहीं समझा जा सकता। प्रत्यक्ष कर, बेगार और तरह-तरह की ग़ुलामी मिल-जुलकर जर्मन कृषक का कचूमर निकाल देती हैं। इसके अलावा, वह जो चीज़ भी ख़रीदता है, उसपर उसे अप्रत्यक्ष कर भी देने पड़ते हैं... मुसीबत चूंकि कभी अकेली नहीं आती, इसलिये वह अपनी पैदावार को जहां वह चाहे, वहां, और जिस तरह वह चाहे, उस तरह नहीं बेच सकता। अपनी ज़रूरत की

सामुदायिक भूमि की डाकाज़नी, सामन्ती सम्पत्ति तथा क़बीलों की सम्पत्ति का अपहरण और आतंकवादी तरीक़ों का अंधाधुंध प्रयोग करके उसे आधुनिक ढंग की निजी सम्पत्ति में बदल देना -[2] ये ही वे बढ़िया तरीक़े हैं, जिनके ज़रिये आदिम संचय हुआ था। इन तरीकों के ज़रिये पूंजीवादी खेती के लिये मैदान साफ़ किया

चीज़ें वह उन व्यापारियों से नहीं ख़रीद सकता, जो उनको सबसे कम दामों पर बेचने को तैयार हैं। इन तमाम कारणों से धीरे-धीरे वह चौपट हो जाता है, और यदि चर्ख़ा उसकी मदद न करे, तो वह प्रत्यक्ष कर भी न अदा कर पाये। चर्ख़ा उसकी कठिनाइयों को कुछ हद तक हल करने में मदद करता है, क्योंकि उससे उसकी पत्नी, उसके बच्चों, उसके खेत-मज़दूरों और ख़ुद उसको भी एक उपयोगी धंधा करने को मिल जाता है। लेकिन इस सहायता के बावजूद उसका जीवन कितना दयनीय होता है! गरमियों में वह नाव खेनेवाले ग़ुलाम की तरह काम करता है, ज़मीन जोतता है और फ़सल काटता है। रात को ९ बजे वह सोने के लिये लेटता है और सुबह को २ बजे उठ खड़ा होता है, क्योंकि यदि वह देर करे, तो दिन का काम पूरा नहीं हो सकता। जाड़ों में उसे देर तक आराम करके अपनी शक्ति को लौटाना होता है। लेकिन राज्य के कर अदा करने के लिये उसे मुद्रा चाहिये, और मुद्रा प्राप्त करने के लिये उसे अपना सारा अनाज बेच देना चाहिये, और यदि वह अपना सारा अनाज बेच देता है, तो उसके पास रोटी खाने के लिये और अगली फ़सल बोने के लिये काफ़ी बीज नहीं बचता। इस कमी को पूरा करने के लिये उसे कताई करनी चाहिये... और उसमें ख़ूब मेहनत करनी चाहिये। चुनांचे जाड़ों में किसान आधी रात को या एक बजे सोने के लिये लेटता है और ५ या ६ बजे उठ जाता है। या वह रात को ९ बजे सो जाता है और सुबह २ बजे ही उठकर काम में लग जाता है। जीवनपर्यन्त (रविवार के दिनों को छोड़कर) उसकी यही दिनचर्या रहती है। इतना अधिक काम और इतनी कम नींद आदमी का सारा सत सोख लेती है, और यही कारण है कि शहरों की अपेक्षा गांवों में लोग बहुत जल्दी बूढ़े हो जाते हैं।" (Mirabeau, वही, t. III, pp. 212. और आगे।)

दूसरे संस्करण का नोट। राबर्ट सोमर्स की जिस रचना को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसके प्रकाशन के १८ वर्ष बाद, अप्रैल १८६६ में, प्रोफ़ेसर लिओन लेवी ने Society of Arts (कला-सोसाइटी) के सामने भेड़ों की चरागाहों के हिरनों के जंगलों में बदल दिये जाने के बारे में एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने बताया था कि स्कॉटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश को किस तरह उजाड़ा गया है। अन्य बातों के अलावा उन्होंने इस भाषण में यह भी कहा था: "बस्तियों को उजाड़कर भेड़ों की चरागाहों में बदल देना बिना कुछ ख़र्च किये आमदनी हासिल करने का सबसे सुविधाजनक उपाय था... पर्वतीय प्रदेश में यह अक्सर देखने में आता था कि भेड़ों की चरागाहों का स्थान हिरनों के जंगलों ने ले

गया, भूमि को पूंजी का अभिन्न अंग बनाया गया और शहरी उद्योगों की आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक "स्वतंत्र" और अधिकारहीन सर्वहारा को जन्म दे दिया गया।

लिया है। जिस तरह एक समय जमींदारों ने इनसानों को अपनी जागीरों से निकाल बाहर किया था, उसी तरह सब उन्होंने भेड़ों को निकाल बाहर किया और अपनी ज़मीनों पर नये किरायेदारों को – जंगली जानवरों और पक्षियों को – ला बसाया... फ़ोरफ़ारशायर में डेलहौज़ी के अर्ल की जागीर से चलना शुरू करके जान ओ'ग्रोट्स तक चलते जाइये, आप कभी जंगलों के बाहर नहीं निकलेंगे... इनमें से बहुत-से जंगलों में लोमड़ियां, बन-बिलाव, मार्टन, गन्धमार्जार, वीज़ेल और पहाड़ी ख़रगोश बहुतायत से मिलते हैं; और खरहे, गिलहरियां और चूहे अभी हाल ही में इस इलाक़े में पहुंचे हैं। इस प्रकार, स्कॉटलैण्ड के सांख्यिकीय वर्णन में जिस भूमि को बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की विस्तृत चरागाहों के रूप में पेश किया गया है, उसके विशाल खण्डों में अब किसी तरह की खेती या सुधार नहीं हो सकते, और अब वे वर्ष में कुछ दिन केवल चन्द व्यक्तियों के शिकार खेलने के काम में आते हैं।" २ जून १८६६ के लन्दन के *«Economist»*[74] ने लिखा है: "पिछले सप्ताह के एक स्कॉच पत्र में जो समाचार प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक इस प्रकार है: 'सदरलैंडशायर के भेड़ों के एक सर्वोत्तम फ़ार्म को, जिसके लिये अभी हाल में १,२०० पौण्ड वार्षिक लगान देने का प्रस्ताव आया था, मौजूदा पट्टे की अवधि की समाप्ति पर हिरनों के जंगल में बदल दिया जायेगा।' यहां हम सामन्तवाद की आधुनिक प्रवृत्तियों को काम करते हुए देखते हैं... वे अब भी लगभग नार्मन विजेता के समय की तरह ही काम कर रही हैं... उस समय नया जंगल बनाने के लिये छत्तीस गांव बरबाद कर दिये गये थे... बीस लाख एकड़ ज़मीन... जिसमें स्कॉटलैण्ड के कुछ सबसे अधिक उपजाऊ इलाक़े शामिल हैं, पूरी तरह उजाड़ दी गयी है। ग्लेन टिल्ट की प्राकृतिक घास पेर्थ की काउण्टी की सबसे अधिक पौष्टिक घास मानी जाती थी। बेन औल्डेर का हिरनों का जंगल कभी बैडेनाओक के विस्तृत डिस्ट्रिक्ट में सबसे अच्छी चरागाह समझा जाता था। ब्लैक मौण्ट के जंगल का एक भाग काली भेड़ों के लिये स्कॉटलैण्ड की सबसे अच्छी चरागाह माना जाता था। स्कॉटलैण्ड में केवल शिकार खेलने के लिये कितना बड़ा इलाक़ा उजाड़ दिया गया है, इसका कुछ आभास इस बात से हो सकता है कि इस इलाक़े का रक़बा पेर्थ की पूरी काउण्टी से भी अधिक है। बेन औल्डेर के जंगल के साधनों से इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इन इलाक़ों को ज़बर्दस्ती उजाड़ देने से कितना भारी नुक़सान हुआ है। इस जंगल की ज़मीन पर १५,००० भेड़ों को चराया जा सकता था, और यह स्कॉटलैण्ड की जंगलों वाली पुरानी ज़मीन के ३० वें हिस्से से अधिक

अठाईसवां अध्याय

जिन लोगों की सम्पत्ति छीन ली गयी, उनके खिलाफ़ १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से खूनी क़ानूनों का बनाया जाना। संसद में क़ानून बनाकर मजदूरी को कम कर दिया जाना

यह सम्भव नहीं था कि सामन्ती चाकरों के दस्तों को भंग करके और लोगों की जमीनों को जबर्दस्ती छीनकर जिस "स्वतंत्र" सर्वहारा का निर्माण किया गया था, उसकी संख्या जिस तेजी के साथ बढ़ती जाती थी, वह उसी तेजी के साथ नवजात मैनुफ़ैक्चरों में काम पाता जाये। दूसरी ओर, इन लोगों को उनके जीवन के परम्परागत ढंग से यकायक अलग कर दिया गया था, और यह मुमकिन न था कि उनके नये ढंग के जीवन के लिये आवश्यक अनुशासन भी उनमें उतने ही यकायक ढंग से पैदा हो जाता। चुनांचे इन लोगों की एक विशाल संख्या भिखारियों, डाकुओं और आवारा लोगों में बदल गयी। यह कुछ हद तक उनकी अपनी प्रवृत्तियों का और कुछ हद तक परिस्थितियों का परिणाम था। अतएव १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में और १६ वीं शताब्दी में लगातार सारे पश्चिमी यूरोप में आवारागर्दी को रोकने के लिये अत्यन्त निर्मम क़ानून बनाये गये। वर्तमान मजदूर वर्ग के पूर्वजों को इस बात का दण्ड दिया गया कि उनको दूसरों ने जबर्दस्ती आवारा और मुहताज बना दिया था। क़ानून उनके साथ ऐसा व्यवहार करता था, मानो वे अपनी इच्छा से अपराधी बन गये हों, और यह मानकर चलता था कि जो परिस्थितियां अब रह नहीं गयी थीं, उन्हीं में काम करते रहना केवल उनकी अपनी भलमनसाहत पर निर्भर करता था।

इंगलैंड में हेनरी सप्तम के राज्यकाल में इस तरह के क़ानूनों का बनना आरम्भ हुआ।

नहीं थी... जंगलों की यह सारी जमीन अब इस तरह से अनुत्पादक हो गयी है... मानो वह जर्मन सागर के जल में डूब गयी हो... इस तरह के बनावटी बियाबानों और रेगिस्तानों को और फैलने से रोकने के लिये क़ानूनों को निर्णायक रूप से हस्तक्षेप करना चाहिये।"

हेनरी अष्टम के राज्यकाल में १५३० में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार ऐसे भिखारियों को, जो बूढ़े हो गये थे और काम करने के लायक़ नहीं रह गये थे, भीख मांगने का लाइसेंस मिल जाता था। दूसरी ओर, हट्टे-कट्टे आवारा लोगों को कोड़े लगाये जाते थे और जेलख़ानों में डाल दिया जाता था। क़ानून के अनुसार इन लोगों को गाड़ी के पीछे बांधकर उस वक़्त तक कोड़े लगाये जाते थे, जब तक कि उनके बदन से ख़ून नहीं बहने लगता था, और उसके बाद उनसे क़सम खिलवायी जाती थी कि वे अपने जन्म-स्थान को लौट जायेंगे या उस जगह चले जायेंगे, जहां वे पिछले तीन साल से रह रहे थे, और वहां "श्रम करेंगे" ("put themselves to labour")। यह भी कैसी भयानक विडंबना थी! हेनरी अष्टम के राज्यकाल के २७ वें वर्ष में एक क़ानून के द्वारा यह पुराना क़ानून बहाल कर दिया गया, और कुछ नयी धारायें पहले से भी कड़ी बना दी गयीं। नये क़ानून के अनुसार यदि कोई आदमी दूसरी बार आवारागर्दी के अपराध में पकड़ा जाता था, तो उसको एक बार फिर कोड़े लगाये जाते थे और आधा कान काट डाला जाता था; और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उसे एक पक्के अपराधी और समाज के शत्रु के रूप में फांसी दे दी जाती थी।

एडवर्ड षष्ठम के राज्यकाल के प्रथम वर्ष—१५४७—में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार यदि कोई आदमी काम करने से इनकार करता था, तो उसे उस व्यक्ति की ग़ुलामी करनी पड़ती थी, जिसने उसके ख़िलाफ़ यह शिकायत की थी कि वह अपना समय काहिली में बिताता है। ग़ुलाम के मालिक को उसे रोटी और पानी, पतला शोरबा और बचा-बचाया मांस खाने को देना होता था। वह उससे किसी भी तरह का काम ले सकता था, चाहे वह काम कितना ही घिनौना क्यों न हो, और इसके लिये कोड़े और ज़ंजीरों का इस्तेमाल कर सकता था। यदि ग़ुलाम काम से चौदह दिन ग़ैरहाज़िर रहता था, तो उसे जीवन भर की ग़ुलामी की सज़ा दी जाती थी और उसके माथे या गाल पर ग़ुलामी का "S" निशान दाग़ दिया जाता था। यदि वह तीसरी बार काम से भाग जाता था, तो उसको एक घोर अपराधी क़रार देकर फांसी दे दी जाती थी। अपनी किसी भी अन्य व्यक्तिगत सम्पत्ति या पशु की तरह मालिक ग़ुलाम को बेच सकता था, वसीयत में दे सकता था और किराये पर उठा सकता था। यदि ग़ुलाम अपने मालिकों के ख़िलाफ़ कुछ करने की कोशिश करते थे, तो उनको फांसी भी दे दी जाती थी। स्थानीय मजिस्ट्रेट सूचना मिलते ही ऐसे बदमाशों को पकड़

मंगवाते थे। यदि यह देखा जाता था कि कोई आवारा आदमी तीन दिन से कुछ नहीं कर रहा है, तो उसे उसके जन्म-स्थान पर ले जाया जाता था और लोहा लाल करके उसकी छाती पर आवारागर्दी का "V" चिन्ह दाग़ दिया जाता था और फिर ज़ंजीरों से जकड़कर उससे सड़क कुटवायी जाती थी या कोई और काम लिया जाता था। यदि आवारा आदमी अपने जन्म-स्थान का ग़लत पता बताता था, तो उसे जीवन भर इस स्थान की, वहां के निवासियों की और वहां की कॉर्पोरेशन की ग़ुलामी करनी पड़ती थी और उसके माथे पर ग़ुलामी का "S" चिन्ह दाग़ दिया जाता था। सभी व्यक्तियों को आवारा आदमियों के बच्चों को उठा ले जाने और सीखतर मज़दूरों के रूप में उनसे काम लेने का अधिकार था – लड़कों से २४ वर्ष की आयु तक और लड़कियों से २० वर्ष की आयु तक। यदि ये बच्चे भाग जाते थे, तो उनको उक्त आयु तक अपने मालिकों की ग़ुलामी करनी पड़ती थी, जो इच्छा होने पर उनको ज़ंजीरों में बांधकर रख सकते थे, कोड़े लगा सकते थे, आदि। हर मालिक अपने ग़ुलाम के गले में, बांहों में या टांगों में लोहे का छल्ला डाल सकता था, ताकि ग़ुलाम को ज़्यादा आसानी से पहचाना जा सके और वह भाग न सके।* क़ानून के अन्तिम भाग में कहा गया है कि कुछ ग़रीब लोगों को ऐसी कोई भी संस्था या व्यक्ति नौकर रख सकता है, जो उन्हें खाना-पीना देने को राज़ी हो और जो उनके लिये कोई काम निकाल सके। "Roundsmen" के नाम से इस प्रकार के ग्रामदासों से इंगलैंड में १९ वीं शताब्दी के काफ़ी वर्ष बीत जाने तक काम लिया जाता था।

एलिज़ाबेथ के राज्यकाल में १५७२ में एक क़ानून बनाया गया जिसके अनुसार १४ वर्ष से अधिक आयु के ऐसे भिखारियों को, जिनके पास लाइसेंस न हो, बुरी तरह कोड़े लगाये जाते थे और उनका बायां कान दाग़ दिया जाता था। इस दण्ड से वे केवल उसी हालत में छूट सकते थे, जब कोई आदमी उनको दो साल के लिये नौकर रखने को तैयार हो जाये। दोबारा पकड़े जाने पर, यदि उनकी उम्र १८ वर्ष से अधिक होती थी और कोई आदमी उनको दो साल के

---

* *«Essay on Trade, etc.»* 1770 के लेखक ने कहा है: "मालूम होता है कि एडवर्ड षष्ठम के राज्यकाल में अंग्रेज़ लोग सचमुच पूरी गम्भीरता के साथ मैनुफ़ैक्चरों को प्रोत्साहन देने और ग़रीबों से काम लेने लगे थे। इसका प्रमाण है एक उल्लेखनीय क़ानून, जिसमें कहा गया है कि सभी आवारागर्द लोगों को दाग़ दिया जायेगा, इत्यादि।" वही, p. 5.

लिये नौकर रखने को राज़ी नहीं होता था, तो उनको फांसी दे दी जाती थी। और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उनको हर हालत में घोर अपराधी क़रार देकर मार डाला जाता था। इसी प्रकार कुछ और क़ानून भी बनाये गये जैसे एलिज़ाबेथ के राज्यकाल के १८वें वर्ष का क़ानून (१३वां अध्याय) और १५९७ का एक और क़ानून।*

---

*टामस मोर ने अपनी रचना «*Utopia*» में लिखा है: "इस प्रकार अक्सर यह देखने में आता है कि कोई लालची और पेटू आदमी, जिसके लोभ की कोई सीमा नहीं होती और जो अपनी मातृभूमि के लिये शाप के समान होता है, वह कई हज़ार एकड़ ज़मीन को एक बाड़े के भीतर घेर लेता है, वहां रहनेवाले काश्तकारों को उनकी ज़मीनों से निकाल देता है और या तो धोखे और फ़रेब से, या ज़बर्दस्त अत्याचार के द्वारा उनको वहां से खदेड़ देता है, अथवा उनको इतना अधिक तंग करता है और इतने अधिक दुःख देता है कि वे परेशान होकर अपना सब कुछ बेच देने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार किसी न किसी तरक़ीब से, किसी न किसी हेराफेरी से, इन ग़रीब, जाहिल, अभागे मनुष्यों को इसके लिये मजबूर कर ही दिया जाता है कि तमाम स्त्री-पुरुष, पति-पत्नियां, अनाथ बच्चे, विधवायें और गोद में बालक उठाये हुए दुखियारी माताएं और उनका सारा परिवार—जिसकी हैसियत बहुत छोटी और संख्या बहुत बड़ी होती है, क्योंकि काश्तकारी में बहुत काम करनेवालों की ज़रूरत पड़ती है—ये सारे लोग अपना घर-द्वार छोड़कर निकल जायें। मैं कहता हूं कि ये लोग बेचारे एक बार अपना परम्परागत घर छोड़ने के बाद सदा इधर-उधर भटकते ही रहते हैं और उन्हें अपना सिर छिपाने के लिये भी कोई जगह नहीं मिलती। उनके घर के सारे सामान का मूल्य बहुत कम होता है, हालांकि फिर भी वह अच्छे दामों में बिक सकता था; मगर यकायक उठाकर घर के बाहर फेंक दिये जाने पर उनको मजबूर होकर उसे मिट्टी के मोल बेच देना पड़ता है। और इस तरह उन्हें जो चन्द पैसे मिलते हैं, जब वे पैसे इधर-उधर भटकते-भटकते सब ख़र्च हो जाते हैं, तो फिर वे इसके सिवा और क्या कर सकते हैं कि चोरी करें और सर्वथा न्यायोचित ढंग से फांसी पर लटक जायें; या भीख मांगते हुए घूमें? और उस हालत में भी उनको आवारा क़रार देकर जेल में डाला जा सकता है, क्योंकि वे इधर-उधर घूमते हैं और काम नहीं करते, हालांकि सचाई यह है कि वे काम पाने के लिये चाहे जितना गिड़गिड़ायें, उनको कोई आदमी काम नहीं देता।" इन खदेड़े जानेवाले ग़रीबों में से, जिनको टामस मोर के कथनानुसार मजबूर होकर चोरी करनी पड़ती थी, हेनरी अष्टम के राज्यकाल में "७२,००० छोटे-बड़े चोर जान से मार डाले गये थे।" (Holinshed, «*Description of England*», v. I, p. 186). एलिज़ाबेथ के काल में "बदमाशों को बड़ी मुस्तैदी

जेम्स प्रथम के राज्यकाल में यह विधान था कि यदि कोई आदमी आवारागर्दी करते और भीख मांगते हुए पाया जाता था, तो उसे बदमाश और आवारा घोषित कर दिया जाता था। Petty sessions [75] के स्थानीय मजिस्ट्रेटों को इस बात का अधिकार दे दिया गया था कि वे ऐसे लोगों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगवायें और पहले अपराध के लिये छः महीने और दूसरे अपराध के वास्ते २ वर्ष तक जेल में बन्द कर दें। स्थानीय मजिस्ट्रेट उनको जेल के अन्दर जब चाहें, तब, और जितने चाहें, उतने कोड़े लगवा सकते थे... जो बदमाश ज्यादा ख़तरनाक समझे जाते थे और जिनके सुधार की कोई आशा नहीं की जाती थी, उनके बायें कंधे पर बदमाशी का "R" चिन्ह दाग़कर उनको सख़्त काम में जोत दिया जाता था, और यदि वे इसके बाद भी भीख मांगते हुए पकड़े जाते थे, तो उनको निर्ममता के साथ फांसी दे दी जाती थी। ये क़ानून १८ वीं शताब्दी के आरम्भ तक लागू रहे और केवल उस क़ानून द्वारा रद्द हुए, जो रानी ऐन के राज्यकाल के १२ वें वर्ष में बनाया गया (२३ वां अध्याय)।

फ़्रांस में भी इसी तरह के क़ानून बनाये गये थे। वहां १७ वीं शताब्दी के मध्य में पेरिस में "आवारा लोगों का राज्य" ("royaume des truands") क़ायम किया गया था। लूई सोलहवें का राज्यकाल आरम्भ होने के समय भी (१३ जुलाई १७७७ को) यह क़ानून बना दिया गया कि १६ से ६० वर्ष तक की आयु का प्रत्येक ऐसा स्वस्थ पुरुष, जिसके पास जीवन-निर्वाह का कोई साधन

के साथ फांसी पर लटकाया जाता था, और आम तौर पर कोई साल ऐसा नहीं बीतता था, जब तीन या चार सौ आदमी फांसी न चढ़ जाते हों।" (Strype, «*Annals of the Reformation and Establishment of Religion, and other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth's Happy Reign*», 2nd ed., 1725, v. II.) इसी लेखक–स्ट्राइप–के कथनानुसार सोमरसेटशायर में एक साल में ४० व्यक्तियों को फांसी दी गयी, ३५ डाकुओं का हाथ दाग़ा गया, ३७ को कोड़े लगाये गये और १८३ "पक्के आवारा" करार देकर छोड़ दिये गये। फिर भी इस लेखक की राय है कि "क़ैदियों की यह बड़ी संख्या वास्तविक अपराधियों की संख्या का पांचवां हिस्सा भी नहीं थी, क्योंकि मजिस्ट्रेट इस मामले में बड़ी लापरवाही दिखाते थे और लोग-बाग अपनी मूर्खता के कारण इन बदमाशों पर तरस खाते थे; और इंगलैंड की अन्य काउण्टियों की हालत इस मामले में सोमरसेटशायर से बेहतर नहीं थी, बल्कि कुछ की हालत तो और भी ख़राब थी।"

नहीं है और जो कोई धंधा नहीं करता, कालेपानी भेज दिया जायेगा। नीदरलैण्ड्स के लिये चार्ल्स पंचम ने इसी तरह का एक क़ानून (अक्तूबर १५३७ में) बनाया था, और हालैण्ड के राज्यों तथा नगरों के (१९ मार्च १६१४ के) पहले आदेश में और सयुक्त प्रान्तों के (२५ जून १६४९ के) प्लाकाट में भी इसी प्रकार का नियम बनाया गया था, इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार, खेती करनेवाले लोगों की सबसे पहले ज़बर्दस्ती ज़मीनें छीनी गयीं, फिर उनको घरों से खदेड़ा गया, आवारा बनाया गया और उसके बाद उनको निर्मम और भयानक क़ानूनों का उपयोग करके कोड़े लगाये गये, दहकते लोहे से दागा गया, तरह-तरह की यातनाएं दी गयीं और इस प्रकार उनको मज़दूरी की प्रणाली के लिये आवश्यक अनुशासन सिखाया गया।

केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि समाज के एक छोर पर श्रम के लिये आवश्यक तमाम चीज़ें पूंजी की शक्ल में केन्द्रित हो जाती हैं और दूसरे छोर पर मनुष्यों की वह विशाल संख्या एकत्रित हो जाती है, जिसके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ बेचने को नहीं होता। न ही यह काफ़ी है कि वे अपनी श्रम-शक्ति को स्वेच्छा से बेचने के लिये मजबूर होते हैं। पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति एक ऐसे मज़दूर वर्ग का विकास करती है, जो अपनी शिक्षा, परम्परा और अभ्यास के कारण उत्पादन की इस प्रणाली की आवश्यकताओं को प्रकृति के स्वतःस्पष्ट नियमों के समान समझने लगता है। जब पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का संगठन एक बार पूर्णतया विकसित हो जाता है, तो फिर वह सारे प्रतिरोध को ख़त्म कर देता है। सापेक्ष अतिरिक्त जनसंख्या का निरन्तर उत्पादन श्रम की पूर्ति और मांग के नियम को और इसलिये मज़दूरी को एक ऐसी लीक में फंसाये रखता है, जो पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। आर्थिक सम्बन्धों का भोंड़ा दबाव मज़दूर को पूरी तरह पूंजीपति के अधीन बना देता है। आर्थिक परिस्थितियों के अलावा कुछ प्रत्यक्ष बल-प्रयोग अब भी किया जाता है, लेकिन केवल अपवाद के रूप में। साधारणतया मज़दूर को "उत्पादन के प्राकृतिक नियमों" के भरोसे छोड़ा जा सकता है, अर्थात् उसको पूंजी पर निर्भरता के भरोसे छोड़ा जा सकता है, जो निर्भरता स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है और जो उन परिस्थितियों के रहते हुए कभी नहीं मिट सकती। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक जन्मकाल में परिस्थिति इससे भिन्न होती है। अपने उभार के काल में पूंजीपति वर्ग को मज़दूरी का "नियमन" करने के लिये, अर्थात् उसको ज़बर्दस्ती कम करके ऐसी सीमाओं के भीतर रखने के लिये, जो अतिरिक्त मूल्य

बनाने के लिये हों, काम के दिन को लम्बा करने के लिये और ख़ुद मज़दूर की सामान्य परवशता को बनाये रखने के लिये राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है और वह उसका प्रयोग भी करता है। तथाकथित आदिम संचय का यह एक अत्यन्त आवश्यक तत्व है।

१४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उजरती मज़दूरों के जिस वर्ग का जन्म हुआ था, वह उस समय और अगली शताब्दी में भी आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा था। देहात में भूमि के स्वामी स्वतंत्र किसानों और शहरों में शिल्पी संघों के कारण वह अच्छी तरह सुरक्षित था। देहात में और शहरों में सामाजिक दृष्टि से मालिक और मज़दूर की हैसियत में कोई विशेष फ़र्क़ नहीं था। पूंजी के सम्बन्ध में श्रम की अधीनता केवल औपचारिक ढंग की थी, अर्थात् ख़ुद उत्पादन की प्रणाली ने अभी कोई विशिष्ट पूंजीवादी रूप धारण नहीं किया था। स्थिर पूंजी के मुक़ाबले में अस्थिर पूंजी का पलड़ा बहुत भारी था। इसलिये पूंजी की वृद्धि के साथ उजरती मज़दूरों की मांग बढ़ती जाती थी, जबकि उनकी पूर्ति केवल धीरे-धीरे बढ़ रही थी। राष्ट्रीय पैदावार का एक बड़ा हिस्सा, जो बाद को पूंजीवादी संचय के कोष में परिणत हो गया, अभी तक मज़दूर के उपभोग के कोष का ही भाग बना हुआ था।

इंगलैंड में मज़दूरों के बारे में क़ानून बनाने की शुरूआत १३४९ में हुई थी, जब एडवर्ड तृतीय के राज्यकाल में Statute of Labourers (मज़दूरों का परिनियम) बनाया गया था (इन क़ानूनों का उद्देश्य शुरू से ही मज़दूर का शोषण करना था और प्रत्येक काल में उनका स्वरूप समान रूप से मज़दूर-विरोधी रहा)।* १३५० में राजा जान के नाम से फ़्रांस में जो फ़रमान जारी हुआ था, वह भी इसी प्रकार का था। इंगलैंड और फ़्रांस के क़ानून समानान्तर चलते हैं और उनका अभिप्राय भी एक-सा रहता है। जहां तक मज़दूर-संबंधी क़ानूनों का उद्देश्य काम के दिन को लम्बा करना था, मैं इस विषय की पुनः चर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि उसपर पहले ही (दसवें अध्याय के अनुभाग ५ में) विचार किया जा चुका है।

---

*ऐडम स्मिथ के अनुसार, "जब कभी विधान-सभा मालिकों और उनके मज़दूरों के बीच उत्पन्न विवादों का समाधान करने का प्रयत्न करती है, तब सदा मालिक ही उसके परामर्शदाताओं का काम करते हैं।"[76] लेंगे ने कहा है: "क़ानूनों की आत्मा है सम्पत्ति।"[77]

मज़दूरों का परिनियम हाउस ग्राफ़ कामन्स के बहुत ज़ोर देने पर पास किया गया था। एक ग्रनुदार-दली लेखक ने बड़े भोलेपन के साथ कहा है: "पहले ग़रीब लोग इतनी **ऊंची** मज़दूरी मांगा करते थे कि उद्योग ग्रौर धन-सम्पदा के लिये ख़तरा पैदा हो गया था। ग्रब उनकी मज़दूरी इतनी **कम** हो गयी है कि उद्योग ग्रौर धन-सम्पदा के लिये फिर वैसा ही ग्रौर शायद उससे भी बड़ा ख़तरा पैदा हो गया है, मगर यह ख़तरा एक दूसरे रूप में सामने ग्राता है।"* क़ानून बनाकर तय कर दिया गया कि शहर ग्रौर देहात में कार्यानुसार मज़दूरी ग्रौर समयानुसार मज़दूरी की क्या दरें रहनी चाहिये। खेतिहर मज़दूरों के लिये निश्चय हुग्रा कि वे पूरे साल के लिये नौकर हुग्रा करेंगे, ग्रौर शहरी मज़दूरों के लिये तय हुग्रा कि वे किसी भी ग्रवधि के लिये "खुली मण्डी में" ग्रपनी श्रम-शक्ति को बेचेंगे। क़ानून के द्वारा मज़दूरी की जो दरें निश्चित कर दी गयी थीं, उनसे ग्रधिक मज़दूरी देने की मनाही कर दी गयी ग्रौर ऐलान कर दिया गया कि इस ग्रपराध के लिये जेल की सज़ा दी जायेगी। लेकिन निश्चित दर से ग्रधिक मज़दूरी लेनेवालों के लिये देनेवालों से ग्रधिक कड़ी सज़ा का विधान किया गया था। (इसी प्रकार, एलिज़ाबेथ के राज्यकाल में सीखतर मज़दूरों का जो क़ानून बनाया गया था, उसकी १८ वीं ग्रौर १९ वीं धाराग्रों में निश्चित दर से ग्रधिक मज़दूरी देनेवालों के लिये दस दिन की क़ैद का विधान था, पर लेनेवालों के लिये इक्कीस दिन की क़ैद निश्चित की गयी थी।) १३६० में एक क़ानून बनाकर इन सज़ाग्रों को ग्रौर बढ़ा दिया गया ग्रौर मालिकों को यह ग्रधिकार दे दिया गया कि क़ानूनी दर पर श्रम करने के लिये वे मज़दूरों को मार-पीट भी सकते हैं। राजगीर ग्रौर बढ़ई का काम करनेवालों ने विभिन्न प्रकार के संयोजनों के द्वारा ग्रापस में क़रार करके या क़समें, ग्रादि खाकर ग्रपने को एकजुट कर लिया था। इस तरह की तमाम चीज़ों को ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया गया। १४ वीं शताब्दी से १८२५ तक, जबकि मज़दूर-यूनियनों पर प्रतिबन्ध लगानेवाले क़ानूनों[78] को मंसूख़ किया गया, मज़दूरों का संगठन करना एक भयानक ग्रपराध समझा जाता था। १३४९ के मज़दूरों के परिनियम तथा उसमें से फूटनेवाली ग्रनेक शाखा-प्रशाखाग्रों की मूल

* [J. B. Byles.] «*Sophisms of Free Trade*», By a Barrister, London, 1850, p. 206. वह कुत्सापूर्ण ढंग से कहते हैं: "मालिकों के हित में तो हम तत्काल हस्तक्षेप करने को तैयार हो गये थे; ग्रब क्या काम करनेवालों के हित में कुछ नहीं किया जा सकता?"

भावना इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि राज्य अधिकतम मज़दूरी तो हमेशा निश्चित कर देता था, पर अल्पतम मज़दूरी किसी हालत में निर्धारित नहीं करता था।

जैसा कि हमें मालूम है, १६ वीं शताब्दी में मज़दूरों की हालत बहुत ज़्यादा ख़राब हो गयी थी। नक़द मज़दूरी बढ़ी, पर उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में मुद्रा का मूल्य कम हो गया था या जिस अनुपात में मालों के दाम बढ़ गये थे। इसलिये, असल में, मज़दूरी पहले से कम हो गयी थी। फिर भी मज़दूरी को बढ़ने से रोकनेवाले सारे क़ानून ज्यों के त्यों लागू रहे, और "जिनको कोई भी आदमी नौकर रखने को तैयार नहीं था", उनके पहले की तरह अब भी कान काटे जाते थे और उन्हें लाल लोहे से दाग़ा जाता था। एलिज़ाबेथ के राज्यकाल के ५ वें वर्ष में प्रशिक्षार्थी मज़दूरों का जो क़ानून पास हुआ था, उसके तीसरे अध्याय के द्वारा स्थानीय मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे मज़दूरी को निश्चित कर सकते हैं और मौसम तथा मालों के दामों का ख़याल रखते हुए उसमें हेर-फेर कर सकते हैं। जेम्स प्रथम ने श्रम के इन तमाम नियमों को बुनकरों, कताई करनेवालों और प्रत्येक सम्भव कोटि के मज़दूरों पर लागू कर दिया।* जार्ज द्वितीय ने मज़दूरों के संगठनों पर प्रतिबन्ध लगानेवाले क़ानूनों को सभी मैनुफ़ेक्चरों पर लागू कर दिया।

---

*जेम्स प्रथम के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में पास हुए क़ानून (अध्याय ६) की एक धारा से पता चलता है कि कपड़ा तैयार करनेवाले कुछ कारख़ानेदारों ने स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में ख़ुद अपने कारख़ानों में ज़बर्दस्ती सरकारी तौर पर मज़दूरी की दरें निश्चित कर दी थीं। जर्मनी में, खासकर तीस वर्षीय युद्ध के बाद, मज़दूरी को बढ़ने से रोकने के लिये क़ानून बनाना एक आम बात थी। "उजड़े हुए इलाक़ों में नौकरों और मज़दूरों की कमी से भूस्वामियों को बहुत कष्ट हो रहा था। चुनांचे तमाम गांववालों को आदेश दिया गया कि अविवाहित पुरुषों और स्त्रियों को कोठरियां किराये पर मत दो, बल्कि इन सब की अधिकारियों को सूचना दो। यदि ये लोग नौकरी करने को राज़ी नहीं होंगे, तो उनको जेल में डाल दिया जायेगा। अगर वे कोई और काम कर रहे हैं—मान लीजिये, वे किसानों से रोज़ाना मज़दूरी लेकर बुवाई कर रहे हैं या अनाज की ख़रीदारी और बिक्री कर रहे हैं—तो भी यह नियम लागू होगा।" («*Imperial Privileges and Sanctions* for Silesia», I, 125.) "छोटे-छोटे जर्मन राजाओं के आदेशों में पूरी एक शताब्दी तक हमें बार-बार यह कटु शिकायत सुनने को मिलती है कि बदमाश और बदतमीज़ नौकरों की भीड़ अपने फूटे हुए भाग्य पर सब्र करके नहीं बैठती और क़ानूनी मज़दूरी से संतोष नहीं करती। राज्य ने

जिसे सचमुच मैनुफ़ेक्चर का काल कहा जा सकता है, उस काल में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली इतनी काफ़ी मज़बूत हो गयी थी कि मज़दूरी का क़ानून बनाकर नियमन करना जितना अनावश्यक, उतना ही अव्यावहारिक भी हो गया था। लेकिन शासन करनेवाले वर्ग इसके लिये तैयार नहीं थे कि ज़रूरत के वक़्त इस्तेमाल करने के लिये भी उनके तरकश में ये पुराने तीर न रहें। इसलिये जार्ज द्वितीय के राज्यकाल के ८ वें वर्ष में बनाये गये एक क़ानून के अनुसार लन्दन में और आस-पास दर्ज़ीगिरी का काम करनेवाले मज़दूरों को २ शिलिंग ७ १/२ पेन्स से अधिक मज़दूरी देने की मनाही कर दी गयी थी। केवल सामान्य शोक के समय ही इससे अधिक मज़दूरी दी जा सकती थी। जार्ज तृतीय के राज्यकाल के १३ वें वर्ष में बनाये गये एक क़ानून के ६८ वें अध्याय के मातहत रेशम की बुनाई करनेवाले मज़दूरों की मज़दूरी का नियमन करने की ज़िम्मेदारी स्थानीय मजिस्ट्रेटों को दे दी गयी थी। उसके भी बाद, १७९६ में, उच्चतर न्यायालयों के दो निर्णयों के बाद कहीं यह प्रश्न तय हो पाया था कि स्थानीय मजिस्ट्रेटों द्वारा मज़दूरी का नियमन करने का अधिकार ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों पर भी लागू होता है या नहीं। इसके भी बाद, १७९९ में, संसद ने एक क़ानून बनाकर यह आदेश दिया था कि स्कॉच खान-मज़दूरों की मज़दूरी का नियमन एलिज़ाबेथ के परिनियम और १६६१ तथा १६७१ के दो स्कॉच क़ानूनों के अनुसार ही होता रहेगा। इस बीच परिस्थिति में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया था, यह इंगलैंड के हाउस आफ़ कामन्स की एक अभूतपूर्व घटना से स्पष्ट हो जाता है। वहां चार सौ वर्षों से अधिक समय से अधिकतम मज़दूरी निर्धारित करनेवाले क़ानून बनाये जा रहे थे, जिनके द्वारा तय कर दिया जाता था कि मज़दूरी किसी भी हालत में अमुक दर से ऊपर नहीं उठ पायेगी। पर इसी हाउस ऑफ़ कामन्स में १७९६ में व्हिटब्रेड ने खेतिहर मज़दूरों के लिये एक अल्पतम मज़दूरी निश्चित करने का प्रस्ताव किया। पिट ने इसका विरोध किया, मगर यह स्वीकार किया कि "ग़रीबों

जो दरें निश्चित कर दी थीं, कोई भूस्वामी व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक मज़दूरी नहीं दे सकता था। और फिर भी युद्ध के बाद नौकरी की शर्तें कभी-कभी इतनी अच्छी होती थीं कि उसके सौ वर्ष बाद भी उतनी अच्छी शर्तों पर नौकरी नहीं मिलती थी। १६५२ में सिलेशिया के खेत-मज़दूरों को हफ़्ते में दो बार खाने को मांस मिल जाता था, जबकि हमारी वर्तमान शताब्दी में ऐसे इलाक़े भी हैं, जहां खेत-मज़दूरों को वर्ष में केवल तीन बार ही मांस मिलता है। इसके अलावा, युद्ध के बाद मज़दूरी भी अगली शताब्दी की तुलना में ऊंची थी।" (G. Freytag.)

की हालत सचमुच बहुत ख़राब (cruel) है।" अन्त में, १८१३ में मज़दूरी का नियमन करनेवाले क़ानून रद्द कर दिये गये। अब वे एक हास्यास्पद असंगति प्रतीत होते थे, क्योंकि पूंजीपति अपने निजी क़ानूनों द्वारा अपनी फ़ैक्टरी का नियमन करता था और खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी को ग़रीबों को मिलनेवाली सार्वजनिक सहायता के द्वारा अपरिहार्य अल्पतम स्तर पर पहुंचा सकता था। श्रम के परिनियमों की वे धाराएं आज भी पूरी तरह लागू हैं, जिनका मालिकों तथा मज़दूरों के करार, नोटिस देने की आवश्यकता और इसी प्रकार की अन्य बातों से सम्बंध है। इन धाराओं के अनुसार मालिक के क़रार तोड़ने पर उसके खिलाफ़ केवल दीवानी कार्रवाई ही की जा सकती थी, लेकिन, इसके विपरीत, क़रार तोड़नेवाले मज़दूर के ख़िलाफ़ फ़ौजदारी कार्रवाई हो सकती थी।

मज़दूर-यूनियनों पर प्रतिबंध लगानेवाले बर्बर क़ानून क्रुद्ध सर्वहारा के डर से १८२५ में रद्द कर दिये गये। फिर भी उनको केवल आंशिक रूप में ही समाप्त किया गया। पुराने परिनियम के कुछ "सुन्दर" अंश १८५९ तक लागू रहे। अन्त में, २९ जून १८७१ को संसद ने एक क़ानून के द्वारा मज़दूर-यूनियनों को क़ानूनी स्वीकृति देकर इस प्रकार के क़ानूनों के अन्तिम अवशेषों को भी मिटा देने का ढोंग रचा। परन्तु असल में उसी तारीख़ को एक और क़ानून (वह क़ानून, जिसके द्वारा हिंसा, धमकियों और हमलों से सम्बंधित क़ानून में संशोधन किया गया था) बनाकर पुरानी परिस्थिति को एक नये रूप में पुनःस्थापित कर दिया गया। इस संसदीय बाज़ीगरी के ज़रिये मज़दूर हड़ताल या तालाबन्दी के समय जिन साधनों का प्रयोग कर सकते थे, उनको सभी नागरिकों पर सामान्य रूप से लागू होनेवाले क़ानूनों के क्षेत्र से हटाकर कुछ दण्ड-सम्बंधी असाधारण क़ानूनों के अधीन कर दिया गया तथा इन क़ानूनों की व्याख्या करने का अधिकार स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में ख़ुद मालिकों को ही प्राप्त हुआ। इसके दो वर्ष पहले इसी हाउस आफ़ कामन्स में और इन्हीं मि० ग्लैडस्टन ने अपने सुपरिचित स्पष्टवादी ढंग से मज़दूर वर्ग के खिलाफ़ बनाये गये तमाम दण्ड-सम्बंधी असाधारण क़ानूनों को रद्द करने के लिये एक बिल पेश किया था। परन्तु उस बिल को द्वितीय पठन के आगे नहीं बढ़ने दिया गया, और वह उस वक़्त तक खटाई में पड़ा रहा, जब तक कि "महान उदार दल" ने टोरी[79] के साथ गठबंधन करके उसी सर्वहारा का विरोध करने का साहस नहीं कर लिया, जिसके बल पर वह सत्ता प्राप्त करने में सफल हुआ था। "महान उदार दल" को इस विश्वासघात से भी सन्तोष नहीं हुआ। उसने अंग्रेज़ न्यायाधीशों को, जो शासक वर्गों की

सेवा के लिये सदैव प्रस्तुत रहते हैं, "षड्यन्त्र" रोकने के लिये बनाये गये पुराने क़ानून[80] को फिर से खोदकर निकालने और मज़दूरों के संगठनों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। इस तरह हम देखते हैं कि इंगलैंड की संसद ने, ५०० वर्ष तक अत्यन्त अहंवादी निर्लज्जता के साथ ख़ुद मज़दूरों के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों की एक स्थायी यूनियन के रूप में काम करने के बाद, केवल अपनी इच्छा के विरुद्ध और जनता के दबाव से मजबूर होकर ही हड़तालों और मज़दूर-यूनियनों के खिलाफ़ बनाये गये क़ानूनों को रद्द किया था।

फ़्रांस के पूंजीपति वर्ग ने क्रान्ति की पहली आंधी उठने के समय ही मज़दूरों द्वारा संगठन का कुछ ही समय पहले प्राप्त अधिकार छीन लेने का दुस्साहस किया था। १४ जून १७९१ के एक अध्यादेश के द्वारा मज़दूरों के तमाम संगठनों को "स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा का अतिरिक्त अतिक्रमण करने का प्रयत्न" करार दे दिया गया और ऐलान कर दिया गया कि ऐसे प्रत्येक प्रयत्न के लिये ५०० लिव्र जुर्माना किया जायेगा और अपराधी व्यक्ति से एक वर्ष के लिये सक्रिय नागरिक के समस्त अधिकार छीन लिये जायेंगे।* यह क़ानून, जिसने राज्य की शक्ति का प्रयोग करके, पूंजी और श्रम के संघर्ष को पूंजी के लिये सुविधाजनक सीमाओं के भीतर सीमित कर दिया था, अनेक क्रान्तियों और राजवंशों के परिवर्तनों के बावजूद जीवित रहा। यहां तक कि "आतंक का शासन"[81] भी उसे नहीं छू पाया। यह क़ानून दंड-संहिता से केवल अभी हाल में रद्द हुआ है। इस पूंजीवादी बलात् सत्ता-परिवर्तन के लिये जो बहाना बनाया गया, वह बहुत

---

*इस क़ानून की पहली धारा इस प्रकार है: "समान सामाजिक स्तर और पेशे के लोगों के हर प्रकार के संगठनों को नष्ट कर देना चूंकि फ़्रांसीसी विधान का एक मूलाधार है, इसलिये ऐसे संगठनों की किसी भी बहाने से और किसी भी रूप में पुनःस्थापना करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।" चौथी धारा में कहा गया है कि यदि "समान धंधों, कलाओं या व्यावसायों में लगे हुए नागरिक अपने उद्योग अथवा अपने श्रम के रूप में सहायता देने से इनकार करने के उद्देश्य से या केवल एक निश्चित दाम के एवज़ में बेचने के उद्देश्य से आपस में विचार-विनिमय करेंगे या कोई समझौता करेंगे, तो उस प्रकार के प्रत्येक विचार-विनिमय और समझौते को... अवैध घोषित कर दिया जायेगा और उसे स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा पर आक्रमण समझा जायेगा, इत्यादि।" असल में पुराने मज़दूर-संबंधी क़ानूनों की ही भांति इस क़ानून के द्वारा भी मज़दूर-संगठन को एक घोर अपराध क़रार दे दिया गया था। («*Révolutions de Paris*», Paris, 1791, t. III, p. 523).

अर्थपूर्ण है। इस क़ानून के सम्बन्ध में बनायी गयी प्रवर समिति की ओर से रिपोर्ट पेश करते हुए ले शापेले ने कहा था: "यह मानते हुए भी कि आजकल जितनी मज़दूरी मिलती है, उससे थोड़ी ज़्यादा मिलनी चाहिये, और वह जिसको दी जाती है, उसके लिये पर्याप्त होनी चाहिये, ताकि वह व्यक्ति नितान्त परवशता की उस अवस्था में न पहुंच जाये, जो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के अभाव के कारण पैदा हो जाती है और जो लगभग दासता के समान होती है," फिर भी मज़दूरों को ख़ुद अपने हितों के बारे में आपस में समझौता करने या कोई संयुक्त कार्रवाई करने की और इस तरह अपनी उस "नितान्त परवशता" को कम करने की इजाज़त नहीं देनी चाहिये, "जो लगभग दासता के समान होती है," क्योंकि ऐसा करके मज़दूर असल में "अपने भूतपूर्व मालिकों और वर्तमान उद्यमकर्ताओं को हानि पहुंचायेंगे" और क्योंकि शिल्पी संघों के भूतपूर्व मालिकों की निरंकुशता का मिलकर विरोध करना – ज़रा बताइये तो, वह क्या है? – उन शिल्पी संघों की पुनःस्थापना करना है, जिनको फ़्रांसीसी संविधान ने भंग कर दिया है।*

उनतीसवां अध्याय

पूंजीवादी फ़ार्मरों की उत्पत्ति

इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं कि जिनको किसी भी क़ानून का संरक्षण प्राप्त नहीं था, ऐसे सर्वहारा व्यक्तियों के वर्ग को किस तरह ज़बर्दस्ती पैदा किया गया था। हम उस बर्बर अनुशासन का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसके द्वारा इन लोगों को उजरती मज़दूरों में बदल दिया गया था। और हम यह भी देख चुके हैं कि श्रम के शोषण की मात्रा को बढ़ाकर पूंजी के संचय में तेज़ी लाने के उद्देश्य से राज्य ने कितने निर्लज्ज ढंग से अपनी पुलिस का इस्तेमाल किया था। अब केवल यह प्रश्न रह जाता है कि इन पूंजीपतियों की शुरू में कैसे उत्पत्ति हुई थी? कारण कि खेतिहर आबादी की सम्पत्ति के अपहरण से प्रत्यक्ष रूप में केवल बड़े-बड़े भूस्वामियों का ही जन्म होता है। जहां तक फ़ार्मर की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, हम उसके रहस्य का भी पता लगा सकते

---

* Buchez et Roux, «*Histoire Parlementaire*», t. X, pp. 193–195 passim.

हैं, क्योंकि वह एक बहुत ही धीमी क्रिया थी, जिसमें कई शताब्दियां लग गयी थीं। छोटे-छोटे स्वतन्त्र भूस्वामियों की तरह कृषि-दासों को भी अनेक प्रकार की शर्तों पर भूमि मिली हुई थी, और इसलिये उनको बहुत भिन्न प्रकार की आर्थिक परिस्थितियों में कृषि-दासता से मुक्ति प्राप्त हुई। इंगलैंड में फ़ार्मर का पहला रूप bailiff (कारिन्दे) का था, जो ख़ुद भी कृषि-दास था। उसकी स्थिति प्राचीन रोम के villicus की स्थिति से मिलती-जुलती थी, हालांकि उसका कार्य-क्षेत्र अधिक सीमित था। १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसका स्थान एक ऐसे फ़ार्मर ने ले लिया, जिसको बीज, ढोर और औज़ार ज़मींदार से मिल जाते थे। उसकी हालत किसान की हालत से बहुत भिन्न नहीं थी। अन्तर केवल इतना था कि वह किसान की अपेक्षा उजरती मज़दूरों के श्रम का अधिक शोषण करता था। शीघ्र ही वह «métayer» या बटाई पर खेती करनेवाला किसान बन गया। खेती में कुछ पूंजी वह और कुछ ज़मींदार लगाता था। कुल उपज को दोनों क़रार में निश्चित अनुपात के अनुसार बांट लेते थे। इंगलैण्ड में यह रूप भी शीघ्र ही ख़त्म हो गया, और उसकी जगह वास्तविक फ़ार्मर ने ले ली, जो उजरती मज़दूरों को नौकर रखकर ख़ुद अपनी पूंजी का विस्तार करता है और अतिरिक्त पैदावार का एक भाग जिन्स या मुद्रा के रूप में ज़मींदार को बतौर लगान के दे देता है।

१५ वीं शताब्दी में, जब तक स्वतंत्र किसान और आंशिक रूप में मज़दूरी के एवज़ में और आंशिक रूप में ख़ुद अपने लिये काम करनेवाला खेतिहर मज़दूर ख़ुद अपने श्रम से अपना धन बढ़ाते रहे, तब तक फ़ार्मर की आर्थिक हालत कभी बहुत अच्छी नहीं हुई और उसका उत्पादन का क्षेत्र भी बहुत नहीं बढ़ पाया। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों में जो कृषि-क्रान्ति आरम्भ हुई और जो १६ वीं शताब्दी में (उसके अन्तिम दशक को छोड़कर) लगभग बराबर जारी रही, उसने आम खेतिहर आबादी को जितनी जल्दी ग़रीब बनाया, उतनी ही जल्दी फ़ार्मर को धनी बना दिया।*

---

* Harrison ने अपनी रचना *«Description of England»* में कहा है कि "पुराना लगान, सम्भव है, चार पौण्ड से बढ़कर चालीस पौण्ड हो गया हो, पर यदि वर्ष के अन्त में फ़ार्मर के पास छः या सात साल का लगान – पचास या सौ पौण्ड – नहीं बच रहते, तो वह समझेगा कि उसे बहुत कम लाभ हुआ है।"

सामुदायिक ज़मीन के अपहरण से उसे लगभग एक पैसा ख़र्च किये बिना अपने पशुओं की संख्या बढ़ाने का मौक़ा मिला और पशुओं की बढ़ी हुई संख्या से उसे अपनी धरती को उपजाऊ बनाने के लिये पहले से कहीं अधिक खाद मिलने लगी। १६ वीं शताब्दी में एक बहुत महत्वपूर्ण तत्व इसके साथ जुड़ गया। उस ज़माने में फ़ार्मों के पट्टे बहुत लम्बी अवधि के लिये, अक्सर ६६ वर्ष के लिये, लिखे जाते थे। बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में और इसलिये मुद्रा के मूल्य में उत्तरोत्तर गिराव आते जाने से फ़ार्मरों की चांदी हो गयी। ऊपर हम जिन विभिन्न कारणों की चर्चा कर चुके हैं, उन कारणों के अलावा इस कारण से भी मज़दूरी की दर कम हो गयी। अब मज़दूरी का एक भाग फ़ार्म के मुनाफ़े में जुड़ गया। अनाज, ऊन, मांस और संक्षेप में कहें, तो खेती की हर तरह की पैदावार के दाम लगातार बढ़ते जा रहे थे। उसका फल यह हुआ कि फ़ार्मर के किसी यत्न के बिना ही उसकी नक़द पूंजी में बहुत इज़ाफ़ा हो गया। और उसे जो लगान देना पड़ता था, वह चूंकि मुद्रा के पुराने मूल्य के अनुसार ही लिया जाता था, इसलिये वह असल में कम हो गया।* इस प्रकार, फ़ार्मर लोग

---

*१६ वीं शताब्दी में मुद्रा के मूल्य-ह्रास का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके विषय में «*A Compendious or Briefe Examination of Certayne Ordinary Complaints of Divers of our Countrymen in these our Days*». By W. S., Gentleman (London, 1581) देखिये। यह रचना संवाद के रूप में लिखी गयी है। इसलिये बहुत समय तक लोगों का यह विचार रहा कि उसके रचयिता शेक्सपीयर हैं, और यहां तक कि १७५१ में भी वह शेक्सपीयर के नाम से प्रकाशित हुई थी। वास्तव में उसके लेखक विलियम स्टैफ़र्ड थे। इस पुस्तक में एक स्थल है, जहां सूरमा सरदार (knight) इस प्रकार तर्क करता है:

सूरमा सरदार: "आप, मेरे पड़ोसी, जो काश्तकारी करते हैं, और आप, जो कपड़े का व्यापार करते हैं, और आप भी, जो कसेरे हैं, तथा अन्य सब कारीगर, आप सब ख़ूब कमा रहे हैं। चूंकि तमाम चीज़ें पहले के मुक़ाबले में जितनी महंगी हो गयी हैं, आपने अपने सामान के दाम और अपनी सेवाओं के दाम, जिन्हें आप फिर बेच देते हैं, उतने ही बढ़ा दिये हैं। लेकिन हमारे पास तो ऐसी कोई भी चीज़ बेचने के लिये नहीं है, जिसके दाम बढ़ाकर हम उन चीज़ों के बढ़े हुए दामों की क्षति-पूर्ति कर लेते, जो हमें अवश्य ही फिर ख़रीदनी पड़ेंगी।" एक और स्थल है, जहां सूरमा सरदार डाक्टर से पूछता है: "कृपा करके यह तो बताइये कि वे कौन लोग हैं, जिनका आप ज़िक्र कर रहे हैं।

अपने मज़दूरों और ज़मींदारों, दोनों का गला काटकर अधिकाधिक धनी बनते गये। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि १६वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड में पूंजीवादी फ़ार्मरों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था, जो उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए काफ़ी धनी था।*

और सबसे पहले वे लोग कौनसे हैं, जिनके धंधे में, आपके विचार से, नुक़सान नहीं हो सकता?" **डाक्टर**: "मेरा मतलब उन लोगों से है, जो क्रय-विक्रय करके जीविका कमाते हैं, क्योंकि वे जितना महंगा ख़रीदते हैं, उतना ही महंगा बेचते हैं।" **सूरमा सरदार**: "और कौन लोग हैं, जो आप कहते हैं, फ़ायदे में रहेंगे?" **डाक्टर**: "वाह! अरे, वे सब लोग, जिनको पुराने लगान पर ज़मीन जोतने के लिये मिली हुई है, क्योंकि वे लगान देते हैं पुरानी दर के मुताबिक़ और बेचते हैं नयी दर के अनुसार। यानी अपनी ज़मीन की उन्हें बहुत सस्ती क़ीमत देनी होती है और उसपर जो तमाम चीज़ें पैदा होती हैं, उन्हें वे बहुत महंगी बेचते हैं..." **सूरमा सरदार**: "और आपके कहने के मुताबिक़ इन लोगों को जितना मुनाफ़ा होता है, उससे ज़्यादा जिनका नुक़सान हो रहा है, वे लोग कौनसे हैं?" **डाक्टर**: "वे हैं ये सारे अभिजात वर्ग के लोग, भद्र पुरुष और वे सब, जो या तो एक निश्चित लगान या एक निश्चित वेतन के सहारे रहते हैं, या जो ज़मीन को नहीं जोतते, या जो क्रय-विक्रय नहीं करते।"

*फ़्रांस में régisseur, जो मध्य युग के शुरू के दिनों में सामन्ती प्रभुओं का मुनीम, कारिन्दा और लगान जमा करनेवाला गुमाश्ता भी था, शीघ्र ही homme d'affaires (व्यवसायी व्यक्ति) बन गया, और नोच-खसोट, धोखाधड़ी, आदि के ज़रिये अपनी थैलियां भरकर पूंजीपति बन बैठा। इन régisseurs में से कुछ गुमाश्ते तो ख़ुद भी कभी अभिजात वर्ग के थे। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित उद्धरण देखिये: "बेज़ांसों के दुर्गपति सरदार श्री जैक दे थोरेन ने दिजों में बुर्गोन के ड्यूक और काउण्ट की ओर से हिसाब-किताब रखनेवाले श्रीमन्त के सामने उपर्युक्त जागीर में २५ दिसम्बर १३५६ से २८ दिसम्बर १३६० तक की लगान की वसूली की रिपोर्ट पेश की।" (Alexis Monteil, «*Traité des Matériaux Manuscrits etc.*» pp. 234, 235.) यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सबसे बड़ा भाग बिचौलिये हड़प जाते हैं। मिसाल के लिये, आर्थिक क्षेत्र में वित्त-प्रबन्धक, शेयर-बाज़ार के सट्टेबाज़, सौदागर और दूकानदार सारी मलाई खा जाते हैं; दीवानी के मामलों में वकील अपने मुवक्किलों को मूंड लेता है; राजनीति में प्रतिनिधि का मतदाताओं से और मंत्री का राजा से अधिक महत्व होता है; धर्म में भगवान को "मध्यस्थ" अथवा ईसा मसीह पृष्ठ-भूमि में डाल देता है, और ईसा मसीह

तीसवां अध्याय

कृषि-क्रान्ति की उद्योग में प्रतिक्रिया। औद्योगिक पूंजी के लिये घरेलू मण्डी की रचना

खेतिहर आबादी के सम्पत्ति-अपहरण और निष्कासन की क्रिया बीच-बीच में रुक जाती थी, पर वह हर बार नये सिरे से शुरू हो जाती थी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस क्रिया से शहरों को ऐसे सर्वहारा मज़दूरों की विशाल संख्या प्राप्त हुई थी, जिनका संगठित शिल्पी संघों से तनिक भी संबंध न था और जिनके लिये इन शिल्पी संघों के बंधनों का कोई अस्तित्व न था। यह परिस्थिति इतनी सुविधाजनक थी कि वृद्ध ए० एंडरसन ने (जिनको जेम्स एंडरसन के साथ नहीं गड़बड़ा देना चाहिये) तो अपने *«History of Commerce»* (वाणिज्य का इतिहास)[82] में यह मत प्रकट किया है कि इस चीज़ के पीछे ज़रूर भगवान का प्रत्यक्ष हाथ रहा होगा। यहां हमें फिर एक क्षण के लिये रुककर आदिम संचय के इस तत्व पर विचार करना होगा। स्वतंत्र, आत्म-निर्भर किसानों की संख्या कम हो जाने का केवल यही फल नहीं हुआ कि शहरों में औद्योगिक

को पादरी लोग पृष्ठ-भूमि में धकेल देते हैं, क्योंकि ईसा और उसकी "भेड़ों" के बीच उनकी मध्यस्थता अनिवार्य होती है। इंगलैंड की तरह फ़्रांस में भी सामन्तों की बड़ी-बड़ी जागीरें असंख्य छोटी-छोटी जोतों में बंट गयी थीं, मगर वहां वह बंटवारा जनता के दृष्टिकोण से इंगलैंड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ था। १४ वीं शताब्दी में फ़ार्मों – अथवा terriers – का जन्म हुआ। उनकी संख्या बराबर बढ़ती गयी और १,००,००० से कहीं आगे निकल गयी। इन फ़ार्मों को जो लगान देना पड़ता था, वह जिन्स या मुद्रा के रूप में उनकी उपज के बारहवें हिस्से से लेकर पांचवें हिस्से तक होता था। इन फ़ार्मों की हैसियत उनके मूल्य तथा विस्तार के अनुसार जागीरों और उप-जागीरों (fiefs, subfiefs), आदि की होती थी। उनमें से बहुत-से तो केवल कुछ ही एकड़ के फ़ार्म थे। लेकिन इन फ़ार्मरों को अपनी भूमि पर रहनेवालों के मुक़दमे निपटाने का कुछ हद तक अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के अधिकारों की चार कोटियां थीं। ये छोटे-छोटे अत्याचारी खेतिहर आबादी पर कैसा ज़ुल्म करते होंगे, यह आसानी से समझ में आ सकता है। मोंतेई ने बताया है कि फ़्रांस में, जहां आजकल मय स्थानीय मजिस्ट्रेटों के केवल ४,००० अदालतें काफ़ी हैं, एक समय १,६०,००० अदालतें थीं।

सर्वहारा की उसी तरह रेल-पेल होने लगी, जिस तरह जोफ़ुआ सेंत-इलेर की व्याख्या के अनुसार जब अंतरिक्षीय पदार्थ का एक स्थान पर विरलन हो जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसका संघनन हो जाता है।* भूमि के जोतनेवालों की संख्या तो पहले से कम हो गयी थी, पर उपज पहले जितनी ही या उससे भी अधिक होती थी, क्योंकि भूसम्पत्ति के रूपों में क्रान्ति होने के साथ-साथ खेती के तरीक़ों में अनेक सुधार हो गये थे, पहले से अधिक सहकारिता का प्रयोग होने लगा था, उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण हो गया था, इत्यादि, और क्योंकि न केवल खेतिहर मज़दूरों से पहले से अधिक तीव्र परिश्रम कराया जाता था,** बल्कि वे उत्पादन के जिस क्षेत्र में अपने लिये काम करते थे, वह अधिकाधिक संकुचित होता जाता था। इसलिये जब खेतिहर आबादी के एक भाग को भूमि से मुक्त कर दिया गया, तो पोषण के भूतपूर्व साधनों का भी एक भाग मुक्त हो गया। ये साधन अब अस्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों में रूपान्तरित हो गये। किसान को, जिसकी सम्पत्ति छिन गयी थी और जो अब दर-दर की ठोकर खाता घूम रहा था, अपने नये मालिक – औद्योगिक पूंजीपति – से इन साधनों का मूल्य अनिवार्यतः मज़दूरी के रूप में प्राप्त करना था। जो बात जीवन-निर्वाह के साधनों के लिये सच है, वही घरेलू खेती पर निर्भर करनेवाले उद्योग के कच्चे माल के लिये भी सच है। यह कच्चा माल स्थिर पूंजी का एक तत्व बन गया।

उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि वेस्टफ़ालिया के उन किसानों के एक भाग को, जो फ़्रेडरिक द्वितीय के राज्यकाल में फ़्लैक्स की कताई किया करते थे, भूमि से खदेड़ दिया जाता है और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है, और उनका जो भाग वहां बच जाता है, वह बड़े फ़ार्मरों के खेतों पर मज़दूरी करने लगता है। साथ ही फ़्लैक्स की कताई और बुनाई के बड़े-बड़े कारख़ाने खुल जाते हैं, जिनमें वे लोग मज़दूरी करते हैं, जो इस तरह "मुक्त" कर दिये गये हैं। फ़्लैक्स देखने में अब भी पहले जैसा ही लगता है। उसका एक रेशा तक नहीं बदला, मगर अब उसकी देह में एक नयी सामाजिक आत्मा आकर बैठ गयी है। अब वह मैनुफ़ेक्चर के मालिक की स्थिर पूंजी का एक भाग बन गया है। पहले वह बहुत-से छोटे-छोटे उत्पादकों के बीच बंटा हुआ था, जो ख़ुद उसकी खेती किया

---

* जोफ़ुआ सेंत-इलेर ने यह बात अपनी रचना *«Notions de Philosophie Naturelle»*, Paris, 1838 में कही है।

** इस बात पर सर जेम्स स्टूअर्ट ने जोर दिया है।[83]

करते थे और अपने बाल-बच्चों की मदद से थोड़ा-थोड़ा करके उसे घर पर ही कात डालते थे। अब वह सारा एक पूंजीपति के हाथों में केंद्रित हो जाता है, जो दूसरे आदमियों से अपने लिये उसकी कताई और बुनाई कराता है। पहले फ़्लैक्स की कताई में जो अतिरिक्त श्रम ख़र्च होता था, वह अनेक किसान परिवारों की अतिरिक्त आय के रूप में साकार हो उठता था; या सम्भव है कि फ़्रेडरिक द्वितीय के काल में वह प्रशा के राजा को (pour le roi de Prusse) दिये जानेवाले करों का रूप धारण कर लेता हो। पर अब वह चन्द पूंजीपतियों के मुनाफ़े का रूप धारण कर लेता है। चर्खे और करघे, जो पहले देहातों में बिखरे हुए थे, अब मज़दूरों और कच्चे माल के साथ चन्द बड़ी-बड़ी श्रम-बारिकों में एकत्रित कर दिये जाते हैं। और ये चर्खे, करघे और कच्चा माल अब पहले की तरह कताई करनेवालों तथा बुनाई करनेवालों के स्वतंत्र जीविका कमाने के साधन न रहकर इन लोगों पर हुक्म चलाने और उनका अवेतन श्रम चूसने के साधन बन जाते हैं।* बड़े-बड़े मैनुफ़ेक्चरों और बड़े-बड़े फ़ार्मों को देखकर कोई यह नहीं सोचेगा कि उत्पादन के बहुत-से छोटे-छोटे केन्द्रों को एक में जोड़ देने से इनका जन्म हुआ है और बहुत-से छोटे-छोटे स्वतन्त्र उत्पादकों की सम्पत्ति का अपहरण करके इनका निर्माण किया गया है। परन्तु जनता की सहज बुद्धि ने वास्तविकता को समझने में ग़लती नहीं की। क्रान्ति-केसरी मिराबो के काल में बड़े-बड़े मैनुफ़ेक्चर manufactures réunies – या "कई वर्कशापों को जोड़कर बनायी गयी संयुक्त वर्कशापें" – कहलाते थे, जैसे खेतों के बारे में कहा जाता था कि कई खेत मिलाकर एक कर दिये गये हैं। मिराबो ने कहा है: "हम केवल उन विशाल मैनुफ़ेक्चरों की ओर ही ध्यान देते हैं, जिनमें सैकड़ों आदमी एक संचालक की देखरेख में काम करते हैं और जिनको आम तौर पर manufactures réunies कहा जाता है। उन मैनुफ़ेक्चरों की ओर हम कोई ध्यान नहीं देते, जिनमें बहुत सारे मज़दूर अलग-अलग और अपने ही लिये काम करते हैं। वे पहले ढंग के मैनुफ़ेक्चरों से एकदम दूर जा पड़ते हैं। लेकिन उनको पृष्ठ-भूमि में डाल देना एक बहुत बड़ी ग़लती है, क्योंकि असल में ये दूसरे ढंग के मैनुफ़ेक्चर ही

---

*पूंजीपति का कहना यह है कि "मैं तुम्हें यह इज़्ज़त बख़्शूंगा कि तुमसे अपनी सेवा कराऊंगा, बशर्ते कि तुम्हें हुक्म देने में मुझे जो कष्ट होगा, उसके एवज़ में तुम्हारे पास जो कुछ बचा है, वह तुम मुझे सौंप दो।" (J.J. Rousseau, *«Discours sur l'Économie Politique»*).

राष्ट्रीय समृद्धि का महत्वपूर्ण आधार होते हैं... बड़ी वर्कशाप (manufacture réunie) से एक या दो उद्यमकर्ता असाधारण रूप से धनी बन जायेंगे, लेकिन मज़दूर न्यूनाधिक मज़दूरी पानेवाले मज़दूर ही बने रहेंगे और व्यवसाय की सफलता में उनका कोई भाग नहीं होगा। अलग से काम करनेवाली वर्कशाप (manufacture séparée) में, इसके विपरीत, कोई धनी नहीं बन पायेगा, लेकिन बहुत-से मज़दूर आराम से जीवन बिता सकेंगे। उनमें जो मितव्ययी और परिश्रमी होंगे, वे थोड़ी-सी पूंजी जमा कर लेंगे और सन्तानोत्पत्ति के समय के लिये, बीमारी के वक़्त के लिये, अपने ऊपर ख़र्च करने के लिये या कोई चीज़-बसत ख़रीदने के लिये कुछ बचा लेंगे। मितव्ययी और परिश्रमी मज़दूरों की संख्या बढ़ती जायेगी, क्योंकि वे ख़ुद अपने अनुभव से यह देखेंगे कि अच्छा आचरण और क्रियाशीलता मूलतया उनकी अपनी स्थिति में सुधार करने का साधन है, न कि मज़दूरी में थोड़ा इज़ाफ़ा कराने का, जिसका भविष्य के लिये कभी कोई महत्व नहीं हो सकता और जिसका एकमात्र परिणाम यही होता है कि आदमी थोड़ी बेहतर ज़िन्दगी बिताने लगता है, पर कभी-कभी... बड़ी वर्कशाप कुछ व्यक्तियों का निजी व्यवसाय होती है, जो मज़दूरों को रोज़ाना मज़दूरी देकर उनसे अपने हित में काम कराते हैं। इस प्रकार की वर्कशापों से इन व्यक्तियों को सुख मिल सकता है, लेकिन वे कभी इस लायक़ नहीं बन सकतीं कि सरकारें उनकी ओर ध्यान दें। स्वतन्त्र वर्कशाप केवल अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों की उन वर्कशापों को ही समझा जा सकता है, जिनके साथ प्रायः छोटी-छोटी जोतों की खेती भी जुड़ी रहती है।"* जब खेतिहर आबादी के एक भाग की सम्पत्ति छीन ली गयी और उसे ज़मीन से बेदख़ल कर दिया गया, तो उससे न केवल मज़दूर, उनके जीवन-निर्वाह के साधन तथा श्रम की सामग्री औद्योगिक पूंजी के वास्ते काम करने को स्वतंत्र हो गयी, बल्कि घरेलू मण्डी भी तैयार हो गयी।

सच तो यह है कि जिन घटनाओं ने छोटे किसानों को उजरती मज़दूरों में और उनके जीवन-निर्वाह तथा श्रम करने के साधनों को पूंजी के भौतिक तत्वों

---

* Mirabeau, वही, t. III, pp. 20—109 passim. मिराबो यदि अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों की वर्कशापों को "संयुक्त" वर्कशापों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक और उत्पादक समझते थे और "संयुक्त" वर्कशापों को सरकार द्वारा बनावटी ढंग से पैदा किया गया एक परदेशी पौधा मानते थे, तो उसका कारण यह है कि उस काल के यूरोपीय महाद्वीप के अधिकतर मैनुफ़ैक्चरों की हालत कुछ इसी तरह की थी।

में बदल डाला था, उन्हीं घटनाओं ने पूंजी के लिये एक घरेलू मण्डी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल तैयार करता था, और इन चीजों के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्रायः किसान और उसके परिवार के लोग ही कर डालते थे। पर अब इस कच्चे माल ने और जीवन-निर्वाह के इन साधनों ने मालों का रूप धारण कर लिया है। इन चीजों को बड़े-बड़े फ़ार्मर बेचते हैं; उनकी मण्डी हैं मैनुफ़ेक्चर। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान—वे तमाम चीजें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुंच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिये कात-बुनकर तैयार कर लिया करता था, अब मैनुफ़ेक्चरों की बनी चीजों में रूपान्तरित हो गयीं, और देहाती इलाक़े इन मैनुफ़ेक्चरों के लिये तुरन्त मण्डियों का काम करने लगे। पहले स्वयं अपने हित में उत्पादन करनेवाले छोटे-छोटे कारीगर अपनी बनायी हुई चीजें बहुत-से बिखरे हुए ग्राहकों के हाथ बेच दिया करते थे। अब वे ग्राहक एक बड़ी मण्डी में केन्द्रित हो जाते हैं, जिसकी आवश्यकताओं की पूर्ति औद्योगिक पूंजी करती है।* इस प्रकार, जहां एक ओर आत्म-निर्भर किसानों की सम्पत्ति का अपहरण किया जाता है और उनको उनके उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया जाता है, वहां, दूसरी ओर इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार मैनुफ़ेक्चर और खेती का सम्बन्ध-विच्छेद करने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की अन्दरूनी मण्डी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिनकी उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली को आवश्यकता होती है। फिर भी जिसे सचमुच मैनुफ़ेक्चर का काल जा सकता है, वह इस रूपान्तरण को मूलभूत रूप से तथा पूरी तरह कार्यान्वित करने में सफल

---

* "जब मज़दूर का परिवार अपने अन्य कामों के बीच-बीच में ख़ुद अपने उद्योग से बीस पौण्ड ऊन को आसानी से अपने वर्ष भर के कपड़ों में बदल डालता है, तब उसको लेकर कोई खास आडम्बर नहीं किया जाता। लेकिन इसी ऊन को ज़रा मण्डी में ले आइये और उसे फ़ैक्टरी में और वहां से आढ़ती के पास और उसके यहां से दूकानदार के पास तक पहुंचने भर दीजिये कि विशाल व्यापारिक क्रियायें आरम्भ हो जायेंगी... इस प्रकार मज़दूर वर्ग को लूटकर फ़ैक्टरियों से सम्बन्धित अभागी आबादी को, मुफ़्तख़ोर दूकानदार वर्ग को और वाणिज्य, मुद्रा और वित्त की झूठी व्यवस्था को जीवित रखा जाता है।" (David Urquhart, «*Familiar Words*», London, 1855, p. 120.)

नहीं होता। पाठकों को याद होगा कि जिसे सचमुच मैनुफ़ेक्चर कहा जा सकता है, वह राष्ट्रीय उत्पादन के सारे क्षेत्र पर केवल आंशिक रूप से ही अधिकार कर पाता है, और वह अपने निर्णायिक आधार के रूप में सदा शहरी दस्तकारियों और देहाती इलाक़ों के घरेलू उद्योग पर ही निर्भर करता है। यदि वह इन दस्तकारियों और इस घरेलू उद्योग को एक रूप में, कुछ ख़ास शाखाओं में या कुछ ख़ास बिन्दुओं पर नष्ट कर देता है, तो अन्यत्र वह उनको पुनः जन्म दे देता है, क्योंकि एक ख़ास बिन्दु तक उसको कच्चा माल तैयार करने के लिये इनकी आवश्यकता होती है। अतएव, मैनुफ़ेक्चर छोटे ग्रामवासियों के एक नये वर्ग को उत्पन्न कर देता है, जो खेती तो एक सहायक धंधे के रूप में करता है, पर जिसका मुख्य धंधा औद्योगिक श्रम करना होता है, जिसकी पैदावार वह सीधे-सीधे या सौदागरों के माध्यम से मैनुफ़ेक्चरों को बेच देता है। यह बात एक ऐसी घटना का कारण बन जाती है—हालांकि वह उसका मुख्य कारण नहीं है—जो इंगलैंड के इतिहास के विद्यार्थी को शुरू-शुरू में काफ़ी उलझन में डाल देती है। १५वीं शताब्दी के आख़िरी तिहाई भाग से ही वह लगातार यह शिकायत सुनता आता है—हालांकि बीच-बीच में कुछ समय के लिये वह शिकायत सुनाई नहीं देती—कि देहाती इलाक़ों में पूंजीवादी खेती का प्रसार बढ़ता जा रहा है और उसके फलस्वरूप किसानों का वर्ग नष्ट होता जा रहा है। दूसरी ओर, वह सदा यह भी देखता है कि किसानों का यह वर्ग हर बार नया जन्म लेकर सामने आ जाता है, हालांकि उसकी संख्या कम होती जाती है और उसकी हालत हर बार पहले से ज़्यादा ख़राब दिखाई देती है।* इसका मुख्य कारण यह है कि इंगलैंड कभी तो मुख्यतया अनाज पैदा करनेवाला देश बन जाता है और कभी मुख्यतया पशुओं का प्रजनन करनेवाले देश का रूप धारण कर लेता है। और ये रूप बारी-बारी से सामने आते रहते हैं और उनके साथ-साथ किसानों की खेती का विस्तार भी घटता-बढ़ता रहता है। केवल, और अन्तिम रूप में, आधुनिक उद्योग ही पूंजीवादी खेती का स्थायी आधार—मशीनें—तैयार करता है। वही खेतिहर आबादी के अधिकांश की सम्पत्ति का पूरी तरह अपहरण करता है। वही खेती और देहाती घरेलू उद्योग के अलगाव को सम्पूर्ण करता है और

---

*क्रॉमवेल का समय इसका अपवाद था। जब तक प्रजातन्त्र जीवित रहा, तब तक के लिये इंगलैंड की आम जनता का प्रत्येक स्तर उस पतन के गर्त्त से ऊपर उठ आया था, जिसमें वह ट्यूडोर राजाओं के शासनकाल में डूब गया था।

इस उद्योग की जड़ों को – कताई और बुनाई को – उखाड़कर फेंक देता है।* और इसलिये, वही पहली बार औद्योगिक पूंजी की ओर से पूरी घरेलू मण्डी पर विजय प्राप्त करता है।**

---

*टकेट को इस बात का ज्ञान है कि आधुनिक ऊनी उद्योग का, मशीनों का प्रयोग आरम्भ होने के साथ-साथ वास्तविक मैनुफ़ेक्चर से तथा देहाती एवं घरेलू उद्योगों के विनाश से जन्म हुआ है। डेविड उर्कहार्ट ने लिखा है: "हल और जुए के बारे में कहा जाता है कि उनका आविष्कार देवताओं ने किया है और उनका उपयोग वीर लोग करते हैं। परन्तु क्या करघे और लाठ के जनक इतने श्रेष्ठ कुल के नहीं थे? लाठ और हल तथा चर्खे और जुए का सम्बन्ध-विच्छेद कर दीजिये – आपके देखते-देखते फ़ैक्टरियां और मुहताजखाने, जमी हुई साख और बदहवासी, एक दूसरे के शत्रु दो राष्ट्र – एक खेती करनेवाला और दूसरा वाणिज्य और व्यवसाय करनेवाला – आपके सामने खड़े हो जायेंगे।" David Urquhart, वही, p. 122.) परन्तु उर्कहार्ट के बाद कैरी आते हैं और शिकायत करने लगते है – और उनकी शिकायत बेबुनियाद नहीं प्रतीत होती – कि इंगलैंड दूसरे हरेक देश को महज़ एक खेतिहर राष्ट्र बना डालने की कोशिश कर रहा है और उन सब के लिये कारख़ानों का सामान तैयार करनेवाला देश ख़ुद बनना चाहता है। कैरी दावा करते हैं कि तुर्की को इसी तरह बरबाद किया गया है, क्योंकि वहां "ज़मीन के मालिकों और ज़मीन के जोतनेवालों को हल और करघे तथा हथौड़े और हेंगे के बीच स्वाभाविक मैत्री स्थापित करके अपने को शक्तिशाली बनाने की इंगलैंड ने कभी अनुमति नहीं दी।" («*The Slave Trade*», p. 125.) कैरी के मतानुसार, उर्कहार्ट ने ख़ुद भी तुर्की की तबाही में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है, क्योंकि उन्होंने वहां इंगलैंड के हित में स्वतंत्र व्यापार का प्रचार किया है। और सबसे बड़ा मज़ाक़ यह है कि कैरी, जो रूस के बड़े प्रशंसक और प्रेमी हैं, खेती और घरेलू उद्योग के सम्बंध-विच्छेद की इस क्रिया को संरक्षण की उसी प्रणाली के द्वारा रोकना चाहते हैं, जिससे उसे प्रोत्साहन मिलता है।

**जिस प्रकार ईश्वर ने क़ाइन से उसके भाई हाबिल के बारे में पूछा था, उसी प्रकार लोकोपकारी अंग्रेज़ अर्थशास्त्री, जैसे मिल, राजर्स, गोल्डविन स्मिथ, फ़ोसेट, आदि, और उदारपंथी कारख़ानेदार, जैसे जॉन ब्राइट, आदि, अंग्रेज़ भूस्वामियों से पूछते हैं कि "हमारे हज़ारों माफ़ीदार कहां चले गये?" लेकिन तब तुम लोग कहां से आये हो? उन्हीं माफ़ीदारों को नष्ट करके तुम पैदा हुए हो। तुम आगे बढ़कर यह प्रश्न क्यों नहीं करते कि स्वतंत्र बुनकर, कताई करनेवाले और कारीगर कहां चले गये हैं?

इकतीसवां अध्याय

औद्योगिक पूंजीपति की उत्पत्ति

औद्योगिक* पूंजीपति की उत्पत्ति उतने धीरे-धीरे नहीं हुई, जितने धीरे-धीरे पूंजीवादी फ़ार्मर की उत्पत्ति हुई थी। इसमें कोई शक नहीं कि शिल्पी संघों के बहुत-से छोटे-छोटे उत्पादकों ने और उससे भी बड़ी संख्या में छोटे-छोटे स्वतंत्र दस्तकारों ने या यहां तक कि उजरती मज़दूरों ने भी अपने को छोटे-छोटे पूंजीपतियों में बदल डाला था, और बाद में वे (धीरे-धीरे उजरती मज़दूरों के शोषण को बढ़ाकर और उसके साथ-साथ पूंजी के संचय को तेज़ करके) पूर्ण-प्रस्फुटित पूंजीपति बन गये थे। पूंजीवादी उत्पादन की बाल्यावस्था में भी बहुधा उसी प्रकार की घटनायें होती थीं, जिस प्रकार की घटनायें मध्ययुगीन नगरों की बाल्यवस्था में हुआ करती थीं, जहां पर यह प्रश्न कि गांवों से भागकर आये हुए कृषि-दासों में से कौन मालिक बनेगा और कौन नौकर, अधिकतर इस बात से तय होता था कि कौन गांव से पहले और कौन बाद को भागा था। यह क्रिया इतनी धीरे-धीरे चलती थी कि १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों के महान आविष्कारों ने जिस संसारव्यापी मण्डी का निर्माण कर दिया था, उसकी आवश्यकताएं उससे कदापि पूरी नहीं हो सकती थीं। परन्तु मध्य युग से पूंजी के स्पष्टतया दो भिन्न रूप विरासत में मिले थे, जो बहुत ही भिन्न प्रकार के आर्थिक समाज-संघटनों के भीतर परिपक्व हुए थे और जिनको उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का युग आरम्भ होने के पहले वास्तविक पूंजी समझा जाता था। ये दो रूप सूदख़ोर की पूंजी और सौदागर की पूंजी के थे।

"इस समय समाज का समस्त धन पहले पूंजीपति के अधिकार में चला जाता है... वह ज़मींदार को उसका लगान देता है, मज़दूर को उसकी मज़दूरी देता है, कर तथा दशांश वसूल करनेवालों को उनका पावना देता है और श्रम की वार्षिक पैदावार का एक बड़ा हिस्सा – और सच पूछिये, तो सबसे बड़ा और निरन्तर बढ़ता हुआ हिस्सा – वह ख़ुद अपने लिये रख लेता है। पूंजीपति के बारे में अब यह कहा जा सकता है कि वह समाज के समस्त धन का प्रथम स्वामी

---

*यहां "खेतिहर" शब्द के व्यतिरेक में "औद्योगिक" शब्द का प्रयोग किया गया है। "निरपेक्ष" अर्थ में तो फ़ार्मर भी उसी हद तक औद्योगिक पूंजीपति होता है, जिस हद तक कारख़ानेदार।

होता है, हालांकि किसी क़ानून ने उसको इस सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार नहीं दिया है... यह परिवर्तन पूंजी पर सूद लेने के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ है... और यह कम विचित्र बात नहीं है कि यूरोप के सभी क़ानून बनानेवालों ने क़ानून बनाकर इस चीज़ को रोकने की कोशिश की थी; मिसाल के लिये, सूदख़ोरी के ख़िलाफ़ इसी उद्देश्य से क़ानून बनाये गये थे... देश के समस्त धन पर पूंजीपति का अधिकार स्थापित हो जाने से सम्पत्ति का अधिकार सम्पूर्णतया बदल गया है। और यह परिवर्तन किस क़ानून अथवा किन क़ानूनों के द्वारा सम्पन्न हुआ है?"* लेखक को याद रखना चाहिये था कि क्रान्तियां क़ानूनों के द्वारा सम्पन्न नही होतीं।

सूदख़ोरी और वाणिज्य के द्वारा जिस नक़द पूंजी का निर्माण हुआ था, उसे देहात में सामन्ती प्रथा ने और शहरों में शिल्पी संघों के संगठन ने औद्योगिक पूंजी नहीं बनने दिया था।** जब सामन्ती समाज का विघटन हुआ और देहाती आबादी की सम्पत्ति छीन ली गयी तथा आंशिक रूप में उसे ज़मीनों से खदेड़ दिया गया, तो ये बंधन भी टूट गये। नये कारख़ानेदार समुद्र किनारे के बन्दरगाहों में या देश के भीतर ऐसे स्थानों पर जाकर जम गये, जो पुरानी नगरपालिकाओं और उनके शिल्पी संघों के नियंत्रण के बाहर थे। इसीलिये इंगलैंड में इन नयी औद्योगिक रोपणियों के साथ उन शिल्पी संघों वाले नगरों (corporate towns) का बड़ा कटु संघर्ष हुआ।

अमरीका में सोने और चांदी की खोज; आदिवासी आबादी का समूल नष्ट कर दिया जाना, गुलाम बनाया जाना और खानों में ज़िन्दा दफ़ना दिया जाना; ईस्ट इंडीज़ की विजय तथा लूट का श्रीगणेश; अफ़्रीका का हब्शियों के व्यापारिक आखेट की भूमि बन जाना—इसी प्रकार की घटनाओं के द्वारा यह संकेत मिला था कि पूंजीवादी उत्पादन का अरुणोदय हो रहा है। इन सुखद क्रियाओं का

---

* «*The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted*», London, 1832, pp. 98,99. इस गुमनाम पुस्तक के लेखक थे टामस हॉड्स्किन।

** १७९४ की बात है कि लीड्स के छोटे-छोटे कपड़ा तैयार करनेवालों ने एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर संसद को यह दरख़्वास्त दी थी कि क़ानून बनाकर सौदागरों को कारख़ानेदार बन जाने से रोक दिया जाये। (Dr. Aikin, «*Description of the Country from Thirty to Forty Miles round Manchester*», London, 1795.)

आदिम संचय में मुख्य भाग रहा है। उनके बाद तुरन्त ही यूरोपीय राष्ट्रों का वाणिज्य-युद्ध आरम्भ हो गया, जिसका क्षेत्र पूरा भूगोल था। वह शुरू हुआ स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध निदरलैण्ड्स के विद्रोह से,[84] इंगलैंड के जैकोबिन-विरोधी युद्ध में उसने भयानक विस्तार प्राप्त किया और चीन के ख़िलाफ़ अफ़ीम के युद्धों,[85] आदि के रूप में वह आज भी जारी है।

आदिम संचय के विभिन्न तत्व अब न्यूनाधिक रूप से कालक्रमानुसार ख़ास तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, फ़्रांस और इंगलैंड के बीच बंट गये थे। इंगलैंड में १७ वीं शताब्दी के अन्त में उन सब को उपनिवेश-प्रणाली, राष्ट्रीय ऋण, आधुनिक कर-प्रणाली और संरक्षण-प्रणाली के रूप में सुनियोजित ढंग से जोड़ दिया गया। कुछ हद तक ये तरीक़े पाशविक बल पर निर्भर करते हैं, जिसका उदाहरण है औपनिवेशिक व्यवस्था। लेकिन जिस तरह कांच-गृहों में पौधों का विकास जल्दी से पूरा कर डालने की कोशिश की जाती है, उसी प्रकार सामन्ती उत्पादन प्रणाली को पूंजीवादी प्रणाली में रूपान्तरित करने की क्रिया को जल्दी से पूरा कर डालने के लिये और उसको संक्षिप्त कर देने के उद्देश्य से इन सभी तरीक़ों में समाज के संकेन्द्रित एवं संगठित बल का – राज्य की सत्ता का – प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक ऐसे पुराने समाज के लिये, जिसके गर्भ में नये समाज का अंकुर बढ़ रहा है, बल-प्रयोग बच्चा जनवानेवाली दाई का काम करता है। बल-प्रयोग स्वयं एक आर्थिक शक्ति है।

डब्लू० हॉविट् ने, जिन्होंने ईसाई धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया है, ईसाई औपनिवेशिक व्यवस्था के बारे में लिखा है: "ईसाई कहलानेवाली नस्ल ने संसार के प्रत्येक इलाक़े में और हर ऐसी क़ौम पर, जिसे वह जीतने में सफल हुई है, जैसे बर्बर और भयानक अत्याचार किये हैं, वैसे अत्याचार पृथ्वी के किसी भी युग में किसी और नस्ल ने, वह चाहे जितनी ख़ूंख़ार, जाहिल और दया तथा लज्जा से जितनी विहीन क्यों न रही हो, नहीं किये हैं।"* हालैण्ड के औपनिवेशिक प्रशासन का इतिहास – और यह ध्यान रहे कि हालैण्ड १७ वीं शताब्दी

---

* William Howitt, «*Colonisation and Christianity. A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans, in all their Colonies*», London, 1838, p. 9. दासों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता था, इसके बारे में Charles Comte की रचना «*Traité de la Législation*», 3 me éd., Bruxelles, 1837 में काफ़ी जानकारी इकट्ठी कर दी गयी

का प्रमुख पूंजीवादी देश था—"विश्वासघात, घूसख़ोरी, हत्याकाण्ड और नीचता की एक अत्यन्त असाधारण कहानी है।"* हालैण्ड वाले जावा में गुलामों के रूप में इस्तेमाल करने के लिये सेलेबीस में इनसानों की चोरी किस तरह किया करते थे, उससे उनके तरीक़ों पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोगों को इनसानों को चुराने की विशेष शिक्षा दी जाती थी। चोर, दुभाषिये और बेचनेवाले इस व्यापार के मुख्य आढ़ती थे और देशी राजा मुख्य बेचनेवाले थे। जिन युवक-युवतियों को चुराया जाता था, उनको जब तक वे दासों के समान काम करने के लायक़ नहीं होते और जहाज़ों में भरकर नहीं भेजे जाते थे, तब तक सेलेबीस के गुप्त क़ैदख़ानों में बन्द करके रखा जाता था। एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा है: "मिसाल के लिये, यह एक शहर, मैकेस्सर, गुप्त जेलख़ानों से भरा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे से अधिक भयानक है और जिनमें लोभ और अन्याय के शिकार वे अभागे इनसान भरे हुए हैं, जिनको उनके परिवारों से ज़बर्दस्ती अलग करके ज़ंजीरों में जकड़ दिया गया है।" मलक्का को जीतने के लिये डच लोगों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस देने का वायदा करके अपनी तरफ़ कर लिया था। उसने १६४१ में उनको शहर में घुस जाने दिया। इन्होंने शहर में प्रवेश करते ही पहले उसी गवर्नर के मकान पर चढ़ाई की और उसे क़त्ल कर दिया, ताकि उसके विश्वासघात की क़ीमत के रूप में २१,८७५ पौण्ड न देने पड़ें। डच लोगों ने जहां कहीं क़दम रखा, वहीं तबाही आ गयी और बस्ती उजाड़ हो गयी। १७५० में जावा बांजूवांगी प्रान्त की आबादी ८०,००० थी, १८११ तक वह केवल ८,००० रह गयी। कितना मधुर व्यवसाय था वह!

जैसा कि सुविदित है, अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी[86] का हिन्दुस्तान में राजनीतिक शासन तो था ही, इसके अलावा उसको चाय के व्यापार का, चीन के साथ सभी प्रकार का व्यापार करने का और यूरोप से माल लाने और यूरोप में माल ले जाने का एकाधिकार भी मिला हुआ था। परन्तु हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के व्यापार और पूर्वी द्वीपों के पारस्परिक व्यापार और साथ ही हिन्दुस्तान

है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जहां कहीं पूंजीपति वर्ग बिना किसी रोक-थाम के दुनिया का अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार पुनर्निर्माण कर सकता है, वहां वह ख़ुद अपने को और मज़दूर को क्या बना डालता है, उनको इस रचना का सविस्तार अध्ययन करना चाहिये।

*देखिये जावा द्वीप के भूतपूर्व लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर Thomas Stamford Raffles की रचना «*The History of Java*», London, 1817.

के अन्दरूनी व्यापार पर भी कम्पनी के ऊंचे कर्मचारियों का एकाधिकार था। नमक, अफ़ीम, पान और अन्य मालों के व्यापार का एकाधिकार धन की अक्षय खान का काम करता था। इन चीज़ों के दाम ख़ुद कम्पनी के कर्मचारी निश्चित करते थे और अभागे हिन्दुओं को इच्छानुसार लूटते थे। इस प्राइवेट व्यापार में गवर्नर-जनरल भी भाग लेता था। उसके कृपा-पात्रों को इतनी अच्छी शर्तों पर ठेके मिल जाते थे कि वे, कीमियागरों से अधिक होशियार होने के कारण, मिट्टी से सोना बनाया करते थे। चौबीस घण्टे के अन्दर कुकुरमुत्तों की तरह ढेरों दौलत बटोर ली जाती थी; एक शिलिंग भी पेशगी के रूप में लगाना नहीं पड़ता था और आदिम संचय धड़ल्ले से चल निकलता था। वारेन हैस्टिंग्स के मुक़दमे में इस तरह के अनेक मामले सामने आये थे। एक उदाहरण देखिये। सल्लीवेन नामक एक व्यक्ति को भारत के एक ऐसे भाग में, जो अफ़ीम के इलाक़े से बहुत दूर था, सरकारी काम पर भेजा जा रहा था। चलते समय उसे अफ़ीम का ठेका दे दिया गया। सल्लीवेन ने अपना ठेका बिन नामक एक व्यक्ति को ४०,००० पौण्ड में बेच दिया। बिन ने उसी रोज़ उसे ६०,००० पौण्ड में किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दिया, और इस आख़िरी ख़रीदार ने, जिसने सचमुच ठेके को कार्यान्वित किया, बताया कि इतने ऊंचे दाम देने के बाद भी वह ठेके से बहुत भारी मुनाफ़ा कमाने में कामयाब हुआ है। संसद के सामने पेश की गयी एक सूची के अनुसार, १७५७ से १७६६ तक कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों को हिन्दुस्तानियों से ६०,००,००० पौण्ड उपहारों के रूप में प्राप्त हुए थे। १७६९ और १७७० के बीच अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान का सारा चावल ख़रीद लिया और उसे अत्यधिक ऊंचे दाम पाये बिना बेचने से इनकार करके वहां अकाल पैदा कर दिया।*

आदिवासियों के साथ सबसे बुरा व्यवहार, ज़ाहिर है, केवल निर्यात-व्यापार के लिये लगाये गये बागानोंवाले उपनिवेशों में किया जाता था – जैसे वेस्ट इण्डीज़ में – और मेक्सिको तथा हिन्दुस्तान जैसे धनी और घने बसे हुए देशों में भी, जो अंधाधुंध लूटे जा रहे थे। लेकिन जिनको सचमुच उपनिवेश कहा जा सकता था, उनमें भी आदिम संचय का ईसाई स्वरूप अक्षुण्ण था। प्रोटेस्टेण्ट मत के उन गम्भीर

* १८६६ में अकेले उड़ीसा नामक प्रान्त में दस लाख से अधिक हिन्दू भूख से मर गये। फिर भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुयें बहुत ऊंचे दामों में भूखे लोगों के हाथों बेचकर सरकारी ख़ज़ाने को बढ़ाने की कोशिश की गयी।

कलाविज्ञों ने—न्यू इंगलैंड के प्यूरिटनों ने—१७०३ में अपनी assembly (विधान सभा) के कुछ अध्यादेशों के द्वारा अमरीकी आदिवासियों को मारकर उनकी खोपड़ी की त्वचा लाने या उन्हें ज़िन्दा पकड़ लाने के लिये प्रति आदिवासी ४० पौण्ड पुरस्कार की घोषणा की थी। १७२० में फ़ी खोपड़ी की त्वचा के लिये १०० पौण्ड पुरस्कार का ऐलान किया गया था। १७४४ में जब मस्साचूसेट्स-बे के क्षेत्र में एक ख़ास क़बीले को विद्रोही घोषित किया गया, तो निम्नलिखित पुरस्कारों की घोषणा की गयी: १२ वर्ष या उससे अधिक आयु के पुरुषों को मार डालने के लिये प्रति खोपड़ी की त्वचा पर १०० पौण्ड (नयी मुद्रा में), पुरुषों को पकड़ लाने के लिये प्रति व्यक्ति १०५ पौण्ड, स्त्रियों और बच्चों को पकड़ लाने के लिये प्रति व्यक्ति ५५ पौण्ड, स्त्रियों और बच्चों को मार डालने के लिये प्रति खोपड़ी की त्वचा पर ५० पौण्ड। कुछ दशक और बीत जाने के बाद औपनिवेशिक व्यवस्था ने न्यू इंगलैंड के उपनिवेशों की नींव डालनेवाले इन pilgrim fathers (पवित्र-हृदय यात्रियों) के वंशजों से बदला लिया, जो इस बीच विद्रोही बन बैठे थे। अंग्रेज़ों के उकसाने पर और अंग्रेज़ों के पैसे के एवज़ में अमरीकी आदिवासी अपने गंड़ासों से इन लोगों के सिर काटने लगे। ब्रिटिश संसद ने खूनी कुत्तों और खोपड़ी की त्वचा निकालने को ईश्वर तथा प्रकृति से प्राप्त साधन घोषित किया।

जिस तरह कांच-गृहों में पौधे जल्दी-जल्दी बढ़कर तैयार हो जाते हैं, उसी तरह औपनिवेशिक व्यवस्था की छात्र-छाया में व्यापार और नौ-परिवहन बहुत तेज़ी से विकास करने लगे। लूथर ने जिनको "Gesellschaften Monopolia" (एकाधिकारी कम्पनियां) कहा था, उन्होंने पूंजी के संकेंद्रण में शक्तिशाली साधनों का काम किया। नवजात मैनुफ़ेक्चरों के लिये उपनिवेशों में मण्डियां तैयार हो गयीं, और मण्डियों पर एकाधिकार होने के कारण और भी तेज़ी से संचय होने लगा। यूरोप के बाहर खुली लूट-मार करके, लोगों को ग़ुलाम बनाकर और हत्यायें करके जिन ख़ज़ानों पर क़ब्ज़ा किया जाता था, वे सब मातृभूमि में पहुंचा दिये जाते थे और वहां वे पूंजी में बदल जाते थे। औपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्ण विकास सबसे पहले हालैण्ड ने किया था। वह १६४८ में ही वाणिज्य के क्षेत्र में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। "ईस्ट इण्डिया के साथ जो व्यापार होता था और दक्षिण-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी यूरोप के बीच जो व्यापार चलता था," उसपर हालैण्ड का "लगभग एकाधिकार था। कोई अन्य देश उसके मीन-क्षेत्रों, समुद्री जहाज़ों और मैनुफ़ेक्चरों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। डच प्रजातंत्र की कुल पूंजी

शायद बाक़ी सारे यूरोप की संयुक्त पूंजी से ज़्यादा थी।"[87] इन पंक्तियों के लेखक गुलीह को यहां यह और लिखना चाहिये था कि १६४८ के आते न आते हालैण्ड के लोगों से जितना ज़्यादा काम लिया जाता था, वे जैसी ग़रीबी में रहते थे और उनपर जैसा पाशविक अत्याचार किया जाता था, बाक़ी सारा यूरोप मिलकर भी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था।

आजकल औद्योगिक श्रेष्ठता का अर्थ वाणिज्य के क्षेत्र में भी श्रेष्ठता होता है। परन्तु जिसे सचमुच मैनुफ़ेक्चर का युग कहा जा सकता था, उस युग में, इसके विपरीत, जिसकी वाणिज्य के क्षेत्र में श्रेष्ठता होती थी, उसी को औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रधानता प्राप्त हो जाती थी। यही कारण है कि उस काल में औपनिवेशिक व्यवस्था ने इतनी बड़ी भूमिका अदा की। यह व्यवस्था एक नये और "विचित्र देवता" के समान थी, जो देव-स्थान की वेदी पर यूरोप के पुराने देवताओं के बिल्कुल बराबर में जाकर बैठ गया था और जिसने फिर एक दिन एक धक्के से उन सारे देवताओं को नीचे गिरा दिया था। इस व्यवस्था ने अतिरिक्त मूल्य कमाना ही मानवता का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य घोषित कर दिया था।

सार्वजनिक ऋण – अथवा राष्ट्रीय ऋण – की प्रणाली ने, जिसका जन्म मध्य युग में ही जेनोआ और वेनिस में हो गया था, मैनुफ़ेक्चर के युग में आम तौर पर सारे यूरोप पर अधिकार कर लिया था। औपनिवेशिक व्यवस्था ने अपने समुद्री व्यापार और व्यापारिक युद्धों के द्वारा इस प्रणाली के विकास में तेज़ी ला दी। चुनांचे, पहले-पहल इस प्रणाली ने हालैण्ड में जड़ जमायी। राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली ने, अर्थात् राज्य को – वह चाहे निरंकुश राज्य हो, चाहे वैधानिक और चाहे प्रजातांत्रिक राज्य – उधार देने की प्रणाली ने पूरे पूंजीवादी युग पर अपनी छाप डाल दी। तथाकथित राष्ट्रीय धन का केवल एक ही भाग है, जो आधुनिक काल में सचमुच किसी देश की जनता के सामूहिक स्वामित्व में आ जाता है, वह है उसका राष्ट्रीय ऋण।* इसी के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में यह आधुनिक मत सामने आता है कि किसी राष्ट्र का ऋण जितना अधिक बढ़ता

*विलियम कोबेट ने कहा है कि इंगलैंड में सभी सार्वजनिक संस्थाओं को "शाही" संस्थाओं का नाम दिया जाता है, लेकिन इसकी क्षति-पूर्ति करने के लिये एक "राष्ट्रीय" ऋण (national debt) भी है।

है, वह उतना ही अधिक धनी होता जाता है। सार्वजनिक ऋण पूंजी का ईमान बन जाता है। और राष्ट्रीय ऋण के उठने की प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ "पवित्र आत्मा" की निन्दा करने के अक्षम्य अपराध का स्थान राष्ट्रीय ऋण में विश्वास न रखने का अपराध ले लेता है।

सार्वजनिक ऋण आदिम संचय का एक सबसे शक्तिशाली साधन बन जाता है। वह मानो किसी जादुई छड़ी के इशारे से बंध्या मुद्रा में भी सन्तान पैदा करने की शक्ति उत्पन्न कर देता है और इस प्रकार उसे पूंजी में बदल डालता है। और इस परिवर्तन के लिये मुद्रा को उन तमाम झंझटों और ख़तरों में डालने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, जिनका उसको उद्योग में या यहां तक कि सूदख़ोरी में लगाये जाने पर भी अनिवार्य रूप से सामना करना पड़ता है। राज्य को कर्ज़ा देनेवाले असल में कुछ नहीं देते, क्योंकि वे जो रक़म उधार देते हैं, वह सार्वजनिक बौंडों में रूपान्तरित कर दी जाती है, और ये बौंड बड़ी आसानी से बिक जाते हैं तथा इसलिये वे उन लोगों के हाथ में वही काम पूरा करते हैं, जो उतने ही मूल्य का नक़द रुपया करता। लेकिन इस प्रणाली का केवल यही परिणाम नहीं होता कि सरकारी बौंडों के वार्षिक ब्याज के सहारे काहिली में जीवन बितानेवालों का एक वर्ग उत्पन्न हो जाता है, कि सरकार तथा जनता के बीच आढ़तियों का काम करनेवाले वित्त-प्रबंधकों के पास बिना किसी कष्ट के दौलत इकट्ठी हो जाती है और कर-वसूली का काम करनेवालों, सौदागरों और कारख़ानेदारों का जन्म हो जाता है, जिनको प्रत्येक राष्ट्रीय ऋण का एक भाग आकाश से गिरी हुई पूंजी के रूप में मिलने लगता है; बल्कि यह कि राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के फलस्वरूप सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियां, हर प्रकार की विनिमयशील प्रतिभूतियों का लेन-देन, बट्टे का व्यापार, और संक्षेप में कहें, तो शेयर-बाज़ार का सट्टा आरम्भ हो जाता है और थोड़े-से आधुनिक बैंकपतियों के आधिपत्य की नींव पड़ जाती है।

राष्ट्रीय उपाधियों से विभूषित बड़े-बड़े बैंक अपने जन्म के समय निजी हित में सट्टा खेलनेवाले कुछ ऐसे व्यक्तियों के संघ मात्र थे, जो सरकारों की सहायता करने लगे थे और जो राज्य से प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रताप से राज्य को मुद्रा उधार देने की स्थिति में थे। इसीलिये राष्ट्रीय ऋण के संचय का इन बैंकों की शेयर-पूंजी में उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धि से अधिक अभ्रान्त प्रमाण और कोई नहीं है। इन बैंकों का पूर्ण विकास १६९४ में हुआ, जब इंगलैंड के बैंक की नींव पड़ी। इंगलैंड के बैंक ने सरकार को ८ प्रतिशत ब्याज पर मुद्रा उधार देकर श्रीगणेश

किया। साथ ही उसको संसद ने इसी पूंजी को बैंक-नोटों की शक्ल में फिर से जनता को उधार देकर मुद्रा ढालने की इजाज़त दे दी। उसको इन नोटों के द्वारा हुंडियां भुनाने, मालों के दाम पेशगी देने और बहुमूल्य धातुयें ख़रीदने की भी इजाज़त मिल गयी। बहुत समय नहीं बीता कि इस ऋण-मुद्रा ने ही, जिसे ख़ुद इस बैंक ने बनाया था, उस माध्यम का रूप धारण कर लिया, जिसके द्वारा इंगलैंड का बैंक राज्य को मुद्रा उधार देता था और राज्य की ओर से सरकारी ऋण का ब्याज अदा करता था। इतना भी काफ़ी नहीं था कि बैंक एक हाथ से जितना देता था, उससे अधिक दूसरे हाथ से ले लेता था। इस तरह बराबर लेते रहने के बावजूद वह सदा राष्ट्र का शाश्वत लेनदार बना रहता था और राज्य को दी हुई उसकी एक-एक पाई राष्ट्र के मत्थे चढ़ी रहती थी। धीरे-धीरे वह अनिवार्य रूप से देश के सारे सोने-चांदी का भाण्डार-गृह और समस्त व्यापारिक ऋण का आकर्षणकेन्द्र बन गया। बैंकपतियों, वित्त-प्रबन्धकों, सरकारी बौंडों के ब्याज के सहारे मज़ा मारनेवालों, दलालों, शेयर-बाज़ार के सट्टेबाज़ों, आदि के इस पूरे रेवड़ का यकायक जन्म हो जाने का उनके समकालीन लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह उस काल की रचनाओं से – उदाहरण के लिये, बोलिंगब्रोक की रचनाओं से – स्पष्ट हो जाता है।*

राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के साथ-साथ उधार की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का भी जन्म हुआ। इस प्रणाली के पीछे अक्सर किसी न किसी क़ौम के आदिम संचय का एक स्रोत छिपा रहता है। चुनांचे, वेनिस में चोरी की जिस पद्धति का विकास हुआ था, उसके नीच कृत्य हालैण्ड के पूंजीगत धन का एक गुप्त स्रोत थे, क्योंकि वेनिस अपने पतन के काल में हालैण्ड को बड़ी-बड़ी रक़में उधार दिया करता था। हालैण्ड और इंगलैंड के बीच भी कुछ इसी तरह के सम्बन्ध थे। १८ वीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते डच मैनुफ़ेक्चर प्रगति की दौड़ में बहुत पीछे पड़ गये थे। वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में हालैण्ड अब सबसे प्रधान राष्ट्र नहीं रह गया था। इसलिये १७०१ से १७७६ तक उसका एक मुख्य व्यवसाय यह था कि वह विशेषकर अपने महान प्रतिद्वन्द्वी, इंगलैंड को पूंजी की बड़ी-बड़ी रक़में उधार दिया करता था। आजकल इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच भी ऐसा

---

* "यदि तातार लोग आजकल यूरोप पर हमला करें, तो उन्हें यह समझाना बहुत ही कठिन होगा कि जिसे हम वित्त-प्रबंधक कहते हैं, वह क्या बला होता।" (Montesquieu, «*Esprit des lois*», t. IV, p. 33, ed., Londres, 1769).

ही सिलसिला चल रहा है। आज जो पूंजी बिना किसी जन्म-प्रमाणपत्र के संयुक्त राज्य अमरीका में प्रकट होती है, वह कल तक इंगलैंड में अंग्रेज बच्चों के पूंजीकृत रक्त के रूप में निवास करती थी।

राष्ट्रीय ऋण का आधारस्तम्भ होती है सार्वजनिक आय। ब्याज, आदि के रूप में हर साल जो भुगतान करने पड़ते हैं, वे इसी आय में से किये जाते हैं। इसलिये आधुनिक कर-प्रणाली राष्ट्रीय ऋण-प्रणाली की आवश्यक पूरक है। ऋण लेकर सरकार असाधारण ढंग की मदों का ख़र्चा पूरा कर सकती है, जिसका बोझा करदाताओं को तत्काल अनुभव नहीं होता; लेकिन उसके फलस्वरूप करों में वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। दूसरी ओर, एक के बाद दूसरा ऋण लेते जाने के कारण चूंकि सरकार पर बहुत सारा क़र्ज़ा चढ़ जाता है और उसकी वजह से करों में बहुत वृद्धि हो जाती है, इसलिये नये असाधारण ढंग के ख़र्चों के लिये सरकार को मजबूर होकर हमेशा नये ऋण लेने पड़ते हैं। आधुनिक राजस्व-नीति की धुरी है जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों पर कर लगाना (और इस तरह उनके दामों को बढ़ा देना)। अतएव, आधुनिक राजस्व-नीति के भीतर करों के अपने आप बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति छिपी रहती है। अत्यधिक कर लगाना अब कोई आकस्मिक चीज़ न रहकर एक सिद्धान्त बन जाता है। चुनांचे, हालैण्ड में, जहां इस प्रणाली का सबसे पहले श्रीगणेश किया गया था, महान देशभक्त दे विट ने अपनी रचना «*Maxims*»[88] में इस प्रणाली की उजरती मज़दूरों को विनम्र, मितव्ययी और परिश्रमी बनाने—और उनपर कमरतोड़ श्रम का बोझा लाद देने—की सबसे अच्छी प्रणाली के रूप में बहुत प्रशंसा की है। लेकिन यह प्रणाली उजरती मज़दूरों का जिस तरह सत्यानाश करती है, उससे हमारा यहां उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना इस बात से है कि उसके फलस्वरूप किसानों, दस्तकारों और संक्षेप में कहें, तो निम्न मध्य वर्ग के सभी तत्वों की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है। इस विषय पर तो पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों में भी दो मत नहीं हैं। लोगों की सम्पत्ति का अपहरण करने के मामले में आधुनिक कर-प्रणाली की कार्य-क्षमता संरक्षण की प्रणाली के कारण और भी बढ़ जाती है, जो कि इस प्रणाली का एक अभिन्न अंग होती है।

धन के पूंजीकरण और जनता के सम्पत्ति-अपहरण में सार्वजनिक ऋण की प्रणाली ने और तदनुरूप राजस्व-प्रणाली ने भी जो महत्वपूर्ण भाग लिया है, उसे ध्यान में रखते हुए कोबेट, डबलडे, आदि अनेक लेखक ग़लती से इन प्रणालियों को आधुनिक काल में जनता की ग़रीबी का मूल कारण समझ बैठे हैं।

संरक्षण की प्रणाली बनावटी ढंग से कारख़ानेदारों को निर्मित करने, स्वतंत्र कारीगरों की सम्पत्ति का अपहरण करने तथा उत्पादन और जीवन-निर्वाह के राष्ट्रीय साधनों का पूंजीकरण करने और मध्ययुगीन उत्पादन-प्रणाली तथा आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के बीच के संक्रमण काल को ज़बर्दस्ती छोटा कर देने की एक तरक़ीब थी। इस आविष्कार पर किसका अधिकार है, इस प्रश्न को लेकर यूरोपीय राज्यों ने एक दूसरे को चीरना-फाड़ना शुरू कर दिया था; और जब एक बार इन राज्यों ने अतिरिक्त मूल्य बनानेवालों की सेवा करना स्वीकार कर लिया, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने न केवल अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षण कर लगाकर और प्रत्यक्ष रूप से निर्यात होनेवाले माल पर प्रीमियम देकर स्वयं अपनी जनता को मूंड़ा, बल्कि अपने पराधीन देशों में भी हर प्रकार के उद्योग-धंधों को ज़बर्दस्ती नष्ट कर दिया। मिसाल के लिये, इंगलैंड ने आयरलैण्ड के ऊनी माल के मैनुफ़ेक्चर के साथ यही किया। यूरोपीय महाद्वीप में, काल्बर का अनुकरण करते हुए, इस पूरी क्रिया को अत्यधिक सरल बना दिया गया। यहां आंशिक तौर पर आदिम औद्योगिक पूंजी प्रत्यक्ष रूप में राज्य के ख़ज़ाने से आयी। मिराबो चिल्ला उठता है: "सप्तवर्षीय युद्ध[89] के पहले सैक्सोनी के मैनुफ़ेक्चरों की समृद्धि का कारण खोजने के लिये बहुत दूर जाने की क्या ज़रूरत है? अरे, उसका कारण यह था कि राज्य ने १८,००,००,००० का ऋण लिया था!"*

जिसे सचमुच मैनुफ़ेक्चरों का काल कहा जा सकता है, उसकी सन्तान का – औपनिवेशिक व्यवस्था, सार्वजनिक ऋणों, भारी करों, संरक्षण-प्रणाली, व्यापारिक युद्धों, आदि का – आधुनिक उद्योग के बाल्यकाल में विराट पैमाने पर विकास हुआ। आधुनिक उद्योग के जन्म की पूर्व सूचना के रूप में निर्दोष बच्चों की एक बड़ी भारी संख्या की हत्या की गयी। जहाज़ी बेड़े की तरह फ़ैक्टरियों के लिये भी लोगों को ज़बर्दस्ती भर्ती किया जाता था। १५वीं शताब्दी के आख़िरी तिहाई भाग से लेकर सर एफ़० एम० ईडन के काल तक जिस ख़ौफ़नाक ढंग से खेतिहर आबादी की ज़मीनें छीनी गयी थीं, उसके ईडन अभ्यस्त-से हो गये थे। इस क्रिया से, जिसको वह पूंजीवादी खेती की स्थापना के लिये और "खेती की ज़मीन तथा चरागाहों की ज़मीन के बीच उचित अनुपात क़ायम करने के लिये" नितान्त "आवश्यक" समझते थे, ईडन साहब को बड़ा सन्तोष था और प्रसन्नता थी। लेकिन इतनी आर्थिक सूझ उनमें नहीं थी कि वह यह भी मान लेते कि मैनुफ़ेक्चर-

* Mirabeau, वही, t. VI, p. 101.

प्रणाली के शोषण को फ़ैक्टरी-प्रणाली के शोषण में रूपान्तरित करने के लिये और पूंजी तथा श्रम-शक्ति के बीच "सच्चा सम्बन्ध" स्थापित करने के लिये बच्चों को चुराना और उनको गुलाम बनाकर रखना भी नितान्त आवश्यक है। ईडन ने लिखा है: "जनता को शायद इस प्रश्न की ओर ध्यान देना चाहिये कि क्या ऐसे किसी उद्योग से भी व्यक्तियों का या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है, जिसको सफलतापूर्वक चलाने के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती हो कि झोंपड़ों और मुहताजख़ानों से ग़रीब बच्चे पकड़कर मंगवाये जायें, रात के अधिकतर भाग में उनसे बारी-बारी से काम करवाया जाये तथा उनको उस विश्राम से भी वंचित कर दिया जाये, जो वैसे तो सभी के लिये अपरिहार्य होता है, पर जिसकी बच्चों को सबसे अधिक आवश्यकता होती है, और अलग-अलग आयु की तथा विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियां रखनेवाली स्त्रियों और पुरुषों, दोनों को एक ही स्थान पर इस तरह इकट्ठा कर दिया जाये कि केवल एक दूसरे को देख-देखकर ही उनका दुश्चरित्र और दुराचारी बन जाना अनिवार्य हो जाये।"*

फ़ील्डन ने लिखा है: "डर्बीशायर और नोटिंघमशायर की काउण्टियों में और विशेष रूप से लंकाशायर में नव-आविष्कृत मशीनें प्रायः ऐसी नदियों के तट पर बनी हुई बड़ी फ़ैक्टरियों में इस्तेमाल की गयी हैं, जिनसे पनचक्की चलायी जा सकती है। शहरों से बहुत दूर इन स्थानों में यकायक हज़ारों मज़दूरों की आवश्यकता होती थी। ख़ास तौर पर लंकाशायर को, जो उस समय तक बहुत ही कम आबादीवाला, एक उजाड़ स्थान था, अच्छी आबादी की ही ज़रूरत थी। सबसे अधिक मांग चूंकि छोटी-छोटी, फुर्तीली उंगलियों वाले नन्हे बच्चों के लिये रहती थी, इसलिये तत्काल ही लन्दन, बिर्मिंघम तथा अन्य स्थानों के सार्वजनिक मुहताजख़ानों से प्रशिक्षार्थी (!) बच्चों को मंगवा भेजने की प्रथा प्रचलित हो गयी। ७ वर्ष से लेकर १३ या १४ वर्ष तक की आयु के ऐसे हज़ारों छोटे-छोटे निस्सहाय बच्चों को उत्तर में काम करने के लिये भेज दिया गया। प्रथा यह थी कि इन प्रशिक्षार्थी बच्चों का मालिक उनको रोटी-कपड़ा देता था और फ़ैक्टरी के नज़दीक 'प्रशिक्षार्थियों के घरों' में उनको रखता था। उनकी देख-रेख के लिये कुछ निरीक्षक नियुक्त कर दिये जाते थे, जिनका हित इस बात में होता था कि बच्चों से ज़्यादा से ज़्यादा काम लें, क्योंकि वे बच्चों से जितना अधिक काम ले पाते थे, उनको उतनी ही अधिक तनख़ाह मिलती थी। ज़ाहिर है, इसका नतीजा

* Eden, वही, vol. I, Book II, ch. I, p. 421.

होता था बेरहमी... कारख़ानों वाले बहुत-से डिस्ट्रिक्टों में और, मेरे ख़याल में, ख़ास तौर से उस अपराधी काउण्टी में, जिससे मेरा सम्बन्ध है (अर्थात् लंकाशायर में), इन निर्दोष, निस्सहाय बच्चों को, जिनको कारख़ानेदारों के संरक्षण में रख दिया गया था, अत्यन्त मर्म-भेदी क्रूरताओं का शिकार बनना पड़ता था। उनसे इतना अधिक काम कराया जाता था कि अत्यधिक परिश्रम के कारण वे मानो मृत्यु के कगार पर पहुंच जाते थे... उनको कोड़ों से मारने, ज़ंजीरों में जकड़कर रखने और यातनायें देने के नये-नये तरीक़े निकालने में क्रूरता ने बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया था... उनमें से बहुतों को काम के समय कोड़ों से पीटा जाता था और भूखा रखा जाता था, जिससे उनकी हड्डियां निकल आती थीं... और यहां तक कि कुछ तो... आत्महत्या तक कर लेते थे... जनता की निगाह से छिपी हुई डर्बीशायर, नोटिंघमशायर और लंकाशायर की सुन्दर और मनोरम घाटियां दारुण और निर्जन यातनागृहों में और बहुतों के लिये तो वध-स्थलों में परिणत हो गयी थीं। कारख़ानेदारों को बेशुमार मुनाफ़े होते थे, लेकिन इससे उनकी भूख संतुष्ट होने के बजाय अधिकाधिक तीव्र होती जाती थी और इसलिये कारख़ानेदारों ने एक ऐसी तरक़ीब निकाली, जिससे उनको आशा थी कि उनके मुनाफ़े बराबर बढ़ते ही जायेंगे और उनका बढ़ना कभी नहीं रुकेगा। उन्होंने उस प्रणाली का प्रयोग करना आरम्भ किया, जो 'रात को काम करना' कहलाती थी। मतलब यह कि जब मज़दूरों का एक दल दिन में लगातार काम करते रहने के कारण थककर चूर हो जाये, तब तक एक दूसरा दल रात भर काम करने को तैयार हो जाये। दिन की पाली वाले मज़दूर तब उन्हीं बिस्तरों पर जाकर लेट रहते हैं, जिन पर से रात की पाली वाले उठकर आये हैं, और रात की पाली वाले उन बिस्तरों में शरण पाते हैं, जिनको दिन की पाली वाले सुबह को ख़ाली कर देते हैं। लंकाशायर की परम्परा है कि वहां बिस्तर कभी ठण्डे नहीं होते।"*

---

* John Fielden, «*The Curse of Factory System*», London, 1836, pp. 5,6. फ़ैक्टरी-व्यवस्था की इसके पहले की कलंकपूर्ण विशेषताओं के बारे में देखिये Dr. Aikin (1795), वही, p.219, और Gisborne की रचना «*Inquiry into the Duties of Men*», 1795, v. II. जब भाप के इंजन ने देहात में जल-प्रपातों के निकट स्थित फ़ैक्टरियों को वहां से उखाड़कर शहरों के बीचोंबीच ला खड़ा किया, तो अतिरिक्त मूल्य बनानेवाले "परिवर्जनशील" पूंजीपति को बच्चों के रूप में पहले से तैयार मानव-

मैनुफ़ैक्चरों के काल में पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ-साथ यूरोप का लोकमत लज्जा और विवेक के अन्तिम अवशेषों को भी खो बैठा था। सभी राष्ट्र हर ऐसे अनाचार की, जिससे पूंजीवादी संचय का काम निकलता था, बढ़-बढ़कर डींग मार रहे थे। उदाहरण के लिये, सुयोग्य ए० एंडरसन की भोलेपन से भरी रचना—वाणिज्य का इतिहास—पढ़िये। उसमें यह घोषणा की गयी है कि यह अंग्रेज़ों की राजनीतिज्ञता की बड़ी भारी सफलता थी कि उत्रेख्त की संधि पर हस्ताक्षर करने के समय अंग्रेज़ों ने Asiento Treaty[90] के द्वारा अफ़्रीका और स्पेनी अमरीका के बीच हब्शियों का व्यापार करने का अधिकार स्पेनवालों से छीन लिया था। इसके पहले केवल अफ़्रीका और ब्रिटिश वेस्ट इण्डीज़ के बीच ही वे हब्शियों का व्यापार कर सकते थे। इस संधि के द्वारा इंगलैंड को १७४३ तक प्रति वर्ष ४,८०० हब्शी स्पेनी अमरीका भेजने का अधिकार मिल गया। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ लोग जो चोरी का व्यापार किया करते थे, उसपर भी सरकारी आवरण पड़ गया। लिवरपूल दासों के व्यापार से धन कमा-कमाकर मोटा होने लगा।

सामग्री मिल गयी, उसे गुलामों की तलाश में मुहताजख़ानों के दरवाज़े नहीं खटखटाने पड़े। जब (father of the "minister of plausibility"—बगुलाभगती के मंत्री के बाप) सर आर० पील ने १८१५ में बच्चों के संरक्षण के लिये अपना विधेयक संसद में पेश किया, तो Bullion Committee (कलधौत-समिति) के प्रतिभाशाली सदस्य और रिकार्डो के अंतरंग मित्र, फ़्रांसिस होर्नर ने हाउस आफ़ कामन्स में भाषण देते हुए कहा था: "यह काफ़ी प्रसिद्ध बात है कि एक दिवालिया व्यक्ति की सम्पत्ति के साथ-साथ इन बच्चों का एक गिरोह (यदि इस शब्द का प्रयोग वांछनीय समझा जाये तो) भी बिक्री के लिये पेश किया गया था और सम्पत्ति के एक भाग के रूप में उसका खुलेआम विज्ञापन किया गया था। Court of King's Bench (राज-न्यायालय) के सामने दो वर्ष पहले एक अत्यन्त दारुण उदाहरण प्रस्तुत हुआ था। लन्दन के एक इलाक़े (parish) के अधिकारियों ने कुछ बच्चों को प्रशिक्षार्थी मजदूरों के रूप में एक कारख़ानेदार के यहां नौकर रखवा दिया था। वहां से वे एक दूसरे कारख़ानेदार के यहां भेज दिये गये। उसके यहां कुछ दयालु व्यक्तियों ने उनको एकदम भुखमरी (absolute famine) की हालत में देखा। इससे भी अधिक भयंकर एक उदाहरण उन्हें तब देखने को मिला था, जब वह एक संसदीय समिति के सदस्य के रूप में काम कर रहे थे... वह यह कि कुछ ही वर्ष पहले लन्दन के एक इलाक़े (parish) के साथ लंकाशायर के एक कारख़ानेदार का यह समझौता हो गया था कि हर बीस स्वस्थ बच्चों के साथ उसको एक पागल बच्चे को भी अपने यहां नौकर रखना होगा।"

यही उसका आदिम संचय का तरीक़ा था। और यहां तक कि आज भी लिवरपूल के "सुप्रतिष्ठित लोग" दासों के व्यापार का प्रशस्तिगान किया करते हैं। उदाहरण के लिये, आइकिन की जिस रचना (१७९५) को हम ऊपर उद्धृत भी कर चुके हैं, उसमें लिखा है कि दासों का व्यापार "निर्भय साहसिकता की उस भावना से मेल खाता है, जो लिवरपूल के व्यापार का एक विशेष गुण है और जिसकी सहायता से ही लिवरपूल को वर्तमान समृद्धि प्राप्त हुई है; उससे जहाज़ों को और मल्लाहों को बड़े पैमाने पर काम मिला है और देश के कारखानों के बने सामान की मांग बढ़ी है" (पृ० ३३९)। लिवरपूल दासों के व्यापार के लिये १७३० में १५ जहाज़ों का इस्तेमाल करता था, १७५१ तक उनकी संख्या ५३, १७६० में ७४, १७७० में ९६ और १७९२ में १३२ हो गयी थी।

इंगलैंड में सूती उद्योग ने बच्चों की दासता का श्रीगणेश किया था, संयुक्त राज्य अमरीका में उससे पुराने ज़माने की दासता को एक व्यापारिक शोषण-व्यवस्था में रूपान्तरित कर देने के लिये बढ़ावा मिला। असल, में, यूरोप में उजरती मज़दूरों की जो छद्म दासता स्थापित हो रही थी, उसके आधार-स्तम्भ के रूप में नयी दुनिया में विशुद्ध दासता की आवश्यकता थी। *

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के "शाश्वत प्राकृतिक नियमों" की स्थापना करने के लिये, श्रम करने के लिये आवश्यक तमाम साधनों से मज़दूर के सम्बन्ध-विच्छेद की क्रिया को पूरा करने के लिये, एक छोर पर उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों को पूंजी में रूपान्तरित करने के लिये और दूसरे छोर पर जनसाधारण को आधुनिक समाज की उस बनावटी पैदावार में, उजरती मज़दूरों में, या "स्वतंत्र मेहनतकश ग़रीबों" ** में, बदल डालने के लिये tantae molis erat [91]

---

* १७९० में अंग्रेज़ों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज़ में हर स्वतंत्र मनुष्य के पीछे दस, फ़्रांसीसियों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज़ में चौदह और डच लोगों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज़ में तेईस दास थे। (Henry Brougham, *«An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers»*, Edinburgh, 1803, v.II,p. 74.)

** "Labouring poor" (मेहनतकश ग़रीब) का इंगलैंड के क़ानूनों में उसी क्षण से ज़िक्र होने लगता है, जिस क्षण से उजरती मज़दूरों का वर्ग ध्यान देने योग्य हो जाता है। इस नाम का एक ओर तो "idle poor" (काहिल ग़रीब), भिखारियों, आदि के व्यतिरेक में प्रयोग किया जाता है, और दूसरी ओर उन मज़दूरों के मुक़ाबले में इस्तेमाल किया जाता है, जिनके पास उन कबूतरों की तरह, जिनके पर अभी काटे नहीं गये हैं, अब भी श्रम करने के कुछ साधन मौजूद

इतना श्रम लगाना जरूरी था। यदि, श्रोगिए के कथनानुसार, मुद्रा "अपने गाल पर रक्त का एक जन्मजात धब्बा लिये हुए संसार में आती है,"* तो हम कहेंगे कि जब पूंजी संसार में आती है, तब उसके सिर से पैर तक प्रत्येक छिद्र से रक्त और गंदगी बहती रहती है।**

हैं। क़ानूनों की पुस्तकों से यह नाम राजनीतिक अर्थशास्त्र में प्रवेश कर गया, और कल्पेपेर, जे० चाइल्ड, आदि की रचनाओं से वह ऐडम स्मिथ और ईडन को मिला। इतना सब जानने के बाद हम ख़ुद इसका निर्णय कर सकते हैं कि जब "execrable political cantmonger" (घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर रचने में सिद्धहस्त) एडमंड बर्क ने "labouring poor" नाम के प्रयोग को "execrable political cant" (घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर) कहा था, तब उसने कितने सद्भाव का परिचय दिया था। यह ख़ुशामदी आदमी जब अंग्रेज़ धनिकतंत्र से तनख़ाह पाता था, तब वह फ़्रांसीसी क्रान्ति के ख़िलाफ़ की जानेवाली कार्रवाइयों की प्रशंसा किया करता था, और उसी प्रकार जब अमरीकी उपद्रवों के शुरू में वह उत्तरी अमरीका के उपनिवेशों से तनख़ाह पाता था, तब उसने इंगलैंड के धनिकतंत्र के विरुद्ध उदारपंथी होने का ढोंग रचा था। असल में, वह शत प्रति शत एक असंस्कृत बुर्जुआ था। उसने लिखा था: "वाणिज्य के नियम प्रकृति के नियम हैं और इसलिये वे ईश्वर के बनाये हुए नियम हैं।" (E. Burke, «*Thoughts and* Details *on Scarcity*», London, 1800, pp. 31,32.) अत: कोई आश्चर्य नहीं, यदि वह, ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के अनुसार, अपने को सदा सबसे ऊंचे दामों में बेचने को तैयार रहता था। जिन दिनों यह एडमंड बर्क उदारपंथी था, उन दिनों का उसका एक अच्छा चित्र हमें रेवरेण्ड टाकर की रचनाओं में देखने को मिलता है। टाकर पादरी और अनुदारदली था। परन्तु फिर भी, जहां तक बाक़ी बातों का सम्बंध है, वह एक सम्मानित व्यक्ति और योग्य अर्थशास्त्री था। आजकल अर्थशास्त्र में जैसी गर्हित असैद्धान्तिकता का बोलबाला है और "वाणिज्य के नियमों" में जिसका अटूट विश्वास है, उसको देखते हुए हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि बर्क जैसे उन लोगों की असलियत को बार-बार खोलकर रखें जो अपने उत्तराधिकारियों से केवल एक ही बात में भिन्न थे, और वह यह कि उनमें कुछ प्रतिभा थी!

* Marie Augier, «*Du Crédit Public*», Paris, 1842.

** «*Quarterly Reviewer*» ने कहा है कि "पूंजी अशांति और संघर्ष से दूर भागती है और बहुत भीरु है। यह बात सच है, परन्तु केवल इतना ही कहना प्रश्न को बहुत अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार पहले कहा जाता था कि प्रकृति शून्य से घृणा करती है, उसी प्रकार पूंजी इसे बहुत नापसन्द करती है कि मुनाफ़ा न हो या बहुत कम हो। पर्याप्त मुनाफ़ा हो, तो पूंजी बहुत साहस

बत्तीसवां अध्याय

पूंजीवादी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति

पूंजी के आदिम संचय का – अर्थात् उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति का – आख़िर क्या मतलब होता है? जहां तक कि आदिम संचय में दास और कृषि-दास तत्काल ही उजरती मज़दूरों में रूपान्तरित नहीं हो जाते और इसलिये जहां तक कि उसमें केवल रूप का परिवर्तन नहीं होता, वहां तक उसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि प्रत्यक्ष रूप से अपने हित में उत्पादन करनेवालों की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता है, अर्थात् ख़ुद श्रम करनेवाले की निजी सम्पत्ति नष्ट कर दी जाती है।

सामाजिक, सामूहिक सम्पत्ति की विरोधी, निजी सम्पत्ति केवल वहीं होती है, जहां श्रम के साधन और श्रम करने के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियां व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होती हैं। लेकिन ये व्यक्ति मज़दूर हैं या मज़दूर नहीं हैं, इसके अनुसार निजी सम्पत्ति का स्वरूप भी भिन्न होता है। पहली दृष्टि में सम्पत्ति के जो असंख्य भिन्न-भिन्न रूप नज़र आते हैं, वे इन दो चरम अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं।

अपने उत्पादन के साधनों में मज़दूर की निजी सम्पत्ति छोटे उद्योग का आधार होती है, चाहे वह छोटा उद्योग खेती से सम्बन्धित हो या मैनुफ़ैक्चर से

दिखाती है। क़रीब १० प्रतिशत मुनाफ़ा मिले, तो पूंजी को किसी भी स्थान पर लगाया जा सकता है। २० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो पूंजी में उत्सुकता दिखाई पड़ने लगती है। ५० प्रतिशत की आशा हो तो पूंजी स्पष्ट ही दिलेर बन जाती है। १०० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो वह मानवता के सभी नियमों को पैरों तले रौंदने को तैयार हो जायेगी। और यदि ३०० प्रतिशत मुनाफ़े की आशा हो, तो ऐसा कोई भी अपराध नहीं है, जिसके करने में पूंजी को संकोच होगा, और कोई भी ख़तरा ऐसा नहीं है, जिसका सामना करने को वह तैयार नहीं होगी। यहां तक कि अगर पूंजी के मालिक के फांसी पर टांग दिये जाने का ख़तरा हो, तो भी वह नहीं हिचकिचायेगी। यदि अशान्ति और संघर्ष से मुनाफ़ा होता दिखाई देगा, तो वह इन दोनों चीज़ों को जी खोलकर प्रोत्साहन देगी। यहां जो कुछ कहा गया है, चोरी का व्यापार और दासों का व्यापार इसको पूरी तरह प्रमाणित करते हैं।" (T. J. Dunning, «*Trade's Unions and Strikes*», London, 1860, pp. 35, 36.)

अथवा दोनों से। यह छोटा उद्योग सामाजिक उत्पादन के विकास और ख़ुद मज़दूर के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की एक आवश्यक शर्त होता है। बेशक, उत्पादन की यह क्षुद्र प्रणाली दासप्रथा, कृषि-दासप्रथा और पराधीनता की अन्य अवस्थाओं में भी पायी जाती है। लेकिन वह केवल उसी जगह फलती-फूलती है, अपनी समस्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और पर्याप्त एवं प्रामाणिक रूप प्राप्त करती है, जहां मज़दूर अपने श्रम के साधनों का ख़ुद मालिक होता है और उनसे ख़ुद काम लेता है, जहां किसान उस धरती का मालिक होता है, जिसे वह जोतता है, और दस्तकार उस औज़ार का स्वामी होता है, जिसका वह सिद्धहस्त ढंग से प्रयोग करता है। उत्पादन की इस प्रणाली के होने के लिये यह आवश्यक है कि ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई हो और उत्पादन के अन्य साधन बिखरे हुए हों। जिस प्रकार इस प्रणाली के रहते हुए उत्पादन के इन साधनों का संकेन्द्रण नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि उसके अन्तर्गत सहकारिता, उत्पादन की हर अलग-अलग क्रिया के भीतर श्रम-विभाजन, प्रकृति की शक्तियों के ऊपर समाज का नियन्त्रण तथा उनका समाज के द्वारा उत्पादक ढंग से उपयोग और सामाजिक उत्पादक शक्तियों का स्वतंत्र विकास हो सके। यह प्रणाली तो केवल एक ऐसी उत्पादन-व्यवस्था और केवल एक ऐसे समाज से ही मेल खाती है, जो संकुचित तथा न्यूनाधिक रूप में आदिम सीमाओं के भीतर ही गतिमान रहते हैं। जैसा कि पेक्वेयर ने ठीक ही कहा है, इस प्रणाली को चिरस्थायी बना देना "हर चीज़ को सर्वत्र अल्पविकसित बने रहने का आदेश दे देना है।"[92] अपने विकास की एक ख़ास अवस्था में पहुंचने पर यह प्रणाली स्वयं अपने विघटन के भौतिक साधन पैदा कर देती है। बस उसी क्षण से समाज के गर्भ में नयी शक्तियां और नयी भावनायें जन्म ले लेती हैं। परन्तु पुराना सामाजिक संगठन उनको श्रृंखलाओं में जकड़े रहता है और विकसित नहीं होने देता। इस सामाजिक संगठन को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वह नष्ट कर दिया जाता है। उसका विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेन्द्रित साधनों में रूपान्तरित हो जाना, अर्थात् बहुत-से लोगों की क्षुद्र सम्पत्ति का थोड़े-से लोगों की अति विशाल सम्पत्ति में बदल जाना, अधिकतर जनता की भूमि, जीवन-निर्वाह के साधनों तथा श्रम के साधनों का अपहरण—साधारण जनता का यह भयानक तथा अत्यन्त कष्टदायक सम्पत्ति-अपहरण पूंजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है। उसमें नाना प्रकार के बल-प्रयोग के तरीक़ों से काम लिया जाता है। हमने इनमें से केवल उन्हीं पर इस पुस्तक में विचार किया है, जो पूंजी के

आदिम संचय के तरीक़ों के रूप में युगान्तरकारी हैं। प्रत्यक्ष रूप में अपने हित में उत्पादन करनेवालों का सम्पत्ति-अपहरण निर्मम ध्वंस-लिप्सा से और अत्यन्त जघन्य, अत्यन्त कुत्सित, क्षुद्रतम, नीचतम तथा अत्यन्त गर्हित भावनाओं से जनुप्रेरित होकर किया जाता है। अपने श्रम द्वारा कमायी हुई निजी सम्पत्ति का स्थान, जो मानो पृथक् रूप से श्रम करनेवाले स्वतंत्र व्यक्ति के श्रम के लिये आवश्यक साधनों के साथ मिलकर एक हो जाने पर आधारित है, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति ले लेती है, जो कि दूसरे लोगों के नाम मात्र के लिये स्वतंत्र श्रम पर – अर्थात् उजरती श्रम पर – आधारित होती है।*

रूपान्तरण की यह क्रिया जैसे ही पुराने समाज को ऊपर से नीचे तक काफ़ी छिन्न-भिन्न कर देती है, मज़दूर जैसे ही सर्वहारा बन जाते हैं और उनके श्रम के साधन पूंजी में रूपान्तरित हो जाते हैं, पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली ख़ुद जैसे ही अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है, वैसे ही श्रम का और अधिक समाजीकरण करने का प्रश्न, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों को सामाजिक ढंग से व्यवहृत साधनों में और इसलिये सामूहिक साधनों में और भी अधिक रूपान्तरित कर देने का प्रश्न और साथ ही निजी सम्पत्ति के मालिकों की सम्पत्ति का अधिक अपहरण करने का प्रश्न एक नया रूप धारण कर लेते हैं। अब जिसका सम्पत्ति-अपहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह ख़ुद अपने लिये काम करनेवाला मज़दूर नहीं है, बल्कि वह है बहुत-से मज़दूरों का शोषण करनेवाला पूंजीपति। यह सम्पत्ति-अपहरण स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियमों के अमल में आने के फलस्वरूप पूंजी के केन्द्रीकरण के द्वारा सम्पन्न होता है। एक पूंजीपति हमेशा बहुत-से पूंजीपतियों की हत्या करता है। इस केन्द्रीकरण के साथ-साथ, या यूं कहिये कि कुछ पूंजीपतियों द्वारा बहुत-से पूंजीपतियों के इस सम्पत्ति-अपहरण के साथ-साथ, अधिकाधिक बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम-क्रिया का सहकारी स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिये सचेतन ढंग से विज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढंग से जोता-बोया जाता है, औज़ार ऐसे औज़ारों में बदलते जाते हैं, जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही

* "हम इस समय पूर्णतया नयी सामाजिक परिस्थितियों में रह रहे हैं... हमारी प्रवृत्ति यह है कि हम हर प्रकार की सम्पत्ति का हर तरह के श्रम से सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहते हैं।" (Sismondi, «*Nouveaux Principes d'Econ. Polit.*», t. II, p. 434).

उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, समाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है, सभी क़ौमें संसारव्यापी मण्डी के जाल में फंस जाती हैं और इसलिये पूंजीवादी शासन का स्वरूप अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय होता जाता है। रूपान्तरण की इस क्रिया से उत्पन्न होनेवाली समस्त सुविधाओं पर जो लोग ज़बर्दस्ती अपना एकाधिकार क़ायम कर लेते हैं, पूंजी के उन बड़े-बड़े स्वामियों की संख्या यदि एक ओर बराबर घटती जाती है, तो, दूसरी ओर, ग़रीबी, अत्याचार, ग़ुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मज़दूर वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है और स्वयं पूंजीवादी उत्पादन-क्रिया का यन्त्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासनबद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिये एक बंधन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अन्तर्गत जन्मी है और फूली-फली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिंदु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे अपने पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति की मौत की घण्टी बज उठती है। सम्पत्ति-अपहरण करनेवालों की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है।

हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली, जो कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का फल होती है, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को जन्म देती है। ख़ुद मालिक के श्रम पर आधारित व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का इस प्रकार पहली बार निषेध होता है। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियमों की निर्ममता के साथ ख़ुद अपने निषेध को जन्म देता है। यह निषेध का निषेध होता है। इससे उत्पादक के लिए निजी सम्पत्ति की पुनःस्थापना नहीं होती; किन्तु उसे पूंजीवादी युग की उपलब्धियों पर आधारित—अर्थात् सहकारिता और भूमि तथा उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित— व्यक्तिगत सम्पत्ति मिल जाती है।

व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न होनेवाली बिखरी हुई निजी सम्पत्ति के पूंजीवादी निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया स्वभावतया पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के समाजीकृत सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया की तुलना में कहीं अधिक लम्बी, कठिन और हिंसात्मक होती है, क्योंकि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति तो व्यवहार में पहले से ही समाजीकृत उत्पादन पर आधारित होती है। पहली क्रिया में

ज़बरदस्ती अधिकार करनेवाले चन्द व्यक्तियों ने आम जनता की सम्पत्ति का अपहरण किया था, दूसरी क्रिया में आम जनता ज़बरदस्ती अधिकार करनेवाले चन्द व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण करती है।*

K. Marx. «*Das Kapital. Kritik der politischen Oekonomie*». Erster Band. Hamburg, 1867 की पुस्तक में पहली बार प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

---

* "पूंजीपति वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग की उन्नति करता है; इससे आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मज़दूरों का बिलगाव ख़त्म हो जाता है और उसकी जगह एकता पर आधारित उनका क्रान्तिकारी संगठन पैदा हो जाता है। इस तरह, आधुनिक उद्योग का विकास पूंजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस ज़मीन को ही खिसका देता है, जिसके आधार पर वह पैदावार का उत्पादन और अपहरण करता है। इसलिये, पूंजीपति वर्ग मुख्यतया जो चीज़ पैदा करता है, वह है ख़ुद उसी की क़ब्र खोदनेवाले लोगों का वर्ग। उसका ख़ातमा और मज़दूर वर्ग की जीत, दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं... पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सब में केवल मज़दूर वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग की लपेट में आकर नष्ट-भ्रष्ट और अन्त में ग़ायब हो जाते हैं; मज़दूर वर्ग ही उसकी विशेष और बुनियादी पैदावार है। निम्न-मध्य वर्ग के लोग—छोटे कारख़ानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान, ये सब—अपनी मध्यवर्गीय हस्ती को बनाये रखने के लिये पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं... वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं।" (Karl Marx und Friedrich Engels, «*Manifest der Kommunistischen Partei*», London, 1848, pp. 9, 11.)

फ़्रेडरिक एंगेल्स

मार्क्स की 'पूंजी'* 93

(१)

जबसे पृथ्वी पर पूंजीपति और मज़दूर मौजूद हैं, तबसे आज तक मज़दूरों के लिए हमारे सामने मौजूद पुस्तक से अधिक महत्वपूर्ण और कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी है। इसमें पूंजी तथा श्रम के सम्बन्ध पर, उस धुरी पर जिस पर हमारी पूरी समकालीन सामाजिक प्रणाली घूम रही है, पहली बार वैज्ञानिक ढंग से और वह भी ऐसी सम्पूर्णता तथा तीक्ष्णता के साथ प्रकाश डाला गया है जो केवल किसी जर्मन के ही बूते की बात हो सकती है यद्यपि ओवेन, सेंत-साइमन अथवा फ़ुरिये की रचनाएं अवश्य महत्वपूर्ण हैं और महत्वपूर्ण बनी रहेंगी, फिर भी केवल एक ज़र्मन ही उस बुलन्दी पर पहुंचने का साहस कर सका जहां से आधुनिक सामाजिक सम्बन्धों का पूरा क्षेत्र उसी तरह स्पष्ट रूप से तथा पूर्णता के साथ दृष्टिगोचर होता है जिस तरह सबसे ऊंची चोटी पर खड़े प्रेक्षक को पर्वत के नीचे का पूरा दृश्य दिखायी देता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र अब तक हमें यह सिखाता आया है कि श्रम सारी सम्पदा का स्रोत और समस्त मूल्यों का पैमाना है, अतः दो वस्तुओं का, जिनके उत्पादन पर एक जैसा श्रम-समय लगा हो, सम-मूल्य हो और उनका परस्पर विनिमय हो सके क्योंकि आम तौर पर केवल समान मूल्यों का ही परस्पर विनिमय होता है। परन्तु साथ ही यह राजनीतिक अर्थशास्त्र हमें यह भी सिखाता है कि एक विशेष प्रकार का संचित श्रम भी विद्यमान होता है जिसे वह पूंजी के नाम से पुकारता

* Das Kapital. Kritik der politischen Oekonomie, von Karl Marx. Erster Band. Der Produktionsprozess des Kapitals. Hamburg, O. Meissner, 1867.

है, कि यह पूंजी अपने अन्दर आनुषंगिक स्रोत निहित होने के कारण सजीव श्रम की उत्पादकता सौ और हज़ार गुना बढ़ा देती है और बदले में एक ख़ास हरजाने का दावा करती है जिसे मुनाफ़ा या लाभ के नाम से पुकारा जाता है। जैसा कि हम सब जानते हैं, यह अमल में इस तरह होता है कि संचित, मृत श्रम के मुनाफ़े अधिकाधिक विशाल होते जाते हैं, पूंजीपतियों की पूंजियां और भी अपरिमित होती जा रही हैं जबकि सजीव श्रम की मज़दूरी निरन्तर घटती जाती है और मात्र मज़दूरी के सहारे ज़िंदा रहनेवाले मज़दूरों का समूह अधिकाधिक बढ़ता और कंगाल होता जाता है। यह अन्तर्विरोध कैसे हल किया जाये? यदि मज़दूर अपने उत्पाद में लगाये जानेवाले श्रम का कुल मूल्य प्राप्त कर ले तो फिर पूंजीपति के लिए मुनाफ़ा कैसे बचा रहेगा? फिर भी यही होना चाहिए था क्योंकि केवल सम-मूल्यों का ही विनिमय होता है। दूसरी ओर यदि यह उत्पाद, जैसा कि कई अर्थशास्त्री मानते हैं, मज़दूर और पूंजीपति के बीच बांट दिया जाये तो मज़दूर को अपने उत्पाद का पूरा मूल्य कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थशास्त्र इस अन्तर्विरोध के सामने अब तक बिल्कुल असहाय रहा है और ऐसे वाक्य लिखता रहा है या संकोच के साथ बुदबुदाता रहा है जिनका कोई अर्थ नहीं है। अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती समाजवादी आलोचक तक इस अन्तर्विरोध पर ज़ोर देने से अधिक और कुछ नहीं कर पाये। कोई इसे हल नहीं कर सका, अब अन्ततः मार्क्स ने इस प्रक्रिया की, जो इस मुनाफ़े का स्रोत है, ठीक जन्म-स्थली को खोज निकाला और इस तरह सब कुछ स्पष्ट कर दिया।

पूंजी के विकास की खोज करते हुए मार्क्स इस सीधे-सादे, सुविदित तथ्य को आधार बनाकर अग्रसर होते हैं कि पूंजीपति विनिमय के ज़रिए अपनी पूंजी का मूल्य बढ़ाते हैं; वे अपनी मुद्रा से माल ख़रीदते हैं तथा बाद में उस माल को उससे अधिक मुद्रा पर बेचते हैं जो उन्हें ख़रीदने के लिए देनी पड़ी थी। उदाहरण के लिए, एक पूंजीपति कपास १,००० टालर में ख़रीदता है और फिर उसे १,१०० टालर में बेच देता है, इस तरह वह १०० टालर "कमाता" है। मूल पूंजी पर इस अतिरिक्त १०० टालर को मार्क्स **अतिरिक्त मूल्य** के नाम से पुकारते हैं। इस अतिरिक्त मूल्य का मूल क्या है? अर्थशास्त्रियों की मान्यता के अनुसार केवल सम-मूल्यों का ही विनिमय हुआ करता है तथा अमूर्त सिद्धान्त के क्षेत्र में यह निस्सन्देह सही है। परिणामस्वरूप कपास की ख़रीद और उसकी फिर बिक्री उससे ज़्यादा अतिरिक्त मूल्य नहीं दे सकतीं जो चांदी के एक टालर का चांदी के ३० ग्रॉशेनों तथा इन छोटे सिक्कों का चांदी के एक टालर के साथ

विनिमय से प्राप्त हो सकता है, यह ऐसी प्रक्रिया है जिससे न तो कोई ज़्यादा अमीर बनता है और न ज़्यादा ग़रीब। अतिरिक्त मूल्य विक्रेता द्वारा माल को उसके मूल्य से ज़्यादा पर बेचे जाने या ख़रीददार द्वारा उसे उसके मूल्य से कम पर ख़रीदे जाने से भी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि हर एक अपनी बारी में विक्रेता और ख़रीददार है और इस तरह यदि एक तरफ़ खोता है तो दूसरी तरफ़ कमा लेता है। इसी तरह अतिरिक्त मूल्य विक्रेता और ख़रीददार द्वारा एक-दूसरे को धोखा दिये जाने से भी पैदा नहीं हो सकता क्योंकि इससे कोई नया या अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं होगा, इससे तो विद्यमान पूंजी पूंजीपतियों के बीच अलग-अलग ढंग से बंटेगी। इस तथ्य के बावजूद कि पूंजीपति माल को उसके मूल्य पर ख़रीदता है तथा उसे उसके ही मूल्य पर बेचता है, वह उससे ज़्यादा मूल्य हासिल करता है जितना वह लगाता है। यह सब कैसे होता है?

पूंजीपति मौजूदा सामाजिक परिस्थितियों में माल-मंडी में एक ऐसा **माल** पाता है जिसका विशेष गुण यह है कि **उसका उपयोग एक नये मूल्य का स्रोत है, वह एक नये मूल्य का सृजन है**; और यह माल है **श्रम-शक्ति**।

श्रम-शक्ति का मूल्य क्या है? हर माल के मूल्य को उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम से आंका जाता है। श्रम-शक्ति सजीव मज़दूर के रूप में विद्यमान होती है जिसे अपने अस्तित्व और साथ ही अपने परिवार, जो उसकी मृत्यु के बाद भी श्रम-शक्ति की निरन्तरता सुनिश्चित करता है, के भरण-पोषण के लिए निश्चित मात्रा में आजीविका की आवश्यकता होती है। अतः आजीविका के इन साधनों को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम-समय ही श्रम-शक्ति का मूल्य होता है। पूंजीपति यह मूल्य प्रति सप्ताह देता है और उसके बदले मज़दूर के एक हफ़्ते का श्रम ख़रीद लेता है। यहां तक अर्थशास्त्री महोदय श्रम-शक्ति के मूल्य के मामले में हमसे सहमत होंगे।

पूंजीपति अब अपने मज़दूर को काम पर लगा देता है। कुछ समय के अन्दर मज़दूर इतना श्रम कर चुका होता है जो उसकी साप्ताहिक मज़दूरी के बराबर होता है। आइये, यह मान लें कि मज़दूर की साप्ताहिक मज़दूरी सप्ताह में तीन कार्य-दिवसों के बराबर है, तब यदि मज़दूर सोमवार को काम शुरू करता है तो वह बुधवार की शाम तक पूंजीपति द्वारा **भुगतान की जानेवाली मज़दूरी का पूरा मूल्य लौटा चुका होता है**। तब क्या वह काम करना रोक देता है? क़तई नहीं। पूंजीपति तो उसके **सप्ताह** का श्रम ख़रीद चुका है, और मज़दूर को सप्ताह के बाक़ी तीन दिन भी काम करते रहना होगा। मज़दूर का **यह अतिरिक्त श्रम**,

जो उस द्वारा अपनी मजदूरी की वापसी के लिए आवश्यक समय के अलावा होता है, **अतिरिक्त मूल्य का स्रोत**, मुनाफ़े का, पूंजी की सतत वृद्धि का स्रोत होता है।

आप इसे एक मनमानी मान्यता न बताइयेगा कि मज़दूर तीन दिन तो प्राप्त होनेवाली मजदूरी के लिए काम करता है और बाक़ी तीन दिन पूंजीपति के लिए काम करता है। अपनी मज़दूरी की वापसी के लिए वह ठीक तीन दिन या चार अथवा दो दिन काम करता है, इसका निस्सन्देह यहां कोई महत्व नहीं है; मुख्य बात यह है कि पूंजीपति श्रम के लिए भुगतान करने के साथ ही वह श्रम भी हस्तगत करता है जिसके लिए वह **भुगतान नहीं करता** और यह कोई मनमानी मान्यता नहीं है क्योंकि जिस दिन पूंजीपति मज़दूर से केवल उतना ही श्रम हस्तगत करेगा जितने के लिए वह भुगतान करता है, उस दिन वह अपनी वर्कशाप बन्द कर देगा क्योंकि उसका सारा मुनाफ़ा सचमुच ठप्प हो जायेगा।

यहीं हम उन सारे अन्तर्विरोधों का समाधान पाते हैं। अतिरिक्त मूल्य का मूल (जो पूंजीपति के मुनाफ़े का मुख्य भाग होता है) अब सर्वथा स्पष्ट और सरल हो जाता है। श्रम-शक्ति का मूल्य चुका तो दिया जाता है परन्तु यह मूल्य उससे कहीं कम होता है जिसे पूंजीपति श्रम-शक्ति से हासिल करने में सफल रहता है। और यही अन्तर, **अवेतन श्रम** है जो पूंजीपति का, या अधिक सही कहें तो पूंजीपति वर्ग का हिस्सा होता है। इतना ही नहीं, कपास-व्यापारी तक उपरोक्त उदाहरण के अनुसार जो मुनाफ़ा कमाता है, उसमें भी—यदि कपास की क़ीमतें न बढ़ी हों—अवेतन श्रम होना चाहिये। व्यापारी ने अपना माल वस्त्र-कारख़ाने के मालिक को बेचा होगा जो अपने उत्पाद से अपने लिए १०० टालरों के अलावा मुनाफ़ा हासिल करने में क़ामयाब होता है, और इसलिए वह हस्तगत किये गये मुनाफ़े में व्यापारी को अपना हिस्सेदार बनाता है। सामान्यतया यही वह अवेतन श्रम है जो समाज के समस्त ग़ैरमेहनतकश सदस्यों का भरण-पोषण करता है। राजकीय तथा म्युनिसपल कर, जहां तक उनका संबंध पूंजीपति वर्ग से होता है, साथ ही भू-स्वामियों की ज़मीन का लगान, आदि—ये सब अवेतन श्रम से चुकाये जाते हैं। उसी पर विद्यमान सामाजिक प्रणाली अवलम्बित है।

परन्तु यह मानना हास्यास्पद होगा कि अवेतन श्रम का जन्म केवल वर्तमान परिस्थितियों के ही अन्तर्गत हुआ जब उत्पादन एक ओर पूंजीपतियों द्वारा तथा दूसरी ओर उजरती मज़दूरों द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत उत्पीड़ित वर्गों को सदा-सर्वदा अवेतन श्रम करना पड़ा है। एक बहुत लम्बी अवधि के दौरान, जब दासता श्रम के संगठन का प्रचलित रूप थी, दासों को उससे कहीं ज्यादा

श्रम करना पड़ता था जो उन्हें गुज़ारे के साधनों के रूप में वापस मिलता था। यही कृषि-दासप्रथा के आधिपत्य के अन्तर्गत तथा किसानों से बेगार-श्रम लेने की प्रथा के ठीक उन्मूलन तक होता रहा; वस्तुतः यहीं कृषक द्वारा अपने गुज़ारे के लिए किये जानेवाले श्रम के समय तथा ज़मींदार के लिए अतिरिक्त श्रम के बीच अन्तर सुस्पष्टतया उभरकर सामने आता है क्योंकि कृषक ज़मींदार के लिए श्रम पृथक रूप से करता है। रूप अब बदल चुका है परन्तु सारतत्व क़ायम है; और जब तक "समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, तब तक मज़दूर को, वह चाहे स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने समय ज़रूरी तौर पर काम करना होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने के लिए कुछ अतिरिक्त समय तक काम करना पड़ता है।"*

(२)

पिछले लेख में हमने देखा था कि पूंजीपति द्वारा काम पर रखा गया हर मज़दूर दो तरह का श्रम करता है—अपने कार्य-समय के एक भाग के दौरान वह पूंजीपति से प्राप्त होनेवाली मजदूरी के बदले काम कर उसकी पूर्ति करता है; उसके श्रम के इस भाग को मार्क्स **आवश्यक श्रम** के नाम से पुकारते हैं। परन्तु मज़दूर को उसके बाद भी काम करते रहना पड़ता है और इस दौरान वह पूंजीपति के लिए **अतिरिक्त मूल्य** पैदा करता है जिसका बड़ा भाग उसका मुनाफ़ा होता है। श्रम के इस भाग को **अतिरिक्त श्रम** कहते हैं।

आइये, यह मान लें कि मज़दूर अपनी मजदूरी की पूर्ति के लिए तीन दिन काम करता है तथा तीन दिन पूंजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य उत्पादित करता है। दूसरे ढंग से कहा जाये तो इसका अर्थ यह होता है कि १२ घंटे के कार्य-दिवस में वह ६ घंटे रोज़ अपनी मज़दूरी के लिए तथा ६ घंटे अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिए काम करता है। हफ़्ते में केवल ६ दिन या रविवार को मिलाकर हद से हद सात ही दिन हो सकते हैं, परन्तु रोज़ एक दिन के अन्दर ६, ८, १०, १२, १५ घंटे, यही नहीं इससे भी ज़्यादा घंटे काम के लिए निकाले जा सकते हैं। मज़दूर

*कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', खंड १ (हिन्दी), पृष्ठ २६५।—सं०

श्रम करता पड़ता था जो उन्हें गुज़ारे के साधनों के रूप में वापस मिलता था। यही कृषि-दासप्रथा के आधिपत्य के अन्तर्गत तथा किसानों से बेगार-श्रम लेने की प्रथा के ठीक उन्मूलन तक होता रहा; वस्तुतः यहीं कृषक द्वारा अपने गुज़ारे के लिए किये जानेवाले श्रम के समय तथा ज़मींदार के लिए अतिरिक्त श्रम के बीच अन्तर सुस्पष्टतया उभरकर सामने आता है क्योंकि कृषक ज़मींदार के लिए श्रम पृथक रूप से करता है। रूप अब बदल चुका है परन्तु सारतत्व क़ायम है; और जब तक "समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, तब तक मज़दूर को, वह चाहे स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने समय ज़रूरी तौर पर काम करना होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने के लिए कुछ अतिरिक्त समय तक काम करना पड़ता है।"*

(२)

पिछले लेख में हमने देखा था कि पूंजीपति द्वारा काम पर रखा गया हर मज़दूर दो तरह का श्रम करता है—अपने कार्य-समय के एक भाग के दौरान वह पूंजीपति से प्राप्त होनेवाली मज़दूरी के बदले काम कर उसकी पूर्ति करता है; उसके श्रम के इस भाग को मार्क्स **आवश्यक श्रम** के नाम से पुकारते हैं। परन्तु मज़दूर को उसके बाद भी काम करते रहना पड़ता है और इस दौरान वह पूंजीपति के लिए **अतिरिक्त मूल्य** पैदा करता है जिसका बड़ा भाग उसका मुनाफ़ा होता है। श्रम के इस भाग को **अतिरिक्त श्रम** कहते हैं।

आइये, यह मान लें कि मज़दूर अपनी मज़दूरी की पूर्ति के लिए तीन दिन काम करता है तथा तीन दिन पूंजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य उत्पादित करता है। दूसरे ढंग से कहा जाये तो इसका अर्थ यह होता है कि १२ घंटे के कार्य-दिवस में वह ६ घंटे रोज़ अपनी मज़दूरी के लिए तथा ६ घंटे अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिए काम करता है। हफ़्ते में केवल ६ दिन या रविवार को मिलाकर हद से हद सात ही दिन हो सकते हैं, परन्तु रोज़ एक दिन के अन्दर ६, ८, १०, १२, १५ घंटे, यही नहीं इससे भी ज़्यादा घंटे काम के लिए निकाले जा सकते हैं। मज़दूर

*कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', खंड १ (हिन्दी), पृष्ठ २६५।—सं०

पूंजीपति को अपने दिन की मज़दूरी के लिए एक कार्य-दिवस बेच देता है। परन्तु **कार्य-दिवस है क्या?** ८ घंटे या १८ घंटे?

कार्य-दिवस को अधिक से अधिक लम्बा बनाना पूंजीपति के हित में है। वह जितना लम्बा होगा, वह अतिरिक्त मूल्य भी उतना ही अधिक पैदा करेगा। मज़दूर सही अनुभव करता है कि वह अपनी मज़दूरी चुकाने के बाद प्रत्येक अतिरिक्त घंटा जो काम करता है, वह उससे अनुचित रूप से लिया जाता है; वह अपने कटु अनुभव से सीखता है कि बहुत लम्बे समय तक काम करते रहने का क्या मतलब होता है। पूंजीपति अपने मुनाफ़े के लिए लड़ता है और मज़दूर अपने स्वास्थ्य के लिए, आराम करने के वास्ते चन्द घंटों के लिए लड़ता है, ताकि वह काम करने, सोने तथा भोजन के अलावा अन्य मानव-कार्यकलाप में भी भाग ले सके। यहां चलते-चलते इतना और कहा जा सकता है कि पूंजीपति इस संघर्ष के मैदान में उतरना चाहते हैं या नहीं, यह क़तई उनकी सद्भावना पर निर्भर नहीं करता क्योंकि प्रतियोगिता उनके मध्य सबसे अधिक लोकोपकारी व्यक्ति तक को अपने साथियों के साथ शामिल होने और कार्य-दिवस को उतना ही लम्बा करने के लिए विवश कर देती है जितना वह दूसरों के यहां है।

कार्य-दिवस निश्चित करने का संघर्ष इतिहास के मंच पर स्वतंत्र मज़दूरों के प्रथम आविर्भाव से लेकर अब तक निरन्तर चलता आया है। विभिन्न व्यवसायों में अलग-अलग परम्परागत कार्य-दिवस प्रचलित हैं; परन्तु यथार्थ में उनका विरले ही पालन होता है। केवल उन्हीं स्थानों के बारे में, जहां क़ानून कार्य-दिवस नियत करता है तथा उसके पालन पर नज़र रखता है, कोई वस्तुतः यह कह सकता है कि वहां निश्चित कार्य-दिवस मौजूद है। अब तक यह प्रायः केवल इंगलैंड के फ़ैक्टरी-ज़िलों में ही मौजूद है। यहां तमाम नारियों तथा १३ से लेकर १८ वर्ष तक के किशोरों के लिए दस घंटे का कार्य-दिवस (पांच दिन साढ़े दस तथा शनिवार को साढ़े सात घंटे) नियत किया गया है; और चूंकि पुरुष उनके बिना काम नहीं कर सकते, अतः वे भी दस घंटे के कार्य-दिवस के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह क़ानून अंग्रेज़ कारख़ाना-मज़दूरों ने वर्षों की सहन-शक्ति, कारख़ाना-मालिकों के विरुद्ध निरन्तर, अटल संघर्ष, अख़बारों की आज़ादी, संघबद्ध होने तथा सभाएं करने के अधिकार द्वारा और साथ ही स्वयं सत्ताधारी वर्ग में फूट के कुशलतापूर्वक उपयोग द्वारा हासिल किया। यह क़ानून अंग्रेज मज़दूरों का रक्षक बना हुआ है, इसे धीरे-धीरे उद्योग की तमाम महत्वपूर्ण शाखाओं पर, पिछले वर्ष प्रायः सारे व्यवसायों पर, कम से कम उन सब पर लागू कर दिया गया

जिनमें नारियां तथा बच्चे काम करते हैं। प्रस्तुत कृति में इंगलैंड में कार्य-दिवस के इन विधायी अधिनियमों के इतिहास के सम्बन्ध में सर्वाधिक सम्पूर्ण सामग्री है। उत्तरी जर्मनी की आगामी संसद कारख़ाना-अधिनियमों पर और उसके सिलसिले में कारख़ाना-श्रम के नियमन पर बहस करेगी। हम यह आशा करते हैं कि जर्मन मज़दूरों द्वारा चुने गये सदस्यों में से कोई भी **मार्क्स** की पुस्तक से पहले अपने को पूरी तरह अवगत किये बिना इस विधेयक पर विचार-विमर्श में भाग नहीं लेगा। **यहां अभी बहुत-कुछ हासिल करना है।** सत्ताधारी वर्गों में फूट यहां मज़दूरों के लिए जितनी अधिक अनुकूल है, उतनी इंगलैंड में कभी नहीं थी, क्योंकि **सार्वजनिक मताधिकार सत्ताधारी वर्गों को मजदूरों का कृपापात्र बनने के लिए मजबूर करता है।** इन परिस्थितियों में सर्वहारा वर्ग के ४ या ५ प्रतिनिधि **एक शक्ति** हैं, बशर्ते वे अपनी स्थिति का उपयोग करना जानते हों, बशर्ते सर्वोपरि वे जानते हों कि मसला क्या है जिसे पूंजीपति वर्ग नहीं जानता। और इस उद्देश्य के हेतु मार्क्स की पुस्तक उन्हें सारी सामग्री तैयार किये-कराये रूप में देती है।

हम अधिक सैद्धान्तिक दिलचस्पी की अन्य बहुत-सी सुन्दर जांच-पड़तालों को छोड़ते हुए आगे बढ़ेंगे तथा अन्तिम अध्याय पर जाकर रुकेंगे जिसमें पूंजी के संचय की चर्चा की गयी है। इसमें पहले यह दिखाया गया है कि पूंजीवादी उत्पादन-विधि, अर्थात् ऐसी उत्पादन-विधि, जिसके लिए एक ओर पूंजीपतियों और दूसरी ओर उजरती मज़दूरों का होना जरूरी है, पूंजीपति के लिए उसकी पूंजी को ही निरन्तर नये सिरे से उत्पादित नहीं करती रहती अपितु साथ ही मज़दूरों की ग़रीबी को भी निरन्तर नये सिरे से पैदा करती जाती है; इस तरह यह स्थिति सुनिश्चित होती है कि एक ओर सदैव पूंजीपतियों का अस्तित्व बना रहेगा जो आजीविका के तमाम साधनों, सारे कच्चे माल और श्रम के सारे साधनों के स्वामी हैं तथा दूसरी ओर विशाल संख्या में मज़दूर रहेंगे जो अपनी श्रम-शक्ति इन पूंजीपतियों को आजीविका के साधनों के बदले में बेचते रहेंगे, इन साधनों का परिणाम बस इतना होता है कि ये मज़दूर समर्थांग बने रहें तथा समर्थांग सर्वहाराओं की एक नयी पीढ़ी तैयार कर सकें। परन्तु पूंजी केवल अपना पुनरुत्पादन ही नहीं करती; वह निरन्तर बढ़ती रहती है और विस्तारित होती जाती है तथा इसके द्वारा मज़दूरों के सम्पत्तिहीन वर्ग के ऊपर अपनी सत्ता बढ़ाती है। और जिस तरह वह स्वयं अधिकाधिक बड़े पैमाने पर पुनरुत्पादित होती रहती है, उसी तरह उत्पादन की वर्तमान पूंजीवादी विधि सम्पत्तिहीन मज़दूरों के वर्ग का अधिकाधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिकाधिक संख्या में पुनरुत्पादन करती

रहती है। "... पूंजी का संचय पूंजी के सम्बन्ध का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर उत्पादन करता है, और एक छोर पर अधिकाधिक बड़ी संख्या में या अधिकाधिक बड़े आकार में पूंजीपति पैदा होते जाते हैं और दूसरे छोर पर मज़दूरों की संख्या बढ़ती जाती है... **अतएव, पूंजी का संचय सर्वहारा की वृद्धि करता है।** (पृ० ६००)"* परन्तु मशीनों की प्रगति के कारण, कृषि में सुधार, आदि के कारण समान मात्रा में वस्तुएं उत्पादित करने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत कम होती जाती है और यह सुधार, अर्थात् मज़दूरों को अनावश्यक बनाने का यह कार्य बढ़ती पूंजी से भी अधिक तेज़ी के साथ विकसित होता है। तो फिर मज़दूरों की निरन्तर बढ़ती जाती इस संख्या के साथ क्या होता है? वे औद्योगिक रिज़र्व सेना बन जाते हैं, उसे कारोबार की हालत ख़राब होने पर या औसत दर्जे का होने पर उसके श्रम के मूल्य से नीचे मज़दूरी दी जाती है, उसे नियमित रूप में काम पर नहीं रखा जाता या सार्वजनिक लोकोपकारिता के हवाले कर दिया जाता है, परन्तु वह कारोबार की हालत विशेष रूप से ज़ोरदार होने पर पूंजीपति वर्ग के लिए अपरिहार्य होती है जैसा कि इंगलैंड में साफ़ तौर पर दिखायी देता है। लेकिन हर हालत में वह नियमित रूप से रोज़गार पर लगे मज़दूरों के प्रतिरोध की शक्ति को कुचलने और उनकी मज़दूरी कम रखने के काम आती है। "सामाजिक धन जितना बढ़ता जाता है... सापेक्ष अतिरिक्त जनसंख्या अर्थात् औद्योगिक रिज़र्व सेना का उतना ही विस्तार होता जाता है। परन्तु सक्रिय (नियमित रोज़गार पर लगी) श्रमिक सेना के अनुपात में यह रिज़र्व सेना जितनी बड़ी होती है, उतनी ही विशाल एक समेकित (स्थायी) अतिरिक्त जनसंख्या तैयार होती जाती है जिसकी ग़रीबी उसकी मेहनत की यातना के प्रतिलोम अनुपात में होती है। और, अन्त में, मज़दूर वर्ग का यह कंगाल स्तर और औद्योगिक रिज़र्व सेना जितनी बड़ी होती है, सरकारी काग़ज़ों में उतने ही अधिक मुहताज दर्ज होते हैं। **यह पूंजीवादी संचय का निरपेक्ष सामान्य नियम है**"।**

ये हैं आधुनिक पूंजीवादी सामाजिक प्रणाली के वैज्ञानिक ढंग से पूरी तरह सिद्ध कुछ नियम। सरकारी अर्थशास्त्री इनका प्रतिवाद करने की चेष्टा तक न करने में बहुत सावधानी बरतते हैं। परन्तु यही क्या पूरी बात है? क़तई नहीं। मार्क्स पूंजीवादी उत्पादन के ख़राब पहलुओं पर बहुत तीक्ष्णतापूर्वक ज़ोर देते हैं

---

*कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', खंड १ (हिन्दी), पृष्ठ ६८८।

**कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', खण्ड १ (हिन्दी), पृष्ठ ७२१।

लेकिन उतने ही जोर से वह स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि यह सामाजिक रूप समाज की उत्पादक शक्तियों को विकसित कर ऐसे स्तर पर पहुंचाने के लिए आवश्यक था जो समाज के **तमाम** सदस्यों के लिए समान मानवोचित विकास को सम्भव बनायेगा। समाज के तमाम पूर्ववर्ती रूप इसके लिए अतीव तुच्छ थे। पूंजीवादी उत्पादन ने ही सबसे पहले इसके वास्ते आवश्यक सम्पदा तथा उत्पादक शक्तियों का सृजन किया, परन्तु वह साथ ही बहुत बड़ी तादाद वाले तथा उत्पीड़ित मजदूरों के रूप में ऐसा सामाजिक वर्ग भी पैदा करता है जो इस सम्पदा तथा उत्पादक शक्तियों को सम्भालने के लिए विवश होता है ताकि वह उन्हें आज की तरह इजारेदार वर्ग के लिए इस्तेमाल किये जाने के बजाय पूरे समाज के लिए इस्तेमाल कर सके।

एंगेल्स द्वारा २ और १३ मार्च १८६८ के बीच लिखित।

«*Demokratisches Wochenblatt*», अंक १२ और १३ में २१ और २८ मार्च १८६८ को प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ्रेडरिक एंगेल्स

'पूंजी' के द्वितीय खण्ड की भूमिका से

...तो फिर मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के विषय में कौन-सी नयी बात कही है? क्या वजह है कि अतिरिक्त मूल्य के मार्क्स के सिद्धान्त ने निर्मल आकाश से गिरनेवाली बिजली के आघात जैसा असर किया और सो भी तमाम सभ्य देशों में; जबकि रॉडबेर्टस समेत उनके समस्त समाजवादी पूर्ववर्तियों के सिद्धान्त बिना कोई प्रभाव पैदा किये लुप्त हो गये?

रसायनशास्त्र का इतिहास एक उदाहरण प्रस्तुत करता है जो इस पर प्रकाश डालता है।

जैसा कि सुविदित है, गत शताब्दी के प्रायः अन्त तक फ़्लोजिस्टीय सिद्धान्त प्रभावी रहा जिसके अनुसार समस्त दहन का सार दाहक पदार्थ से एक अन्य, परिकल्पनात्मक पदार्थ के, अतिदाह्य पदार्थ के, जिसे फ़्लोजिस्टन कहते हैं, पृथक्करण में निहित है। यह सिद्धान्त तब तक ज्ञात अधिकांश रासायनिक घटना-व्यापारों पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त था हालांकि कई मामलों में यह आसान नहीं था। १७७४ में प्रीस्तले ने एक क़िस्म की वायु उत्पन्न की "जिसे उन्होंने इतना निर्मल यानी फ़्लोजिस्टन से इतना मुक्त पाया कि सामान्य वायु उसकी तुलना में मिलावटी प्रतीत होती थी।" उन्होंने इस वायु को विफ़्लोजिस्टीय वायु का नाम दिया। उनके थोड़े ही समय बाद शेयेले ने स्वीडन में उसी तरह की वायु प्राप्त की तथा वायुमंडल में उसकी विद्यमानता सिद्ध की। उन्होंने यह भी देखा कि यह वायु उस समय लुप्त हो जाती है जब उसके अन्दर अथवा सामान्य वायु के अन्दर कोई पदार्थ जलता है। इसलिए उन्होंने इसका नाम अग्नि-वायु [Feuerluft] रखा।

"इन तथ्यों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वायु के एक घटक के साथ फ़्लोजिस्टन के मिलने से" (अर्थात् दहन में) "पैदा होनेवाला यौगिक कांच से बाहर निकल जानेवाली आग या ऊष्मा के अलावा और कुछ नहीं है।"*

प्रीस्तले तथा शेयेले ने आक्सीजन तैयार कर दी थी परन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह क्या है। वे फ़्लोजिस्टीय "प्रवर्गों में उलझे रहे जिन्हें उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से प्राप्त किया था"। वह तत्व, जिसने आगे चलकर पूरी फ़्लोजिस्टीय अवधारणा को उलट दिया तथा रसायनशास्त्र का कायापलट कर दिया, उनके हाथों में अनुर्वरक बना रहा। परन्तु प्रीस्तले ने पेरिस में लावोइज़िए को तत्काल अपने आविष्कार की जानकारी दे दी और लावोइज़िए ने इस नये तथ्य के बल पर पूरे फ़्लोजिस्टीय रसायनशास्त्र का फिर से निरीक्षण-विश्लेषण किया। उन्होंने ही सबसे पहले यह खोज की कि नयी क़िस्म की हवा एक नया रासायनिक तत्व है और दहन में रहस्यमय फ़्लोजिस्टीन दहनशील पदार्थ से **पृथक नहीं होता** बल्कि यह नया तत्व पदार्थ से **मिल जाता है**। इस तरह उन्होंने ही सबसे पहले पूरे रसायनशास्त्र को अपने पांवों पर खड़ा किया जबकि अपने फ़्लोजिस्टीय रूप में वह अपने सिर के बल खड़ा था। हालांकि उन्होंने आक्सीजन न तो उस समय पैदा की थी जिस समय दूसरों ने पैदा की थी और न उन्होंने स्वतंत्र रूप में ही पैदा की थी, जैसा कि उनका दावा था, फिर भी आक्सीजन के वास्तविक **आविष्कारक** वह ही हैं, वे दो अन्य नहीं, जिन्होंने **क्या** पैदा किया है, इस बात को लेशमात्र अनुभव किये बिना उसे केवल **पैदा** ही किया था।

अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में मार्क्स की अपने पूर्ववर्तियों के मुक़ाबले में वही स्थिति है जो लावोइज़िए की प्रीस्तले तथा शेयेले के मुक़ाबले में है। उत्पाद के मूल्य के उस भाग के, जिसे हम अब अतिरिक्त मूल्य कहते हैं, **अस्तित्व** का मार्क्स से बहुत पहले पता लग चुका था। यह भी न्यूनाधिक रूप में बता दिया गया था कि इसमें क्या है, अर्थात् यह बता दिया गया था कि इसमें उस श्रम का उत्पाद है जिसका उसके हस्तगतकर्त्ता ने भुगतान नहीं किया है। परन्तु इससे आगे कोई नहीं बढ़ पाया। एक समूह ने – क्लासिकीय पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों ने – हद से हद इस अनुपात की छानबीन की जिसमें श्रम का उत्पाद मज़दूर तथा

---

* Roscoe-Schorlemmer: «*Ausführliches Lehrbuch der Chemie*». Braunschweig, 1877, I, pp. 13, 18. **[एंगेल्स की टिप्पणी]**

उत्पादन के साधनों के मालिक के बीच बांटा जाता है। दूसरे समूह ने—समाजवादियों ने—देखा कि यह विभाजन तो अनुचित है और वे इस अन्याय को मिटाने के लिए काल्पनिक साधनों की तलाश करने लगे। दोनों समूह इन प्रवर्गों के, जिन्हें उन्होंने ढूंढ़ा था, वशीभूत रहे।

तब मार्क्स सामने आये। उन्होंने अपने तमाम पूर्ववर्तियों के प्रत्यक्षतया विपरीत यह काम सम्पन्न किया। जहां उन लोगों ने **समाधान** देखा, मार्क्स ने केवल **समस्या** देखी। उन्होंने देखा कि यहां न तो विफ़्लोजिस्टीय वायु है और न अग्नि-वायु, यहां तो केवल आक्सीजन है, कि यहां मामला महज़ कोई आर्थिक तथ्य अथवा शाश्वत न्याय और सच्ची नैतिकता के साथ इस तथ्य का संघर्ष दर्ज करने का नहीं है, बल्कि यह एक ऐसे तथ्य से सम्बन्धित है जिसे सारे राजनीतिक अर्थशास्त्र का क्रान्तिकरण करना था और जिसे पूरे पूंजीवादी उत्पादन के समझने की कुंजी प्रस्तुत करना था—उसके सामने जो उसे इस्तेमाल करना जानता हो। इस तथ्य को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाकर उन्होंने अपने समक्ष मौजूद सारे प्रवर्गों की उसी तरह जांच की जिस तरह लावोइज़िए ने आक्सीजन को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाकर अपने समक्ष मौजूद सारे फ़्लोजिस्टीय प्रवर्गों की जांच की। अतिरिक्त मूल्य क्या है, यह जानने के लिए उन्हें इस बात का पता लगाना था कि मूल्य क्या है। सबसे पहले स्वयं रिकार्डो के मूल्य के सिद्धान्त की समीक्षा करना आवश्यक था। इस तरह मार्क्स ने मूल्य-उत्पादक गुण की दृष्टि से श्रम की जांच की और पहली बार यह सिद्ध किया कि **कौन-सा श्रम** मूल्य उत्पादित करता है और वह क्यों और कैसे यह मूल्य पैदा करता है, कि मूल्य वस्तुतः **इस** क़िस्म के घनीभूत श्रम के अलावा और कुछ नहीं है—यह एक ऐसा मुद्दा है जिसे रॉडबेर्टस अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक नहीं समझ पाये थे। फिर मार्क्स ने मुद्रा और माल के सम्बन्ध की जांच की और बताया कि मूल्य के अपने गुण की बदौलत माल तथा माल-विनिमय को कैसे और क्यों माल तथा मुद्रा की प्रतिपक्षता पैदा करनी पड़ती है। इस आधार पर स्थापित उनका मुद्रा का सिद्धान्त प्रथम सर्वांगीण और अब सामान्यतया सर्वमान्य सिद्धान्त है। उन्होंने मुद्रा के पूंजी में रूपान्तरण की जांच की तथा सिद्ध किया कि यह रूपान्तरण श्रम-शक्ति की ख़रीद और बिक्री पर आधारित है। उन्होंने श्रम के स्थान पर श्रम-शक्ति को, मूल्य उत्पादक गुण को प्रतिस्थापित कर एक ही झटके में उन कठिनाइयों में से एक को हल कर दिया जिनसे टकराकर रिकार्डो-पंथ चकनाचूर हो गया था—श्रम द्वारा मूल्य-निर्धारण के रिकार्डो के नियम के साथ पूंजी तथा श्रम के पारस्परिक

विनिमय का सामंजस्य असम्भव है। स्थिर पूंजी तथा परिवर्ती पूंजी के बीच भेद प्रमाणित कर वह पहले-पहल अतिरिक्त मूल्य के गठन की पूरी प्रक्रिया के वास्तविक मार्ग का बारीकियों के साथ पता लगा सके और इसलिये उस पर प्रकाश डाल सके – यह ऐसी चीज़ थी जो उनका कोई भी पूर्ववर्ती नहीं कर पाया था। इस तरह उन्होंने स्वयं पूंजी के अन्दर विभेद सिद्ध किया जिसके बारे में रॉडबेर्टस अथवा पूंजीवादी अर्थशास्त्री कभी कुछ नहीं कर पाये थे, परन्तु जो सबसे जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधान की कुंजी प्रस्तुत करता है। यह चीज़ एक बार फिर खंड २ और इससे भी अधिक खंड ३ द्वारा – जैसा कि हम देखेंगे – सिद्ध हो जाती है। उन्होंने स्वयं अतिरिक्त मूल्य का और आगे विश्लेषण किया तथा उसके दो रूपों – निरपेक्ष तथा सापेक्ष मूल्य – को ढूंढ़ा और प्रत्येक के मामले में भिन्न परन्तु निर्णायक वे भूमिकाएं प्रदर्शित कीं जो उन्होंने पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक विकास में अदा कीं। अतिरिक्त मूल्य के आधार पर उन्होंने हमें मजदूरी का प्रथम विवेकसम्मत सिद्धान्त प्रदान किया और पहली बार पूंजीवादी संचय के बुनियादी गुण प्रस्तुत किये तथा उसकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति का चित्रण किया।

एंगेल्स द्वारा ५ मई १८८५ को लिखित। अंग्रेज़ी से अनूदित।

सबसे पहले इस पुस्तक में प्रकाशित –
K. Marx. «*Das Kapital. Kritik der politischen Oekonomie*». Zweiter Band. Herausgegeben von Friedrich Engels. Hamburg, 1885.

कार्ल मार्क्स

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रीय मज़दूर संघ को सन्देश[94]

मेहनतकश साथियो,

अपने संघ के आरम्भिक कार्यक्रम में हमने कहा था: "सत्तारूढ़ वर्गों की बुद्धिमत्ता ने नहीं, वरन् उनकी मुजरिमाना मूर्खता का इंगलैंड के मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये वीरतापूर्ण प्रतिरोध ने पश्चिमी यूरोप को अटलांटिक की दूसरी तरफ़ दासता बनाये रखने तथा उसका प्रचार करने के बदनाम जेहाद में सीधे कूदने से बचाया था।"* अब आपकी बारी आ गयी है कि आप इस युद्ध को रोकें जिसके स्पष्टतम फल के रूप में अटलांटिक के दोनों ओर मज़दूर वर्ग के ऊपर उठते जा रहे आन्दोलन को अनिश्चित काल के लिए पीछे धकेला जायेगा।

हमें आपको यह बताने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है कि ऐसी यूरोपीय शक्तियां मौजूद हैं जो संयुक्त राज्य अमरीका को इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध में भिड़ाने के लिए उत्सुकतापूर्वक लालायित हैं। व्यापार सम्बन्धी आंकड़ों पर एक नज़र डालने से पता चल जायेगा कि कच्चे माल का रूसी निर्यात – और रूस के पास निर्यात करने के लिए और कुछ नहीं है – अमरीकी प्रतियोगिता के लिए तेज़ी से रास्ता छोड़ता जा रहा था कि गृहयुद्ध ने सहसा स्थिति बदल दी। अमरीकी हलों के फालों को तलवारों में बदलने से ठीक इस समय उस स्वेच्छाचारी शक्ति का आसन्न दिवालियेपन से बचाव होगा जिसे आपके बुद्धिमान राजनेताओं ने अपना निकटतम परामर्शदाता चुना है। परन्तु इस या उस सरकार के विशेष हितों के अलावा क्या यह हमारे एक समान उत्पीड़कों के आम हित में नहीं है कि हमारा तेज़ी से बढ़ता जा रहा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग परस्पर संहारकारी युद्ध में बदल जाये?

---

*देखें इसी खंड का पृष्ठ १८।–सं०

हमने श्री लिंकन को पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर एक बधाई सन्देश में अपनी यह आस्था व्यक्त की थी कि अमरीकी गृहयुद्ध मज़दूर वर्ग की उन्नति के लिए उतने ही बड़े महत्व का सिद्ध होगा जितने महत्व का अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम पूंजीपति वर्ग के लिए सिद्ध हुआ था।* और वस्तुतः दासताविरोधी युद्ध के विजयपूर्ण समापन ने मज़दूर वर्ग के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू कर दिया है। स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में तब से एक स्वतंत्र मज़दूर वर्ग आन्दोलन का जन्म हो चुका है जिसे आपकी पुरानी पार्टियां तथा उनके पेशेवर राजनीतिज्ञ वक्र दृष्टि से देखते हैं। उसे फलप्रद होने के लिए वर्षों की शान्ति चाहिए: उसे कुचलने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका तथा इंगलैंड के बीच युद्ध चाहिए।

गृहयुद्ध का दूसरा दृष्टिगोचर परिणाम निस्सन्देह यह रहा कि अमरीकी मज़दूर की स्थिति बिगड़ी है। यूरोप की तरह संयुक्त राज्य अमरीका में भी रक्तचूषक पिशाच – राष्ट्रीय ऋण – को एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचाते हुए मज़दूर वर्ग के कंधों पर बिठा दिया गया है। आपके एक राजनेता का कहना है कि आवश्यक वस्तुओं की क़ीमतें १८६० से ७८ प्रतिशत बढ़ी हैं जबकि ग़ैरहुनरमन्द मज़दूरों की मज़दूरी केवल ५० प्रतिशत तथा हुनरमन्द मज़दूरों की मज़दूरी ६० प्रतिशत बढ़ी है।

वह इस बात का दुखड़ा रोते हैं कि "अमरीका में अब दरिद्रता आबादी से ज़्यादा तेज़ी से बढ़ रही है।"

इसके अलावा मज़दूर वर्ग के दुख-कष्टों की पृष्ठभूमि में वित्तीय अभिजात, छिछोरे अभिजात[95] और युद्धों से पनपते अन्य परजीवी ख़ूब उभरकर सामने आये। परन्तु इन सब बातों के बावजूद गृहयुद्ध ने ठोस परिणाम भी प्रस्तुत किया – उसने दासों को मुक्त किया तथा उसके फलस्वरूप आपके वर्ग आन्दोलन को नैतिक प्रेरणा प्रदान की। एक दूसरा युद्ध, जो उदात्त ध्येय तथा एक महान सामाजिक आवश्यकता के औचित्य से युक्त न हो बल्कि पुरानी दुनिया की क़िस्म का युद्ध हो, दास की बेड़ियां तोड़ने के बजाय मुक्त मज़दूर को बेड़ियों में कस देगा। वह अपने पीछे जो तंगहाली छोड़ जायेगा, वह आपके पूंजीपतियों को एक स्थायी सेना की आत्माहीन तलवार की मदद से मज़दूर वर्ग को अपने साहसपूर्ण तथा न्यायपूर्ण आकांक्षाओं से वंचित करने के लिए तत्काल बहाना और साधन प्रदान करेगी।

* देखें इसी खंड का पृष्ठ २४। – सं०

तो, विश्व के सामने यह सिद्ध करने का शानदार काम आप पर निर्भर करता है कि मजदूर वर्ग आज्ञाकारी भृत्यों के रूप में नहीं, वरन् अन्ततः स्वतंत्र शक्ति के रूप में इतिहास के रंगमंच पर प्रकट हो चुका है, वह अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत है, और जहां उसके तथाकथित स्वामी युद्ध के बारे में चिल्लाते हैं, वहां वह शान्ति के हेतु आदेश देने में समर्थ है।

लन्दन, १२ मई १८६९

«*Address to the National Labour Union of the United States*». London, 1869 नामक पर्चे के रूप में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

'जर्मनी में किसान युद्ध' की भूमिका

१८७० के दूसरे संस्करण की भूमिका

निम्नलिखित कृति लंदन में १८५० की गर्मियों में लिखी गयी थी, जब उन्हीं दिनों हुई प्रतिक्रांति का असर ताज़ा था और यह मार्क्स द्वारा संपादित *«Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue»*[96] अंक ५ तथा ६ (हैम्बर्ग, १८५०) में प्रकाशित हुई थी। जर्मनी में मेरे राजनीतिक मित्र चाहते हैं कि इसे पुनः प्रकाशित किया जाये, और मैं उनकी इच्छा को स्वीकार करता हूं क्योंकि दुर्भाग्यवश यह कृति आज भी समयानुकूल है।

यह कृति स्वतंत्र अनुसंधान से प्राप्त सामग्री को प्रस्तुत करने का दावा नहीं करती। इसके विपरीत किसान विद्रोहों तथा टामस मुंज़र से संबंधित समस्त सामग्री ज़िम्मरमान से ली गयी है।[97] उनकी पुस्तक में कुछ कमियां होते हुए भी वह तथ्य सामग्री का सबसे सुंदर संकलन है। इसके अलावा वृद्ध ज़िम्मरमान को अपना विषय ख़ूब भाता था। जिस क्रांतिकारी प्रवृत्ति ने उन्हें इस पुस्तक में उत्पीड़ित वर्गों की हिमायत करने के लिए उत्प्रेरित किया, उसी ने उन्हें फ़्रैंकफ़ुर्ट के उग्र वामपंथियों[98] का बेहतरीन प्रतिनिधि बनाया।

इस बात के बावजूद, यदि ज़िम्मरमान की पुस्तक में आंतरिक संबंध-सूत्र प्रकट नहीं किये गये हैं, यदि तत्कालीन राजनीतिक-धार्मिक विवादों को समकालीन वर्ग-संघर्ष के प्रतिबिंब के रूप में प्रस्तुत करने में वह सफल नहीं हुए हैं, यदि वह इन वर्ग-संघर्षों में केवल उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों, सज्जनों और दुर्जनों के संघर्ष और अंत में दुर्जनों की विजय ही देखते हैं, यदि संघर्ष के आरंभ और परिणाम, दोनों को निश्चित करनेवाली सामाजिक अवस्थाओं का वर्णन अत्यंत त्रुटिपूर्ण है, तो दोष उस समय का है, जिसमें इस पुस्तक की रचना हुई। पुस्तक तो उल्टे, अपने समय के लिहाज़ से सर्वथा यथार्थवादी ढंग से लिखी गयी है, और इतिहास-संबंधी जर्मन भाववादी कृतियों में एक प्रशंसनीय अपवाद है।

विषय के मेरे प्रस्तुतीकरण में जहां संघर्ष के ऐतिहासिक प्रक्रम की अत्यंत आम रूपरेखा मात्र दी गयी, वहां किसान युद्ध के उद्भव को, उसमें भाग लेनेवाली विभिन्न पार्टियों की स्थिति को, उन राजनीतिक तथा धार्मिक सिद्धांतों को, जिनकी सहायता ये पार्टियां अपनी स्थिति को स्वयं अपनी चेतना में स्पष्ट करने की चेष्टा करती थीं, और अंत में खुद संघर्ष के परिणाम को इन वर्गों के सामाजिक जीवन की ऐतिहासिक रूप से निश्चित अवस्थाओं के अनिवार्य परिणाम के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया; मतलब यह कि उसमें जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था, इस व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह और समकालीन राजनीतिक तथा धार्मिक सिद्धांतों को जर्मनी में उस समय की कृषि, उद्योग, जलथल-मार्ग, मालों के विनिमय तथा मुद्रा-परिचालन की अवस्था के परिणाम के रूप में, न कि कारण के रूप में प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया गया। इस अवधारणा की, जो इतिहास की एकमात्र भौतिकवादी अवधारणा है, सृष्टि मैंने नहीं, मार्क्स ने की, और उसे १८४८–१८४९ की फ़्रांसीसी क्रांति-संबंधी उनकी कृति में*, जो उसी *«Revue»* में प्रकाशित की गयी थी, तथा 'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर'** में देखा जा सकता है।

१५२५ और १८४८–१८४९ की जर्मन क्रांतियों की सादृश्यता इतनी स्पष्ट थी कि उसे उस समय अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। परंतु घटनाक्रम में, जिसमें विभिन्न स्थानीय विद्रोह, एक के बाद एक, उसी राजशाही सेना द्वारा कुचल दिये गये, एकरूपता के बावजूद, दोनों ही क्रांतियों में नागरिक बर्गरों के आचरण में बहुधा हास्यास्पद समानता के बावजूद, उनके बीच स्पष्ट और सुनिश्चित अंतर है।

"१५२५ की क्रांति से किसने फ़ायदा उठाया? **राजाओं ने**। १८४८ की क्रांति से किसने फ़ायदा उठाया? **बड़े** राजाओं ने, आस्ट्रिया और प्रशा ने। १५२५ के छोटे-छोटे राजाओं के पीछे छोटे बर्गर थे, जिन्होंने टैक्सों के ज़रिए इन राजाओं को अपने साथ बांध रखा था। १८५० के बड़े राजाओं के पीछे, आस्ट्रिया तथा प्रशा के पीछे आधुनिक बड़े पूंजीपति हैं, जो राष्ट्रीय क़र्ज़ के ज़रिए उनको

* कार्ल मार्क्स, 'फ़्रांस में वर्ग संघर्ष'। (देखें प्रस्तुत संस्करण, खंड १, भाग १।) – सं०

** देखें प्रस्तुत संस्करण, खंड १, भाग २। – सं०

गर्दन पर बड़ी तेज़ी से अपना जुआ लाद रहे हैं। और बड़े पूंजीपतियों के पीछे सर्वहारागण खड़े हैं।"*

मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि इस पैराग्राफ़ में जर्मन पूंजीपति वर्ग को बहुत अधिक सम्मान दिया गया है। बेशक आस्ट्रिया और प्रशा दोनों में उसे राजशाही की गर्दन पर "राष्ट्रीय क़र्ज़ के ज़रिए बड़ी तेज़ी से अपना जुआ लादने" का अवसर प्राप्त हुआ था, परंतु उसने कहीं भी कभी भी इस अवसर का उपयोग नहीं किया।

१८६६ के युद्ध[99] की बदौलत पूंजीपति वर्ग को आस्ट्रिया अनायास उपहार रूप में मिल गया। परंतु हुकूमत कैसे की जाती है, यह उसे नहीं मालूम; उसके पास न शक्ति है, न कुछ भी करने की योग्यता। वह बस एक ही काम कर सकता है: मजदूरों के बीच कुछ भी हलचल शुरू हुई नहीं कि उन पर वहशियाना हमला कर देना। अगर अभी भी राज्य की पतवार उसके हाथ में है तो केवल इसलिए कि **हंगरी वालों** को इसकी ज़रूरत है।

और प्रशा में? यह सच है कि राष्ट्रीय क़र्ज़ दिन दूना और रात चौगुना बढ़ा है, घाटे ने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया है, राज्य का ख़र्च साल-ब-साल बढ़ता जाता है, सदन में पूंजीपति वर्ग के सदस्यों का बहुमत है और उनकी रजामंदी के बग़ैर न तो टैक्स बढ़ाये जा सकते हैं न क़र्ज़ चालू किये जा सकते हैं। फिर भी कहां है राज्य पर उसका प्रभुत्व? कुछ ही महीने पहले जब फिर घाटे की सूरत पैदा हुई, पूंजीपति वर्ग बड़ी अनुकूल स्थिति में था। अगर वह **बस थोड़ी** देर तक अपना हाथ खींचे रहता तो बहुत बड़ी रियायतें हासिल कर सकता था। लेकिन उसने किया क्या? उसकी निगाह में इतनी ही रियायत काफ़ी बड़ी है कि सरकार क़रीब ९० लाख की थैली को अपने सामने पेश करने की **उसे इजाजत देती है, एक** वर्ष नहीं, जी नहीं, बल्कि **प्रति वर्ष,** अनंत काल के लिए।

मैं सदन के बेचारे "राष्ट्रीय-उदारतावादियों"[100] को, जितने दोष के वे भागी हैं, उससे ज्यादा दोष नहीं देना चाहता। मैं जानता हूं कि जो लोग उनके पीछे हैं, उन्होंने, आम पूंजीपतियों ने, बीच मंझधार में उनका साथ छोड़ दिया है। ये आम पूंजीपति हुकूमत करना **नहीं चाहते**। १८४८ का अनुभव अभी भी उनकी अस्थि-मज्जा में बिंधा हुआ है।

---

*फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में किसान युद्ध'। – **सं०**

जर्मन पूंजीपति वर्ग यह आश्चर्यजनक कायरता क्यों प्रदर्शित करता है, इसकी विवेचना हम बाद में करेंगे।

उपरोक्त वक्तव्य के अन्य पक्षों की पूर्ण रूप से पुष्टि हो चुकी है। १८५० से छोटे-छोटे राज्य अधिकाधिक निश्चित रूप से पृष्ठभूमि में खिसकते गये हैं, और वे कभी प्रशा के तो कभी आस्ट्रिया के कुचक्रों में मात्र लीवर का काम देते रहे हैं; एकाधिपत्य के लिये आस्ट्रिया और प्रशा के बीच अधिकाधिक उग्र संघर्ष हुआ है; अंततः १८६६ में बलप्रयोग द्वारा समझौता लादा गया, जिसके बाद आस्ट्रिया के प्रांत उसके हाथ में ही रहते हैं, जबकि प्रशा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पूरे उत्तरी प्रदेश को अपने अधीन करता है, और दक्षिण-पश्चिम के तीन राज्य* फ़िलहाल अपने भाग्य के आसरे छोड़ दिये जाते हैं।

इन तमाम शानदार कारनामों में जर्मन मज़दूर वर्ग के लिए केवल निम्न-लिखित बातों का महत्त्व है:

पहली बात तो यह कि सार्विक मताधिकार की बदौलत मज़दूरों को विधान सभा में सीधे-सीधे प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का साधन उपलब्ध हो गया है।

दूसरी यह कि प्रशा ने तीन ताजों को** जो ईश्वरीय वरदान समझे जाते थे, हड़प कर बड़ी अच्छी मिसाल पेश की है। इस हरकत के **बाद** राष्ट्रीय-उदारतावादी भी यह यक़ीन नहीं करते कि प्रशा का ताज वैसा ही है—निष्क-लुष और ईश्वरीय वरदान—जैसा कि वह पहले अपने लिए कहा करता था।

तीसरी यह कि अब जर्मनी में क्रांति का **एक ही** प्रबल शत्रु है—प्रशा की सरकार।

चौथी बात यह कि जर्मन आस्ट्रियाइयों को अब अंततोगत्वा यह फ़ैसला करना पड़ेगा कि वे क्या होना चाहते हैं—जर्मन अथवा आस्ट्रियाई? कि वे जर्मनी के नागरिक होना चाहते हैं या बाहर, लीथान पार के पिछलगुआ देशों के? बहुत दिनों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि उन्हें एक को या दूसरे को छोड़ना पड़ेगा परंतु निम्नपूंजीवादी जनवाद इस सत्य पर बराबर पर्दा डालता रहा है।

जहां तक १८६६ के बारे में दूसरे महत्वपूर्ण विवादास्पद प्रश्न हैं, जिन पर तब से एक ओर "राष्ट्रीय-उदारतावादी" और दूसरी ओर "जन-पार्टी"[101] के

---

* बवेरिया, बाडेन, वुर्टेमबुर्ग। — सं०

** हैनोवर, हेसन-कासेल, नस्साऊ। — सं०

लोगों के बीच अंतहीन बहस हुई है, अगले चंद वर्षों का इतिहास संभवतः यह सिद्ध करेगा कि इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच इतना कटु विरोध इसीलिए है कि वे एक ही संकीर्ण मनोवृत्ति के दो विलोमी पक्ष हैं।

१८६६ ने जर्मनी के सामाजिक ढांचे में प्रायः कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। जो थोड़े-से पूंजीवादी सुधार हुए – बाटों और मापों की एकरूपता, आवाजाही की आज़ादी, वृत्ति-स्वातन्त्र्य, आदि, – सभी नौकरशाही द्वारा स्वीकार्य सीमाओं के भीतर – वे उन सुधारों की हद तक भी नहीं जाते जिन्हें पश्चिम-यूरोपीय देशों के पूंजीपति वर्ग ने बहुत दिन पहले ही प्राप्त कर लिया था, और वे मुख्य बुराई – रियायतों की नौकरशाही व्यवस्था[102] – को स्पर्श भी नहीं करते। बहरसूरत सर्वहारा के लिए आवाजाही की आज़ादी, देशीयकरण के अधिकार, पासपोर्ट-व्यवस्था के अंत, आदि के बारे में सारे क़ानून पुलिस की आम कार्रवाइयों की वजह से सर्वथा अवास्तविक बन जाते हैं।

जो चीज़ १८६६ के शानदार कारनामे से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है वह है १८४८ के बाद से होनेवाला जर्मन उद्योग तथा वाणिज्य, रेल तथा तार व्यवस्था और समुद्री नौपरिवहन का विकास। यह प्रगति इंगलैंड की या फ़्रांस तक की प्रगति से चाहे जितनी कम हो, जर्मनी के लिए अभूतपूर्व है और उसने बीस साल में जितना संपन्न किया है उतना पहले एक शताब्दी में भी संपन्न नहीं किया गया था। अब कहीं जाकर ही जर्मनी **विश्व-वाणिज्य** के भंवर में प्रबल रूप से खिंच आया है और उससे बाहर नहीं निकल सकता। उद्योगपतियों की पूंजी तेज़ी से बढ़ी है; पूंजीपति वर्ग की सामाजिक स्थिति भी इसी के अनुरूप उन्नत हुई है। औद्योगिक समृद्धि के अचूक लक्षण – **ठगी** – ख़ूब जमा है और ठग-व्यापार के विजयरथ के साथ बड़े-बड़े काउंट और ड्यूक भी जोत दिये गये हैं। आज जर्मन पूंजी रूस और रूमानिया की रेलों का निर्माण कर रही है – कहीं वह इसमें असफल न हो! – जबकि सिर्फ़ पंद्रह साल पहले जर्मनी की रेलों के लिए अंग्रेज़ उद्यमकर्त्ताओं से अनुनय-विनय की जाती थी। तब फिर यह कैसे संभव हुआ कि पूंजीपति वर्ग ने राजनीतिक सत्ता पर भी अधिकार नहीं कर लिया और सरकार की ओर उसका रवैया इतनी बुज़दिली का है?

जर्मन पूंजीपति वर्ग का दुर्भाग्य यह है कि वह प्रचलित जर्मन परिपाटी के अनुसार रंगमंच पर बहुत देर से आया। उसका उन्मेष ऐसे काल में हो रहा है जब अन्य पश्चिम-यूरोपीय देशों का पूंजीपति वर्ग राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो चुका है। इंगलैंड में पूंजीपति वर्ग मताधिकार के विस्तरण द्वारा ही अपने

प्रतिनिधि ब्राइट को सरकार में घुसा सका, परंतु इस विस्तरण का एक ही परिणाम हो सकता है—समस्त पूंजीवादी शासन का अंत। फ़्रांस में, जहां पूंजीपति वर्ग, समूचे वर्ग के रूप में, केवल जनतंत्र के अंतर्गत दो वर्षों—१८४९ और १८५० के दौरान सत्तारूढ़ रह सका था, वह अपनी राजनीतिक सत्ता लूई बोनापार्त और सेना के हवाले करके ही अपना सामाजिक अस्तित्व बनाये रख सका। और यूरोप के तीन सर्वाधिक उन्नत देशों के आपस में बहुत अधिक बढ़े हुए सम्बन्ध के कारण आज यह संभव नहीं रह गया है कि जब इंगलैंड और फ़्रांस में पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक शासन की उपयोगिता समाप्त हो गयी हो, तब जर्मनी में वह आराम से बैठकर शासन कर सके।

पहले के सभी शासक वर्गों के विपरीत पूंजीपति वर्ग की यह विशेषता है कि उसके विकास में एक ऐसा मोड़ आता है जिसके बाद उसकी शक्ति के साधनों का प्रत्येक प्रसार, अर्थात् प्रथमतः उसकी पूंजी का प्रसार उसे राजनीतिक शासन के अधिकाधिक अयोग्य बनाता है। "**बड़े पूंजीपतियों के पीछे सर्वहारागण खड़े हैं।**" पूंजीपति वर्ग जब अपने उद्योग, वाणिज्य और संचार के साधनों का विकास करता है तब वह सर्वहारा वर्ग को जन्म देता है। एक वक़्त आता है—यह ज़रूरी नहीं है कि वह सब जगह एक ही साथ आये या विकास की एक ही मंज़िल में आये—जब पूंजीपति वर्ग की नज़र में यह बात आती है कि उसका सर्वहारा जोड़ीदार उससे ज़्यादा तेज़ी से बढ़ रहा है। इस घड़ी से वह एकांतिक राजनीतिक शासन के लिए अपेक्षित बल खो बैठता है; वह संघातियों की तलाश करता है—उन्हें अपने शासन में साझीदार बनाने के लिये या यदि परिस्थितिवश ऐसा आवश्यक हो जाये तो पूरा शासन-सूत्र उनके हाथ में सौंप देने के लिये।

जर्मनी में पूंजीपतियों के लिए यह मोड़ १८४८ में ही आ गया था। निःसंदेह जर्मन पूंजीपति वर्ग जर्मन सर्वहारा से उतना भयभीत न था जितना फ़्रांसीसी सर्वहारा से था। पेरिस में जून १८४८ की लड़ाई ने पूंजीपति वर्ग को यह दिखा दिया कि वह क्या उम्मीद कर सकता है; उसके लिये जर्मन सर्वहारा की बेचैनी इस बात का सबूत थी कि जर्मन भूमि में भी वह बीज बोया जा चुका है जिससे यही फ़सल उगती है; उसी दिन से समस्त पूंजीवादी राजनीतिक क्रिया की धार जाती रही। पूंजीपति वर्ग ने संघातियों की तलाश की और क़ीमत का लिहाज़ किये बग़ैर अपने को उनके हाथ बेच दिया—और आज भी वह एक क़दम आगे नहीं बढ़ सका है।

इन सारे संघातियों का स्वरूप प्रतिक्रियावादी है: राजशाही जिसके साथ सेना और नौकरशाही है; बड़े-बड़े अभिजातीय सामंत; छोटे-छोटे युंकर* सरदार, यहां तक कि पादरी भी। इन सब के साथ पूंजीपति वर्ग ने समझौते और सौदे किये, कुछ नहीं तो अपनी चमड़ी, प्यारी चमड़ी बचाने के लिये किये, यहां तक कि अंत में सौदे में देने के लिये उसके पास कुछ न रह गया। और सर्वहारा ने जितना अधिक विकास किया, जितना ही अधिक उसने एक वर्ग के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव किया और तदनुरूप आचरण किया, पूंजीपतियों की भीरुता उतनी ही बढ़ती गयी। जब सादोवा में[103] प्रशियाइयों की आश्चर्यजनक रूप से निकृष्ट रणनीति ने आस्ट्रियाइयों की आश्चर्यजनक रूप से निकृष्टतर रणनीति पर विजय पायी, तब यह कहना मुश्किल हो गया कि किसने आराम की ज़्यादा गहरी सांस ली – प्रशा के पूंजीपतियों ने (सादोवा में इनकी भी हार हुई थी), या आस्ट्रिया के।

१८७० के हमारे बड़े पूंजीपतियों का आचरण अभी भी ठीक वैसा ही है जैसा १५२५ के मंझोले बर्गरों का था। जहां तक निम्नपूंजीपतियों, दस्तकारों और दूकानदारों का संबंध है, ये कभी बदलनेवाले नहीं हैं। उन्हें आशा है कि वे ऊपर उठकर तिकड़म और फ़रेब के ज़रिए, बड़े पूंजीपतियों की पांतों में घुस जायेंगे; उन्हें डर है कि वे कहीं नीचे लुढ़ककर सर्वहारा की पांतों में न पहुंच जायें। आशा और भय के बीच हिचकोले खाते हुए वे संघर्ष के दौरान अपनी बेशक़ीमत चमड़ी को बचायेंगे और संघर्ष के बाद विजयी पक्ष का साथ देंगे। ऐसी ही उनकी प्रकृति है।

१८४८ से जिस रफ़्तार से उद्योग आगे बढ़ा है, उसी रफ़्तार से सर्वहारा की सामाजिक और राजनीतिक सरगर्मियां भी बढ़ती गयी हैं। आज ट्रेड यूनियनों में, सहकारी समितियों में, राजनीतिक संस्थाओं और सभाओं में, चुनावों तथा तथाकथित राइख़स्टाग में जर्मन मज़दूर जो भूमिका अदा करते हैं वह अपने में ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि पिछले बीस वर्षों में जर्मनी अलक्षित रूप से कितना बदल गया है। जर्मन मज़दूरों को इस बात का महत्तम श्रेय प्राप्त है कि **वे ही** मज़दूरों को और मज़दूरों के प्रतिनिधियों को संसद में भेजने में सफल हुए हैं – यह एक ऐसा कारनामा है जिसे अभी तक न तो फ़्रांसीसी, न ही अंग्रेज़ कर पाये हैं।

परंतु सर्वहारा भी अभी तक १५२५ की सादृश्यता को पीछे नहीं छोड़ सका है। अपने पूरे जीवन में एकमात्र मज़दूरी के आसरे रहनेवाला वर्ग जर्मन जनता

---

* प्रशियाई ज़मींदार। – सं०

का बहुसंख्यक भाग होने से अभी भी बहुत दूर है। इसलिए उसे भी संघातियों की तलाश करनी पड़ती है, जो उसे निम्नपूंजीपतियों, शहरों के लंपट-सर्वहाराओं, छोटे किसानों और खेत-मज़दूरों के बीच ही मिल सकते हैं।

निम्नपूंजीपतियों का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। उनका बिल्कुल भरोसा नहीं किया जा सकता, सिवा उस वक़्त जब जीत हो चुकी हो और तब तो वे बियरघरों में इतना शोर मचाते हैं कि आसमान सिर पर उठा लेते हैं। इसके बावजूद उनके बीच बड़े अच्छे तत्त्व हैं जो स्वयं अपनी इच्छा से मज़दूरों का साथ देते हैं।

सभी वर्गों के भ्रष्ट अंशों का कूड़ा-कचरा, **लंपट-सर्वहारा** जो मुख्यतः बड़े शहरों में रहता है, सर्वहारा के संभव संघातियों में निकृष्टतम है। ये हज़ारी-बज़ारी बिल्कुल भाड़े के टट्टू हैं और बिल्कुल ही बेहया हैं। अगर प्रत्येक क्रांति में फ़्रांसीसी मज़दूरों ने मकानों की दीवारों पर यह नारा लिखा: Mort aux voleurs!–"चोर-लुटेरे मुर्दाबाद!"–और कुछ को तो गोली से उड़ा भी दिया, तो उन्होंने ऐसा संपत्ति के प्रति सम्मान के भाव से नहीं किया, बल्कि इसलिए कि उन्होंने इस गिरोह से निजात पाना ज़रूरी समझा और ठीक ही समझा। मज़दूरों का जो भी नेता इन बदमाशों को सैन्यदल के रूप में इस्तेमाल करता है या मदद के लिए उन पर भरोसा करता है, वह एक इसी काम के ज़रिए साबित कर देता है कि वह आंदोलन के प्रति विश्वासघाती है।

छोटे किसान–क्योंकि बड़े किसान पूंजीपति वर्ग के अंग हैं–भिन्न प्रकार के हैं।

ये या तो **सामंती किसान** हैं और अपने कृपालु प्रभु के लिए अभी भी हरी-बेगारी करते हैं। चूंकि इन लोगों को भूदासता से छुटकारा दिलाने के अपने कर्त्तव्य का पालन करने में पूंजीपति वर्ग असमर्थ रहा है, इसलिए उन्हें इस बात का यक़ीन दिलाना मुश्किल न होगा कि वे मज़दूर वर्ग के हाथों ही अपनी मुक्ति की आशा कर सकते हैं।

या फिर वे **काश्तकार** हैं। इस सूरत में परिस्थिति बहुत कुछ आयरलैंड जैसी है। लगान इतना ज़्यादा बढ़ा दिया गया है कि औसत दर्जे की फ़सल होने पर किसान और उसके परिवार के लोग मुश्किल से ही काम चला पाते हैं; फ़सल मारी जाने पर उसके खाने का ठिकाना नहीं रहता, वह लगान नहीं दे पाता और फलतः वह बिल्कुल ही ज़मींदार की दया पर आश्रित होता है। पूंजीपति वर्ग विवश

होकर ही इन लोगों के लिए कुछ करता है। तब फिर वे अपने परित्राण के लिए मज़दूरों से आशा न करें तो किससे करें?

अब वे ही किसान रह जाते हैं जो **अपने ही छोटे-छोटे खेतों को** जोतते-बोते हैं। अक्सर उन पर रेहन का इतना बड़ा बोझ होता है कि वे सूदख़ोरों के उसी प्रकार आश्रित होते हैं, जिस प्रकार काश्तकार ज़मींदारों के होते हैं। उनके लिए भी थोड़ी-सी मजदूरी ही रह जाती है, यही नहीं, चूंकि किसी साल फ़सल अच्छी होती है और किसी साल बुरी, इसलिए यह मजदूरी भी अत्यंत अनिश्चित होती है। इन लोगों को पूंजीपति वर्ग का सबसे कम आसरा है, क्योंकि ठीक यही वर्ग, पूंजीवादी सूदख़ोर जोंक, उसका ख़ून चूस लेता है। फिर भी इनमें से अधिकांश किसान अपनी संपत्ति से चिपके रहते हैं हालांकि वास्तव में यह संपत्ति उनकी नहीं, सूदख़ोर महाजन की होती है। बहरसूरत इन लोगों के मन में यह बात बैठा देनी होगी कि सूदख़ोरों से छुटकारा उन्हें तभी मिल सकता है जब जनता का दामन पकड़नेवाली सरकार हर रेहन को राज्य को देय ऋण में बदल देगी और इस प्रकार सूद की दर घटा देगी। और यह मज़दूर वर्ग के ही किये हो सकता है।

जहां भी मंझोली और बड़ी जागीरों का बोलबाला है, वहां गांवों में **खेत-मज़दूर** ही सबसे बहुसंख्यक वर्ग हैं। पूरे उत्तरी और पूर्वी जर्मनी में यही स्थिति है, और **इन्हीं में** शहरों के औद्योगिक मज़दूर अपने **सबसे बहुसंख्यक और स्वाभाविक संघाती** पाते हैं। जिस प्रकार औद्योगिक मज़दूर के मुक़ाबले में पूंजीपति खड़ा है, उसी प्रकार खेत-मज़दूर के मुक़ाबले में ज़मींदार या बड़ा काश्तकार खड़ा है। जिन कार्रवाइयों से एक को फ़ायदा पहुंचता है उन्हीं से दूसरे को भी अनिवार्यतः पहुंचेगा। औद्योगिक मज़दूर पूंजीपति की पूंजी को, अर्थात् कच्चे माल, मशीनों तथा औज़ारों और जीवन-निर्वाह के साधनों को, जिनकी उन्हें उत्पादन में काम में लाने के लिए ज़रूरत है, समाज की संपत्ति में, अर्थात् संयुक्त रूप में इस्तेमाल की जानेवाली स्वयं अपनी संपत्ति में बदल कर ही अपने को मुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार खेत-मज़दूर तभी अपने जीवन की विभीषिका से बचाये जा सकते हैं जब सबसे पहले वह चीज़ जिसमें मुख्यतः उनकी मेहनत लाती है, अर्थात् स्वयं भूमि ही बड़े किसानों के तथा और भी बड़े सामंती प्रभुओं के निजी स्वामित्व से निकालकर सार्वजनिक संपत्ति में बदल दी जाती है और खेत-मज़दूरों की सहकारी समितियों द्वारा साझे में जोती-बोयी जाती है। यहां बाज़ेल में हुई अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर कांग्रेस के उस मशहूर फ़ैसले का उल्लेख प्रासंगिक है जिसके अनुसार भूसंपत्ति को सामूहिक, राष्ट्रीय संपत्ति में बदल देना समाज के हित में है।[104] यह प्रस्ताव

मुख्यतः उन देशों के लिये स्वीकृत किया गया था, जहां बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां मौजूद हैं और जहां इन बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों को एक मालिक और बहुत-से उजरती मज़दूर चलाते हैं। लेकिन ख़ासकर जर्मनी में यह वस्तुस्थिति अभी भी बहुत पायी जाती है और इसलिए यह निर्णय इंगलैंड के बाद **सबसे अधिक ठीक जर्मनी के लिए ही समयोचित था।** कृषि-सर्वहारा, खेत-मजदूर – यही वह वर्ग है जिससे राजाओं की सेनाओं में भर्ती की जाती है। यही वह वर्ग है जो सार्विक मताधिकार की बदौलत कितने ही सामंती प्रभुओं और युंकरों को संसद में भेजता है; लेकिन यही वह वर्ग है जो शहरों के औद्योगिक मज़दूरों के सबसे ज़्यादा नज़दीक है, जो समान अवस्थाओं में जीवन-यापन करता है, बल्कि उनसे भी ज़्यादा मुसीबतज़दा है। इस वर्ग को, जो बंटा और बिखरा होने के कारण निःशक्त है, उभाड़ना और आंदोलन में खींचना – यही जर्मनी के मज़दूर आंदोलन का फ़ौरी और सबसे ज़रूरी काम है। सरकार और अभिजात वर्ग उसकी अंतर्हित शक्ति से इतनी अच्छी तरह परिचित हैं कि वे जानबूझकर उसे जेहालत की हालत में रखने के लिए स्कूलों को टूट-फूट जाने देते हैं। जिस दिन खेत-मज़दूर अपने हितों को समझना सीख लेंगे, उस दिन जर्मनी में प्रतिक्रियावादी – सामंती, नौकरशाही या पूंजीवादी – सरकार का अस्तित्व असंभव हो जायेगा।

फ़्रे॰ एंगेल्स द्वारा ११ फ़रवरी १८७० के आस-पास लिखित।

'जर्मनी में किसान युद्ध' के दूसरे संस्करण (लाइप्ज़िग, अक्तूबर १८७०) में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

१८७५ के तीसरे संस्करण के लिए १८७० की भूमिका का पूरक

उपरोक्त अंश चार साल से ज़्यादा पहले लिखा गया था, और वह आज भी सत्य है। सादोवा की लड़ाई और जर्मनी के बंटवारे के बाद जो चीज़ सही थी, उसकी सेदान की लड़ाई[105] के बाद और प्रशियाई राष्ट्र के पवित्र जर्मन साम्राज्य[106] की स्थापना के बाद पुष्टि हो रही है। तथाकथित उच्चतर राजनीति के क्षेत्र में राज्य के "दुनिया को हिला देनेवाले" शानदार कारनामे ऐतिहासिक गति की दिशा को कहां बदल पाते हैं।

लेकिन ये कारनामे इस गति को तेज़ ज़रूर कर सकते हैं। इस अर्थ में उपरोक्त "दुनिया को हिला देनेवाली घटनाओं" के जन्मदाताओं को अनचाहे ऐसी सफलताएं मिली हैं, जिन्हें वे स्वयं निश्चय ही घोर अवांछित समझते हैं, ताहम जिन्हें उन्हें टेढ़े-सीधे मानना ही पड़ेगा।

१८६६ के युद्ध ने पुराने प्रशा को नींव तक हिला दिया। १८४८ के बाद उसके लिए पश्चिमी प्रांतों के विद्रोही औद्योगिक अंशकों – पूंजीवादी और सर्वहारा दोनों ही – को फिर पुराने अनुशासन के अधीन करना टेढ़ी खीर था; तो भी यह काम किया गया, और सेना के हितों के साथ पूर्वी प्रांतों के युंकरों के हित फिर से राज्य के प्रमुख हित बन गये। १८६६ में प्रायः समूचा उत्तर-पश्चिमी जर्मनी प्रशियाई हो गया। परमात्मा की दया से प्रशा की बादशाही को जो अमार्जनीय नैतिक क्षति इस कारण पहुंची थी कि उसने परमात्मा की दया से तीन और बादशाहियों को* आत्मसात कर लिया था, उसके अलावा भी राजतंत्र का गुरुत्व-केंद्र अब बहुत काफ़ी पश्चिम की ओर खिसक गया था। राइन प्रदेश और वेस्टफ़ालिया के पचास लाख निवासियों में वे चालीस लाख जर्मन और जुड़ गये थे जिन्हें सीधे-सीधे संयोजित कर लिया गया था और वे साठ लाख भी जिन्हें अप्रत्यक्ष रूप से, उत्तर जर्मन संघ[107] के जरिए, संयोजित किया गया था। और १८७० में अस्सी लाख दक्षिण-पश्चिमी जर्मन भी उन्हीं में मिल गये।[108] इस प्रकार "नये राइख़" में एक करोड़ पैंतालीस लाख पुराने प्रशियाइयों (छः पूर्वी ऐल्बियाई प्रांतों के रहनेवाले, जहां इनके अलावा बीस लाख पोल भी रहते थे) के मुक़ाबले में क़रीब ढाई करोड़ दूसरे लोग थे, जो पुराने प्रशियाई-युंकर सामंतवाद को बहुत दिन पहले ही पीछे छोड़ चुके थे। इस प्रकार प्रशियाई सेना की जीतों ने ही प्रशियाई राज्य के ढांचे के समूचे आधार को बदल डाला; युंकरों का प्रभुत्व स्वयं सरकार तक के लिए असह्य हो गया। लेकिन साथ ही बेहद तेज़ रफ़्तार से होनेवाली औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप पूंजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष ने युंकरों और पूंजीपतियों के संघर्ष की जगह ले ली, जिससे आंतरिक रूप से भी पुराने राज्य का सामाजिक आधार पूरी तरह बदल गया। १८४० से धीरे-धीरे सड़-गल रहे राजतंत्र की बुनियादी पूर्वमान्य शर्त अभिजात वर्ग और पूंजीपति वर्ग का संघर्ष था, जिसमें संतुलन राजतंत्र के हाथ में था। जब अभिजात वर्ग को पूंजीपति वर्ग के अंधाधुंध बढ़ाव से रक्षा की आवश्यकता न रह गयी और

*हैनोवर, हेसन-कासेल, नस्साऊ। – सं०

जब मजदूर वर्ग के अंधाधुंध बढ़ाव से तमाम मिल्की वर्गों की रक्षा आवश्यक हो गयी, तब पुराने निरंकुश राजतंत्र को राज्य के उस रूप में पूरी तरह बदल जाना पड़ा जो स्पष्टतः इसी उद्देश्य के लिए परिकल्पित किया गया था – यह रूप था: **बोनापार्ती राजतंत्र**। बोनापार्तशाही में प्रशा के संक्रमण की विवेचना मैं अन्यत्र कर चुका हूं ('आवास का प्रश्न', भाग २, पृ० २६ तथा आगे के पृष्ठ)। जिस चीज़ पर वहां बल देने की जरूरत नहीं थी पर जो यहां विशेष महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि आधुनिक विकास में प्रशा इतना पीछे रहा है कि १८४८ से उसने जितनी प्रगति की है उसमें यह संक्रमण ही **सबसे बड़ी प्रगति था**। यह सच है कि प्रशा अभी भी अर्द्ध-सामंती राज्य था, जबकि बोनापार्तशाही कुछ भी हो राज्य का एक आधुनिक रूप है, जिसके लिए सामंतवाद का उन्मूलन पूर्वमान्य है। लिहाज़ा प्रशा को सामंतवाद के अनगिनत अवशेषों से छुटकारा पाने और युंकरशाही को तिलांजलि देने का उपक्रम करना पड़ा है। स्वभावतः यह चीज़ मुलायम से मुलायम ढंग से और इस प्रिय उक्ति के अनुसार की गयी: Immer langsam voran!* कुख्यात ज़िला अध्यादेश को ही लीजिये। वह जागीर के संबंध में युंकर के निजी सामंती विशेषाधिकारों का अंत करता है और फिर उन्हीं को पूरे ज़िले में सभी बड़े ज़मींदारों के सामूहिक विशेषाधिकार के रूप में पुनःस्थापित करता है। बात तत्त्वतः वही रहती है, केवल उसे सामंती की जगह पूंजीवादी लिबास पहना दिया जाता है। पुराने प्रशियाई युंकर को ज़बरदस्ती अंग्रेज़ स्क्वायर जैसी शक्ल दी जा रही है और चूंकि अंग्रेज़ स्क्वायर कुछ कम अहमक़ नहीं है युंकर को इस रूपांतरण का इस क़दर विरोध करने की क़तई ज़रूरत न थी।

इस प्रकार प्रशा का भाग्य कुछ ऐसा विचित्र रहा कि उसने अपनी पूंजीवादी क्रांति, जिसे उसने १८०८–१८१३ के काल में शुरू किया था और १८४८ तक एक हद तक अग्रसर कर लिया था, इस शताब्दी के अंत में बोनापार्तशाही के सुंदर रूप में संपन्न की। अगर सब ठीक-ठाक रहा और संसार में सुख-शांति रही और हम सब जीते रहें तो हम देखेंगे – शायद १६०० में – कि प्रशा की सरकार वास्तव में सभी सामंती संस्थाओं का उन्मूलन करेगी और प्रशा अंततोगत्वा उस बिंदु पर पहुंचेगा जहां फ्रांस १७९२ में था।

सामंतवाद के उन्मूलन को यदि सकारात्मक रूप में व्यक्त किया जाये तो उसका अर्थ पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना है। अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों के अंत

*सदा धीरे-धीरे आगे बढ़ो! – सं०

के साथ क़ानून का रूप अधिकाधिक पूंजीवादी होता जाता है। और यहीं हम सरकार के साथ जर्मन पूंजीपति वर्ग के संबंध में कांटे की बात पाते हैं। हमने देखा है कि सरकार इन छोटे-छोटे दीर्घसूत्री सुधारों को लागू करने को **विवश** होती है। लेकिन पूंजीपति वर्ग के साथ पेश आते हुए सरकार यह दिखाती है कि इन छोटी-मोटी रियायतों में हरेक पूंजीपति वर्ग के लिए की गयी **क़ुर्बानी** है, बादशाही से बड़ी मुश्किल से हासिल की गयी रियायत है, जिसके बदले में पूंजीपतियों को भी सरकार को कुछ न कुछ रियायत देनी चाहिए। और यद्यपि वास्तविक परिस्थिति उनके लिए काफ़ी स्पष्ट है तो भी पूंजीपति उल्लू बनाये जाने को तैयार हो जाते हैं। यही उस अकथित संविदा का मूल है जो बर्लिन में राइख़स्टाग और प्रशियाई सदन में होनेवाली तमाम बहसों का अंतर्हित आधार है। एक ओर सरकार पूंजीपति वर्ग के हित में क़ानूनों का बहुत धीरे-धीरे सुधार करती है, उद्योग के रास्ते में सामंती अड़चनों को तथा बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों के अस्तित्व के कारण पैदा होनेवाली अड़चनों को दूर करती है, मुद्रा की तथा बाटों और मापों की एकरूपता, वृत्ति-स्वातन्त्र्य, आदि स्थापित करती है, आवाजाही की स्वतंत्रता प्रदान कर जर्मनी की श्रम-शक्ति को पूंजी के लिए अबाध रूप से सुलभ बनाती है, और व्यापार तथा ठगी को प्रश्रय देती है। दूसरी ओर, पूंजीपति वर्ग समस्त वास्तविक राजनीतिक सत्ता को सरकार के हाथ में छोड़ देता है, टैक्सों और क़र्ज़ों के लिए और सिपाहियों की भर्ती के लिए वोट देता है और सभी नये सुधार-क़ानूनों को इस रूप में सूत्रबद्ध करने में सहायता देता है कि उनसे अवांछित तत्त्वों के ऊपर पुराना पुलिस प्रभुत्व पूर्णतः शक्तिशाली तथा प्रभावशाली बना रहता है। पूंजीपति वर्ग तात्कालिक रूप से राजनीतिक सत्ता का परित्याग कर अपनी क्रमिक सामाजिक मुक्ति का मोल चुकाता है। यदि इस प्रकार का समझौता पूंजीपति वर्ग के लिए स्वीकार्य है तो स्वभावतः इसका मुख्य कारण उसे सरकार से भय नहीं, सर्वहारा से भय है।

राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग कितना भी दीन-हीन क्यों न दिखायी पड़े, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जहां तक उद्योग तथा वाणिज्य का संबंध है, वह अंततः अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। दूसरे संस्करण की भूमिका में* उद्योग तथा वाणिज्य की जिस उन्नति का उल्लेख किया गया है वह तब से और ज़ोर-शोर से हो रही है। इस संबंध में राइन-वेस्टफ़ालिया के

*प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २१२–२२१।–सं०

औद्योगिक प्रदेश में १८६९ से जो कुछ हुआ है, वह जर्मनी के लिए सर्वथा अभूतपूर्व है; उसे देखकर इस शताब्दी के आरंभ में इंगलैंड के कल-कारख़ानों वाले इलाक़ों में हुए उभार का स्मरण हो आता है। यही बात सैक्सनी, उत्तरी सिलेशिया, बर्लिन, हैनोवर और समुद्री बंदरगाहों के बारे में लागू होती है। अंततः अब हमारे यहां भी विश्व-व्यापार है, वास्तव में बड़ा उद्योग है, वास्तव में आधुनिक पूंजीपति वर्ग है। परंतु बदले में हमारे यहां भी वास्तव में संकट आया, और इसी प्रकार हमारे यहां भी एक वास्तविक शक्तिशाली सर्वहारा का उदय हुआ।

भविष्य का इतिहासकार १८६९–१८७४ के काल में जर्मनी के इतिहास में जर्मन सर्वहारा के आडम्बरशून्य, शांत तथा सतत आरोही विकास को जितना महत्त्व देगा उससे कहीं कम श्पीख़र्न, मार्स-ला-तूर[109] और सेदान में युद्ध के महत्त्व को और उससे संबंधित किसी भी चीज़ को देगा। १८७० में ही जर्मन मज़दूरों को कठोर परीक्षा देनी पड़ी: उसे युद्ध के बोनापार्ती भड़कावे तथा उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया, जर्मनी में राष्ट्रीय उत्साह की आम लहर का सामना करना पड़ा। जर्मनी के समाजवादी मज़दूरों ने अपने को क्षण भर के लिए भी उद्भ्रांत होने नहीं दिया। उन्होंने अंधराष्ट्रवाद का लेश मात्र चिह्न प्रगट नहीं किया। उन्होंने उन्मत्त विजयोल्लास के बीच अपने मानसिक संतुलन को क़ायम रखा और "फ़्रांसीसी जनतंत्र के साथ न्याय्य शांति संधि की तथा संयोजन न किये जाने की" मांग की। मार्शल-ला भी उनको चुप न कर सका। उनके ऊपर न तो युद्ध के गौरव का कोई प्रभाव पड़ा, न ही जर्मन "साम्राज्य की प्रतिष्ठा" की किसी बातचीत का। समस्त यूरोपीय सर्वहारा की मुक्ति अभी भी उनका एकमात्र लक्ष्य बनी हुई थी। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि अभी तक और किसी भी देश में मज़दूरों को इतनी कठिन परीक्षा नहीं देनी पड़ी है, न वे ऐसी परीक्षा में इतने खरे उतरे हैं।

युद्धकाल में मार्शल-ला के बाद देशद्रोह के लिए, राजद्रोह के लिए, अफ़सरों की तौहीन करने के लिए मुक़द्दमे चलाये गये और पुलिस की शांतिकालीन क़ानूनी तिकड़में बराबर बढ़ती गयीं। सामान्यतः *«Volksstaat»* पत्र के तथा अन्य पत्रों के भी तीन-चार संपादक एक ही समय में जेल की हवा खाते होते। पार्टी के थोड़ी भी ख्याति रखनेवाले हर भाषणकर्त्ता को साल में कम से कम एक बार अदालत के सामने लाया जाता और क़रीब-क़रीब एक बार ज़रूर उसे सज़ा हो जाती। देशनिकाला, ज़ब्ती, सभाओं का भंग किया जाना – ये सब, एक के बाद एक, अंधाधुंध चलते रहते। लेकिन सब बेकार। एक आदमी गिरफ़्तार या निर्वासित

किया नहीं गया कि उसकी जगह फ़ौरन दूसरा आदमी आ जाता, एक सभा भंग की जाती तो दो नयी सभायें बुलायी जातीं, और एक जगह के बाद दूसरी जगह पुलिस की निरंकुश शक्ति धैर्य और सहनशक्ति तथा क़ानून की कड़ी तामील के कारण छीजती चली जाती। इस सारे जुल्मोसितम का चाहा हुआ नहीं, उल्टा ही असर हुआ : मज़दूरों की पार्टी को तोड़ना या उसे झुकाना तक तो दूर, उसने पार्टी में नये लोगों को लाने और संगठन को सुदृढ़ बनाने का ही काम किया। अधिकारियों के साथ और अलग-अलग पूंजीपतियों के साथ अपने संघर्ष में मज़दूरों ने दिखा दिया कि बौद्धिक तथा नैतिक रूप से वे ही श्रेष्ठतर हैं, विशेषतः तथा-कथित "काम देनेवालों" के साथ अपने संघर्षों में उन्होंने साबित कर दिया कि अब वे, यानी मज़दूर, शिक्षित वर्ग हैं, जबकि पूंजीपति कूढ़मग्ज़ लोग हैं। वे अपने संघर्ष को अधिकांशतः हंसते-हंसते चलाते हैं; यह इस बात का सबसे अच्छा सबूत है कि उन्हें अपने ध्येय में कितना विश्वास है और वे अपनी श्रेष्ठता को कितनी अच्छी तरह जानते हैं। ऐतिहासिक रूप से तैयार की हुई ज़मीन पर इस प्रकार चलाया गया संघर्ष अवश्य ही फलदायी होगा। आधुनिक मज़दूर आंदोलन के इतिहास में जनवरी के चुनावों की सफलतायें बेजोड़ हैं[110] और उन्हें देखकर अगर पूरे यूरोप में लोगों को आश्चर्य हुआ तो यह उचित ही है।

जर्मनी के मज़दूरों को बाक़ी यूरोप के मुक़ाबले में दो महत्त्वपूर्ण सुविधायें प्राप्त हैं। एक तो यह कि वे यूरोप की सबसे अधिक सिद्धांतप्रिय जाति के सदस्य हैं, और उनमें वह सिद्धांत-भावना अक्षुण्ण है, जिसे जर्मनी के तथाकथित "शिक्षित" वर्ग लगभग पूरी तरह खो चुके हैं। जर्मन दर्शन के, विशेषतः हेगेल के दर्शन के बिना जर्मन वैज्ञानिक समाजवाद – जिसे छोड़ किसी भी वैज्ञानिक समाजवाद का अस्तित्व कभी भी नहीं रहा है – का आविर्भाव नहीं हो सकता था। मज़दूरों की सिद्धांत-भावना के बिना यह वैज्ञानिक समाजवाद उनकी रक्त-मज्जा का उस प्रकार अंग नहीं बन सकता था जिस प्रकार कि वह बना है। यह सुविधा कितनी बड़ी है यह एक ओर तो इस बात से देखा जा सकता है कि अगर इंगलैंड का मज़दूर आंदोलन, अलग-अलग व्यवसायों में बेहतरीन संगठन के बावजूद, चींटी की ही चाल से आगे बढ़ सका है तो इसका एक मुख्य कारण समस्त सिद्धांत के प्रति उदासीनता है; और दूसरी ओर यह इस बात से भी देखा जा सकता है कि प्रूदोंवाद ने फ़्रांसीसियों तथा बेल्जियम वालों के बीच अपने मूल रूप में और स्पेनियों तथा इतालवियों के बीच बकूनिन द्वारा और भी विकृत रूप में कितना अनर्थ किया है और कितनी उलझन पैदा की है।

दूसरी सुविधा उन्हें यह प्राप्त है कि कालक्रम से देखा जाये तो वे मज़दूर आंदोलन में तक़रीबन सबसे पीछे आये। जिस प्रकार जर्मन सैद्धांतिक समाजवाद यह कभी नहीं भूलेगा कि वह सेंत-साइमन, फ़ुरिये और ओवेन के, उन तीन आदमियों के कंधों के सहारे टिका हुआ है जो अपनी समस्त काल्पनिक धारणाओं के, और अपने समस्त कल्पनावाद के बावजूद सभी युगों के सबसे महान विचारकों में हैं, जिनकी प्रतिभा ने ऐसी अनेकानेक बातों का पूर्वानुमान किया था, जिनकी सत्यता को आज हम वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित कर रहे हैं, उसी प्रकार जर्मनी में आज के व्यावहारिक मज़दूर आन्दोलन को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि वह इंगलैंड तथा फ़्रांस के आन्दोलन का आधार ग्रहण कर विकसित हुआ है, कि वह सीधे उनके अनुभव का, जिसका उन्होंने भारी मोल चुकाया है, इस्तेमाल कर सका और अब वह उनकी ग़लतियों से, जो तब अधिकांशत: अनिवार्य थीं, बच सकता है। इंगलैंड की ट्रेड यूनियनों और फ़्रांस के मज़दूरों के राजनीतिक संघर्षों के पूर्वनिदर्शन के बिना, विशेषत: पेरिस कम्यून की महान प्रेरणा के बिना आज हम कहां होते?

जर्मन मज़दूरों को इस बात के लिए श्रेय देना होगा कि उन्होंने अपनी परिस्थिति की सुविधाओं का असाधारण समझदारी के साथ उपयोग किया है। मज़दूर आंदोलन के जन्म-काल के बाद पहली बार संघर्ष तीनों पहलुओं – सैद्धांतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक-व्यावहारिक (पूंजीपतियों के प्रति प्रतिरोध) पहलुओं – को लेकर व्यवस्थित, सामंजस्यपूर्ण तथा अंत:सम्बद्ध रूप से चलाया जा रहा है। जर्मन आंदोलन की शक्ति तथा अपराजेयता मानो ठीक इसी सर्वतोमुखी आक्रमण में निहित है।

एक ओर अपनी इस सुविधापूर्ण परिस्थिति के और दूसरी ओर अंग्रेज़ आन्दोलन की परिसीमित द्वीपीय विशेषताओं के और फ़्रांसीसी आंदोलन के बलपूर्वक दमन के कारण फ़िलहाल जर्मन मज़दूर सर्वहारा संघर्ष की सबसे अगली पांत में आ गये हैं। पहले से यह नहीं कहा जा सकता कि घटनाक्रम कब तक उन्हें इस सम्मानजनक स्थिति में रहने देगा। लेकिन हम यह आशा करेंगे कि जब तक वे इस स्थिति में हैं, वे उसका योग्यता के साथ निर्वाह करेंगे। इसके लिए संघर्ष तथा आंदोलन के प्रत्येक क्षेत्र में दुगुना प्रयास अपेक्षित है। विशेष रूप से नेताओं का यह कर्त्तव्य होगा कि वे सभी सैद्धांतिक प्रश्नों की निरंतर स्पष्टतर समझ हासिल करें, पुराने विश्व-दृष्टिकोण से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त परंपरागत शब्दजाल के प्रभाव से अपने को अधिकाधिक मुक्त करें और इस बात का बराबर

ध्यान रखें कि चूंकि समाजवाद एक विज्ञान बन गया है इसलिए वह यह अपेक्षा करता है कि उसका विज्ञान के रूप में अनुशीलन किया जाये, अर्थात् यह कि उसका अध्ययन किया जाये। इस प्रकार से प्राप्त अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती हुई समझ को आम मज़दूरों के बीच और अधिक उत्साह और लगन से फैलाना और पार्टी तथा ट्रेड यूनियन, दोनों के ही संगठन को अधिकाधिक दृढ़ रूप से संहत करना – यह होगा हमारा काम। जनवरी में समाजवादियों के लिए वोट देनेवाले लोगों से एक अच्छी ख़ासी फ़ौज बन गयी हो तो क्या हुआ, वे मज़दूर वर्ग का बहुमत होने से अभी भी बहुत दूर हैं; देहाती आबादी के बीच प्रचार की सफलतायें उत्साहवर्द्धक हैं, तो भी इस क्षेत्र में अभी बेहिसाब काम करने को पड़ा है। इसलिए हमें यह बात गिरह में बांध लेनी चाहिए कि हम संघर्ष को धीमा न करें और शत्रु के हाथ से एक नगर के बाद दूसरा नगर, एक चुनाव-क्षेत्र के बाद दूसरा चुनाव-क्षेत्र छीनते चले जायें। परंतु मुख्य बात उस सच्ची अंतर्राष्ट्रीय भावना को सुरक्षित रखना है, जो किसी भी प्रकार के अंधराष्ट्रवाद को उभरने नहीं देती और जो सर्वहारा आंदोलन के हर नये बढ़ाव का, उसे चाहे जिस राष्ट्र ने संपन्न किया हो, निःसंकोच भाव से स्वागत करती है। यदि जर्मन मज़दूर इस प्रकार प्रगति करते हैं तो वे ठीक-ठीक आंदोलन की सबसे अगली पांत में तो मार्च नहीं करेंगे – किसी विशेष देश के मज़दूर सबसे अगली पांत में मार्च करें, यह आंदोलन के हित में क़तई नहीं है – लेकिन वे मोर्चे पर सम्मान का स्थान ग्रहण करेंगे; वे संघर्ष के लिए, जब या तो अप्रत्याशित रूप से गंभीर परीक्षा की घड़ियां या महत्त्वपूर्ण घटनायें उनसे अतिरिक्त साहस, अतिरिक्त संकल्प और शक्ति की मांग करेंगी, सन्नद्ध और कटिबद्ध होंगे।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लंदन, १ जुलाई १८७४

Friedrich Engels. «*Der Deutsche Bauernkrieg*». Leipzig, 1875 पुस्तक में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल का जेनेवा में रूसी शाखा की समिति के सदस्यों के नाम सन्देश[111]

नागरिको,

जनरल कौंसिल ने २२ मार्च की अपनी बैठक में सर्वसम्मति से घोषित किया कि आपका कार्यक्रम तथा नियमावली अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की आम नियमावली के अनुरूप हैं। उसने आपकी शाखा को तत्काल इंटरनेशनल में भर्ती करने का निर्णय किया। मुझे जनरल कौंसिल में आपका प्रतिनिधि होने का सम्मानजनक कर्त्तव्य शिरोधार्य करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

आप अपने कार्यक्रम में कहते हैं—

"...कि पोलैंड को उत्पीड़ित कर रहा ज़ारशाही जूआ दोनों राष्ट्रों की राजनीतिक तथा सामाजिक मुक्ति की राह में समान रूप से अवरोधक बना हुआ है—जितना पोलैंडवासियों के लिए उतना ही रूसियों के लिए।"

आप इतना और जोड़ सकते हैं कि पोलैंड का रूस द्वारा बलात्कार जर्मनी में और फलस्वरूप पूरे महाद्वीप में सैनिक शासन के अस्तित्व का विनाशकारी अवलम्ब तथा वास्तविक कारण है। इसलिए पोलैंड की बेड़ियां काटते समय रूसी समाजवादी सैनिक शासन नष्ट करने का उदात्त कार्यभार ग्रहण कर रहे हैं; यह यूरोपीय सर्वहारा की समग्र मुक्ति के लिए अपरिहार्य पूर्वाधार है।

कुछ माह पूर्व मुझे सेंट पीटर्सबर्ग से फ़्लेरोव्स्की की 'रूस में मज़दूर वर्ग की स्थिति' शीर्षक कृति मिली थी। यह यूरोप की आंखें खोलनेवाली एक वास्तविक रचना है। **रूसी आशावाद** का, जिसे महाद्वीप में तथाकथित क्रान्तिकारी तक प्रसारित करते हैं, इस कृति में बेरहमी के साथ पर्दाफ़ाश किया गया है। यदि मैं यह कहूं कि यह कृति एक या दो स्थानों में विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से

आलोचना-सम्बन्धी अपेक्षाओं की पूरी तरह पूर्ति नहीं करती तो इससे कृति के मूल्य को जरा भी आंच नहीं आती। यह एक संजीदे प्रेक्षक, एक अथक कार्यकर्त्ता, एक पूर्वाग्रहरहित आलोचक, एक महान कलाकार और सर्वोपरि एक ऐसे व्यक्ति की कृति है जो उत्पीड़न के—उसके समस्त रूपों समेत—प्रति तथा समस्त राष्ट्र गानों के प्रति असहिष्णु है, जो उत्पादक वर्ग के समस्त दुख़-कष्टों तथा समस्त आकांक्षाओं में उत्कटता के साथ शामिल है।

फ़्लेरोव्स्की तथा आपके महान शिक्षक चेर्निशेव्स्की की पुस्तकों जैसी कृतियां रूस के लिए वास्तव में गौरवमयी हैं और वे सिद्ध करती हैं कि आपके देश ने हमारे युग के आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया है।

बन्धुत्वपूर्ण अभिवादन
कार्ल मार्क्स

लन्दन, २४ मार्च १८७०।

'नरोद्नोये देलो', अंक १, में प्रकाशित, जेनेवा, १५ अप्रैल १८७०।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

गोपनीय सन्देश[112]

(उद्धरण)

४. इंगलैंड की फ़ेडरल कौंसिल से जनरल कौंसिल को पृथक करने का प्रश्न।

«L' Égalité»[113] की स्थापना से बहुत पहले जनरल कौंसिल के एक या दो अंग्रेज़ सदस्य उसके अन्दर समय-समय पर यह प्रस्ताव किया करते थे। उसे सदैव प्रायः सर्वसम्मति से अस्वीकृत कर दिया जाता था।

यद्यपि क्रान्तिकारी पहल शायद फ़्रांस की ओर से होगी, फिर भी केवल इंगलैंड ही किसी संजीदा क्रांति के लिए **उत्तोलक का काम** करेगा। केवल यही एक ऐसा देश है जहां **किसान** नहीं रह गये हैं और जहां भूमि-सम्पत्ति चन्द हाथों में केन्द्रित है। यही एकमात्र देश है जहां **पूंजीवादी रूप**, अर्थात् पूंजीवादी स्वामियों के मातहत बड़े पैमाने पर संयुक्त श्रम लगभग पूरे उत्पादन को अपनी परिधि ले आता है। यही एकमात्र देश है जहां **आबादी की बहुत बड़ी संख्या उजरती मज़दूरों की है।** यही एकमात्र देश है जहां वर्ग-संघर्ष तथा ट्रेड **यूनियनों** में मज़दूर वर्ग के संगठन ने कुछ हद तक परिपक्वता तथा सर्वव्यापकता प्राप्त कर ली है। यही एकमात्र देश है जहां विश्व मंडी पर उसके प्रभुत्व के कारण आर्थिक मामलों में हर क्रान्ति तुरन्त पूरे संसार पर प्रभाव डालेगी। यदि ज़मींदारी तथा पूंजीवाद इंगलैंड में क्लासिकीय उदाहरण हैं तो दूसरी ओर **उनके विनाश की भौतिक अवस्थाएं** यहां सबसे ज़्यादा परिपक्व हैं। ऐसे समय, जब जनरल कौंसिल **सर्वहारा क्रान्ति के इस बड़े उत्तोलक पर सीधे अपना हाथ रखने** की सुखद स्थिति में है, इस उत्तोलक को मात्र अंग्रेज़ों के हाथों में पहुंचने देना कितनी बड़ी मूर्खता होगी, हम तो कहेंगे, कितना बड़ा अपराध होगा!

अंग्रेजों के पास सामाजिक क्रान्ति के लिए आवश्यक सारी **सामग्री** मौजूद है। उनमें जिस चीज़ की कमी है, वह है **सामान्यीकरण की भावना** तथा **क्रान्तिकारी उत्साह**। केवल जनरल कौंसिल ही उन्हें यह चीज़ दे सकती है, इस तरह वह यहां और फलस्वरूप **सर्वत्र** सही मानों में क्रान्तिकारी आन्दोलन को त्वरित कर सकती है। हमें जो बहुत बड़ी सफलता मिली है, उसकी **हाउस आफ़ कामन्स** तथा **हाउस आफ़ लार्डस** में तथाकथित मूलपरिवर्तनवादियों की तो बात ही क्या, जिनका कुछ समय पहले तक अंग्रेज मजदूरों के **नेताओं पर** बहुत ज्यादा प्रभाव था, सत्ताधारी वर्गों के *«Pall Mall Gazette»*, *«Saturday Review»*, *«Spectator»* तथा *«Fortnightly Review»*[114] जैसे सबसे चतुर तथा प्रभावशाली मुखपत्र तक पुष्टि कर चुके हैं। वे हम पर खुलेआम आरोप लगाते हैं कि हमने मज़दूर वर्ग की **अंग्रेज आत्मा** में ज़हर भर दिया है, उसे लगभग ख़त्म कर डाला है तथा उसे क्रान्तिकारी समाजवाद की ओर धकेला है।

यह परिवर्तन लाने का एकमात्र रास्ता यह है कि **अन्तर्राष्ट्रीय संघ की जनरल कौंसिल** की तरह आन्दोलन किया जाये। जनरल कौंसिल के रूप में हम ऐसी कार्रवाइयों (उदाहरण के लिए, **भूमि तथा श्रम लीग**[115] की स्थापना) की पहल कर सकते हैं जो कार्यान्वित होने के फलस्वरूप आगे चलकर जनता के समक्ष अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग के स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों के रूप में प्रकट होंगी।

यदि **जनरल कौंसिल** के बाहर कोई **प्रादेशिक कौंसिल** बनायी जाती है तो उसके तात्कालिक **परिणाम** क्या होंगे?

जनरल कौंसिल और **जनरल ट्रेड यूनियन कौंसिल** के बीच होने के कारण **प्रादेशिक कौंसिल** के पास कोई सत्ता नहीं होगी। दूसरी ओर **इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल** इस बड़े **उत्तोलक को खो बैठेगी**। यदि हम पर्दे के पीछे संजीदी कार्रवाई की जगह मसख़रों की तरह चखचख को तरजीह देंगे तो हम शायद सार्वजनिक रूप से *«L'Égalité»* के प्रश्न का उत्तर देने की ग़लती करेंगे—जनरल कौंसिल "काम के ऐसे बोझिल संयोजन" की इजाज़त क्यों देती है।

इंगलैंड को यों ही दूसरे देशों की क़तार में नहीं रखा जा सकता। उसे तो **पूंजी की महानगरी** माना जाना चाहिए।

५. आयरिश क्षमादान के विषय में जनरल कौंसिल के प्रस्ताव का प्रश्न।

यदि इंगलैंड ज़मींदारी तथा यूरोपीय पूंजीवाद का दुर्ग है तो वह एकमात्र स्थान, जहां आधिकारिक इंगलैंड पर सचमुच ज़ोरों से चोट की जा सकती है, **आयरलैंड** है।

पहली चीज़, आयरलैंड आंग्ल ज़मींदारी का दुर्ग है। यदि वह आयरलैंड में ढह जाता है तो वह इंगलैंड में भी ढह जायेगा। आयरलैंड में यह काम सौगुना आसान है क्योंकि **वहां आर्थिक संघर्ष विशिष्ट रूप से भू-सम्पत्ति के क्षेत्र में संकेन्द्रित है**, क्योंकि यह संघर्ष साथ ही **राष्ट्रीय** भी है, क्योंकि वहां जनता इंगलैंड से अधिक क्रान्तिकारी तथा अधिक संक्षुब्ध है। आयरलैंड में ज़मींदारी मात्र **अंग्रेज़ फ़ौज** द्वारा क़ायम रखी जा रही है। दो देशों के **जबरन स्थापित संघ**[116] का ज्योंही अन्त हो जाता है, आयरलैंड में तुरन्त एक सामाजिक क्रान्ति शुरू हो जायेगी हालांकि वह पुराने रूपों की होगी। अंग्रेज़ ज़मींदार दौलत का एक बहुत बड़ा स्रोत ही नहीं बल्कि अपनी **सबसे बड़ी नैतिक शक्ति को, अर्थात् आयरलैंड पर इंगलैंड के प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति को भी खो** बैठेंगे। दूसरी ओर आयरलैंड में अपने ज़मींदारों की शक्ति को बरक़रार रखकर अंग्रेज़ सर्वहारा उन्हें स्वयं इंगलैंड में अभेद्य बना देते हैं।

दूसरी चीज़, **अंग्रेज़ पूंजीपतियों** ने ग़रीब आयरिशों के **जबरन आप्रवासन** की मदद से इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की स्थिति ख़राब रखने के लिए आयरिश लोगों की ग़रीबी का लाभ ही नहीं उठाया है अपितु सर्वहाराओं को परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो शिविरों में भी बांट दिया है। केल्टिक मज़दूर के क्रान्तिकारी उफान का आंग्ल-सैक्सन मज़दूर के ठोस परन्तु धीमे स्वभाव से तालमेल नहीं बैठता। इसके विपरीत **इंगलैंड में तमाम बड़े औद्योगिक केन्द्रों** में आयरिश सर्वहारा तथा अंग्रेज़ सर्वहारा के बीच गहरा वैरभाव है। औसत अंग्रेज़ मज़दूर आयरिश मज़दूर को ऐसा प्रतियोगी मानकर उससे नफ़रत करता है जो उसकी मज़दूरी को घटाता तथा **जीवन-स्तर** को नीचे लाता है। वह उसके प्रति राष्ट्रीय तथा धार्मिक विद्वेष अनुभव करता है। वह उन्हें लगभग उसी दृष्टि से देखता है जिस दृष्टि से उत्तरी अमरीका के दक्षिणी राज्यों के **ग़रीब गौरांग** अपने काले दासों को देखते हैं। इंगलैंड के सर्वहाराओं के बीच इस विरोध-भाव को पूंजीपति वर्ग कृत्रिम रूप से पोषित करता है और उसे अवलम्ब प्रदान करता है। उसे पता है कि सर्वहाराओं की यह फूट उसके **लिए अपनी सत्ता क़ायम रखने का असल रहस्य है।**

यह विरोध-भाव अटलांटिक के पार पुनरुत्पादित होता है। अपनी जन्मभूमि से सांडों तथा भेड़ों द्वारा भगाये गये आयरिश लोग उत्तर अमरीका में फिर से जमा होते हैं जहां वे आबादी का एक विराट, निरंतर बढ़ता हुआ भाग बन जाते हैं। उनके दिमाग़ में एकमात्र भाव, एकमात्र संवेग है इंगलैंड के प्रति घृणा। अंग्रेज़ तथा अमरीकी सरकारें (अथवा वे वर्ग जिनका वे प्रतिनिधित्व करती हैं)

इन भावनाओं का पोषण करती हैं ताकि संयुक्त राज्य अमरीका तथा इंगलैंड के बीच **प्रच्छन्न संघर्ष** बरक़रार रखा जा सके। वे इस तरह अटलांटिक महासागर की दोनों ओर मज़दूरों के बीच सच्ची तथा स्थायी शान्ति क़ायम नहीं होने देतीं और इस तरह उनकी मुक्ति का रास्ता रोकती हैं।

इसके अलावा इंगलैंड के लिए एक **बहुत बड़ी स्थायी सेना** रखने के लिए एकमात्र बहाना आयरलैंड है, जैसा कि पहले हो चुका है, उसे ज़रूरत पड़ने पर आयरलैंड में फ़ौजी प्रशिक्षण पूर्ण हो चुकने के बाद अंग्रेज़ मज़दूरों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जा सकता है।

आख़िरी चीज़, इंगलैंड इस समय उस चीज़ की पुनरावृत्ति होते देख रहा है जो प्राचीन रोम में एक भयावह पैमाने पर हुई थी। दूसरे राष्ट्र को उत्पीड़ित करनेवाला कोई भी राष्ट्र स्वयं अपने लिए बेड़ियां तैयार करता है।

इस तरह आयरिश प्रश्न के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय संघ का रुख़ बहुत साफ़ है। उसकी पहली आवश्यकता है इंगलैंड में सामाजिक क्रान्ति को प्रोत्साहित करना। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए आयरलैंड में ज़ोरदार प्रहार किया जाना ज़रूरी है।

आयरिश क्षमादान के सम्बन्ध में जनरल कौंसिल के प्रस्ताव उन अन्य प्रस्तावों के लिए केवल एक भूमिका का काम देते हैं जिनमें यह कहा जायेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की तो बात ही क्या, **अंग्रेज मजदूर वर्ग की मुक्ति के लिए भी यह एक पूर्वावश्यक शर्त है** कि मौजूदा **जबरन स्थापित संघ** (अर्थात् आयरलैंड की दासता) को यदि सम्भव हुआ **समान तथा स्वतंत्र संघ** में बदल दिया जाये और यदि आवश्यक हुआ तो उन्हें **पूर्णतः पृथक कर दिया जाये।**

मार्क्स द्वारा लगभग २८ मार्च १८७० को लिखित। अंग्रेज़ी से अनूदित।

सबसे पहले «*Die Neue Zeit*» में प्रकाशित। जिल्द २, अंक १५, १६०२।

कार्ल मार्क्स

फ़्रांस में गृहयुद्ध[117]

फ़ेडरिक एंगेल्स द्वारा १८९१ में लिखित भूमिका[118]

मुझे इस बात का एहसास न था कि 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' नामक इन्टरनेशनल की जनरल कौंसिल की चिट्ठी का नया संस्करण तैयार करने तथा उसके लिये भूमिका लिखने का काम मुझे सौंपा जायेगा। अतः मैं यहां केवल सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर संक्षेप में प्रकाश डालूंगा।

ऊपर कही हुई विस्तृत कृति के प्राक्कथन के रूप में मैं फ़्रांस-प्रशा युद्ध-सम्बन्धी जनरल कौंसिल की दो लघुतर चिट्ठियों को दे रहा हूं।* पहले तो इसका कारण यह है कि इन दो में से दूसरी चिट्ठी का, जो ख़ुद बिना पहली के पूरी तरह नहीं समझी जा सकती, 'गृहयुद्ध' में ज़िक्र आया है। दूसरा कारण यह भी है कि मार्क्स द्वारा लिखित ये दोनों चिट्ठियां महान ऐतिहासिक घटनाओं के स्वरूप, अर्थ तथा आवश्यक परिणामों को ऐसे समय, जब ये घटनाएं हमारी आंखों के सामने ही घट रही हों या हाल में घट चुकी हों, समझने के लिए उस अपूर्व प्रतिभा के कोई कम महत्वपूर्ण उदाहरण नहीं हैं, जो पहले 'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर'** में सिद्ध हो चुकी है। और आख़िरी कारण यह है कि जर्मनी में हमें अभी भी उन परिणामों को भुगतना पड़ रहा है, जिनकी मार्क्स ने इन घटनाओं के फलस्वरूप घटित होने की पूर्वकल्पना की थी।

पहली चिट्ठी में जो बात कही गयी थी क्या वह घटित नहीं हुई – यह कि यदि लूई बोनापार्त के विरुद्ध जर्मनी का प्रतिरक्षात्मक युद्ध फ़्रांस की जनता के ख़िलाफ़ आधिपत्यकारी युद्ध में परिणत कर दिया जायेगा तो तथाकथित मुक्ति-युद्ध[119] के बाद जर्मनी पर जो विपदायें आई थीं वे फिर से तथा और भी भयानक

---

* प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २५०–२५५, २५६–२६४। – सं०

** प्रस्तुत संकलन, खंड १, भाग २। – सं०

रूप में लौटेंगी? क्या हमें बिस्मार्क के शासन के पूरे २० वर्ष नहीं झेलने पड़े, क्या असाधारण क़ानून[120] और समाजवादियों को सताने की कार्रवाइयों ने नारेबाज़ों[121] पर मुक़दमों का स्थान नहीं ले लिया था, जिनमें पुलिस द्वारा वैसी ही मनमानी धांधली की गयी, क़ानून की वैसी ही हरतमन्द व्याख्याएं की गयीं?

और क्या यह भविष्यवाणी अक्षरश: सत्य सिद्ध नहीं हुई है कि अल्सास-लोरेन के समामेलन के कारण "फ़्रांस रूस की शरण लेने के लिये बाध्य होगा"; और यह कि इस समामेलन के बाद जर्मनी को या तो रूस का खुले रूप में दास बन जाना पड़ेगा या एक संक्षिप्त अवकाश के बाद उसे एक नये युद्ध के लिये, और वह भी "संयुक्त स्लाव और रोमन जातियों के विरुद्ध जाति-युद्ध' के लिए हथियारबन्द होना पड़ेगा*? क्या फ़्रांसीसी प्रान्तों के समामेलन के फलस्वरूप फ़्रांस रूस की गोद में नहीं पहुंच गया? क्या बिस्मार्क ने पूरे बीस वर्षों तक ज़ार का अनुग्रह प्राप्त करने का विफल प्रयास नहीं किया और इस प्रयास में ज़ार की ऐसी नीचतापूर्ण ख़िदमतें नहीं कीं जैसी "यूरोप की प्रथम शक्ति" बनने के पूर्व छोटे-से प्रशा तक ने "पावन रूस" के चरणों में अर्पित नहीं की थीं? और क्या हमारे सिर पर अब भी हर वक़्त युद्ध के ख़तरे की डेमोक्लिज़ की तलवार नहीं लटक रही है – ऐसे युद्ध की जिसके छिड़ने के पहले ही दिन शाहों के सारे अधिकृत समझौते पयाल की तरह हवा में उड़ जायेंगे; वह ऐसा युद्ध होगा जिसके परिणाम की चरम अनिश्चितता के अतिरिक्त उसके बारे में कुछ भी निश्चित नहीं है; वह ऐसा जाति-युद्ध होगा जो पूरे यूरोप को डेढ़ या दो करोड़ हथियारबन्द सैनिकों के हाथों से तबाह करायेगा; और यदि अभी तक वह नहीं छिड़ा तो केवल इसलिए कि बड़े सामरिक राज्यों में से सबसे शक्तिशाली राज्य तक उसके अन्तिम परिणाम की चरम अनिश्चितता के कारण झिझक रहा है।

इसलिये हमारा और भी फ़र्ज़ हो जाता है कि हम १८७० में अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की नीति की दूरदर्शिता के इन उज्ज्वल प्रमाणों को, जो आज अर्द्ध-विस्मृत हो चुके हैं, जर्मन मज़दूरों को फिर से उपलब्ध करायें।

इन दो चिट्ठियों के बारे में जो बात सत्य है, वही 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' के बारे में भी सत्य है। कम्यून के अन्तिम वीर प्रबलतर शत्रु के आगे २८ मई को बेलवील की ढलानों पर परास्त हुए थे; और केवल दो ही दिन बाद, ३० मई को, मार्क्स ने जनरल कौंसिल के समक्ष अपनी वह कृति पढ़कर सुनाई, जिसमें

---

* प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २६१। – सं०

पेरिस कम्यून के ऐतिहासिक महत्व का संक्षिप्त, प्रभावपूर्ण, पर साथ ही ऐसे तीखे शब्दों में और विशेषतः ऐसी सत्यता के साथ वर्णन किया गया है, जिनके स्तर पर बाद में इस विषय पर लिखे गये साहित्य का पूरा अम्बार कभी नहीं पहुंच सका।

१७८९ के बाद फ़ांस के आर्थिक और राजनीतिक विकास के कारण पेरिस पिछले ५० वर्षों से ऐसी स्थिति में आ गया है कि वहां होनेवाली कोई भी क्रान्ति बिना सर्वहारा स्वरूप धारण किये नहीं हो सकती, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि अपना ख़ून बहाकर विजय प्राप्त करनेवाला सर्वहारा वर्ग विजय के बाद अपनी मांगें न पेश करे। ये मांगें उस विशेष समय में पेरिस के मज़दूरों के विकास की अवस्था के अनुरूप प्रायः न्यूनाधिक अस्पष्ट थीं, यहां तक कि वे काफ़ी उलझी हुई भी थीं। किन्तु अन्ततः उन सभी का मतलब पूंजीपतियों और मज़दूरों का वर्ग-विग्रह मिटाना था। यह सही है कि उस समय कोई नहीं जानता था कि यह किस प्रकार होगा। लेकिन यह मांग ही, चाहे उसे उस समय कितने भी अनिश्चित रूप में क्यों न व्यक्त किया गया हो विद्यमान समाज-व्यवस्था के लिये ख़तरे से ख़ाली न थी; इस मांग को पेश करनेवाले मज़दूर अभी तक हथियारबन्द थे, अतः राज्य के संचालकों, पूंजीपतियों, का यह प्रथम मूलमंत्र था कि मज़दूरों को निहत्था कर दिया जाये। इसीलिये मज़दूरों द्वारा जीती हुई प्रत्येक क्रान्ति के बाद एक नया संघर्ष छिड़ जाता था, जिसका अन्त मज़दूरों की पराजय में होता था।

पहले पहल यह १८४८ में हुआ। संसदीय विरोध-पक्ष के उदारपंथी पूंजीपतियों ने मताधिकार में सुधार कराने के लिए, जिससे उनकी पार्टी का प्राधान्य सुनिश्चित होनेवाला था, कई भोज आयोजित किये। सरकार के प्रति अपने संघर्ष में वे जनता का अधिकाधिक आह्वान करने को बाध्य हुए, जिसके फलस्वरूप उन्हें पूंजीपतियों और निम्नपूंजीपतियों के उग्रपंथी और जनतन्त्रवादी स्तर को धीरे-धीरे आगे आने देना पड़ा। किन्तु इन सबके पीछे क्रान्तिकारी मज़दूर खड़े थे; और १८३० के बाद से[122] इन मज़दूरों ने इतनी अधिक राजनीतिक ख़ुदमुख़्तारी हासिल कर ली थी, जो पूंजीपतियों और जनतन्त्रवादियों तक के क़यास के बाहर थी। सरकार और विरोध-पक्ष के बीच संकट के क्षण में मज़दूरों ने नगर-युद्ध आरम्भ कर दिया; लूईफ़िलिप ग़ायब हो गया और उसके साथ ही मताधिकार का सुधार भी हवा हो गया; उसकी जगह जनतन्त्र का उदय हुआ, और सचमुच ऐसा जनतन्त्र, जिसको स्वयं विजयी मज़दूरों ने "सामाजिक" जनतन्त्र की संज्ञा दी। पर किसी के दिमाग़ में, ख़ुद मज़दूरों तक के दिमाग़ में, यह स्पष्ट न था

कि इस सामाजिक जनतन्त्र का अर्थ क्या होना है। किन्तु मज़दूरों के हाथ में अब हथियार थे, और वे राज्य में एक शक्ति बन गये थे। इसलिए पूंजीवादी जनतन्त्रवादियों को, जिनके हाथ में अब शासन की बागडोर थी, ज्यों ही अपनी स्थिति कुछ सुदृढ़ ज्ञात हुई, त्यों ही उन्होंने अपना प्रथम लक्ष्य मज़दूरों को निहत्था करना बनाया। और साफ़-साफ़ वादाखिलाफ़ी करके, खुली चुनौती देकर और बेरोज़गार मज़दूरों को किसी दूर प्रान्त में निर्वासित करने के प्रयास द्वारा जून १८४८ की बग़ावत के लिये मज़दूरों को बाध्य करके यह काम किया गया। सरकार ने पहले ही ज़बरदस्त और उच्च कोटि की सैन्य-शक्ति का प्रबन्ध कर रखा था। पांच दिनों तक वीरतापूर्ण संग्राम करने के बाद मज़दूर परास्त हुए। और तब अरक्षित बन्दियों की ऐसी भीषण ख़ूंरेज़ी की गयी, जैसी रोमन जनतन्त्र के उन गृहयुद्धों के बाद नहीं देखी गयी जिनके कारण रोमन जनतन्त्र पतनोन्मुख हुआ[123]। यह पहला मौक़ा था जब पूंजीपति वर्ग ने यह दिखाया कि जिस क्षण सर्वहारा अपने अलग हितों और अपनी अलग मांगों के साथ एक अलग वर्ग के रूप में खड़े होने का दुस्साहस करेंगे, उस समय प्रतिरोध में पूंजीपति किस प्रकार पागलपन और क्रूरता का नंगा नाच दिखाने के लिए उत्तेजित किये जा सकते हैं। लेकिन १८७१ में पूंजीपतियों ने जैसी दीवानगी दिखायी उसके आगे १८४८ बच्चों का खेल था।

इसकी उन्हें फ़ौरन सज़ा भी मिल गयी। सर्वहारा वर्ग में यदि अभी फ़्रांस का शासन संभालने की क्षमता न थी, तो पूंजीपति वर्ग भी अब इस क़ाबिल न रह गया था। कम से कम उस काल में नहीं, जब उसके बहुसंख्यक भाग का झुकाव राजतंत्र की ओर था और वह तीन राजतन्त्रवादी पार्टियों[124] और चौथी जनतन्त्रवादी पार्टी में विभक्त था। उसके आन्तरिक झगड़ों ने दुस्साहसी लूई बोना-पार्त को सभी आधिकारिक स्थलों—सेना, पुलिस और प्रशासन-व्यवस्था—पर क़ब्ज़ा कर लेने तथा, २ दिसम्बर १८५१ को[125] पूंजीपतियों के अंतिम गढ़, राष्ट्रीय सभा, को छिन्न-भिन्न कर देने का अवसर प्रदान किया। द्वितीय साम्राज्य का आरम्भ हुआ, अर्थात् राजनीतिक और वित्तीय दुस्साहसियों के एक गिरोह द्वारा फ़्रांस का शोषण आरम्भ हुआ, लेकिन उसके साथ-साथ एक ऐसा औद्योगिक विकास भी आरम्भ हुआ, जो लूई-फ़िलिप की संकीर्ण-बुद्धि एवं भीरु व्यवस्था के अन्तर्गत, जिसमें बड़े पूंजीपतियों की एक छोटी-सी जमात का अनन्य आधिपत्य था, कभी सम्भव न था। लूई बोनापार्त ने पूंजीपतियों को मज़दूरों से और मज़दूरों को पूंजीपतियों से बचाने के नाम पर पूंजीपतियों के हाथ से राजनीतिक सत्ता छीन

ली; पर उसके शासन ने, इसके बदले में, सट्टेबाजी और औद्योगिक क्रियाशीलता को—संक्षेप में सम्पूर्ण पूंजीपति वर्ग के उत्थान और सम्पन्नता को—अभूतपूर्ण प्रोत्साहन दिया, गोकि यह सच है कि इससे भी बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार और चोरी का बाज़ार गरम हुआ, जिसका केन्द्र शाही दरबार था, जो उक्त समृद्धि से भारी लाभांश प्राप्त करता था।

पर द्वितीय साम्राज्य फ्रांसीसी अन्धराष्ट्रीयता का आह्वान था; वह प्रथम साम्राज्य की १८१४ में खोयी सीमाओं को, कम से कम प्रथम जनतन्त्र[126] की सीमाओं की पुन:स्थापना की मांग का द्योतक था। पुराने राजतंत्र की सीमाओं में, या वास्तव में १८१५ की उससे भी अधिक अंगच्छेद की हुई सीमाओं के अन्दर फ्रांस का साम्राज्य अपने को सीमित रखे—यह अधिक समय तक चलनेवाली चीज़ न थी। अत: समय-समय पर लड़ाइयां छेड़ना और अपनी सीमा बढ़ाना उसके लिये अनिवार्य हो गया। पर फ्रांस के अन्धराष्ट्रवादियों की कल्पना में अपनी सीमा राइन नदी के जर्मन, अर्थात् बायें तट तक बढ़ा लेना जितना मोहक लगता था, उतना और किसी ओर नहीं। राइन की एक वर्ग मील भूमि उनके लिए आल्प्स पर्वत या किसी अन्य स्थान की दस वर्ग मील भूमि से कहीं अधिक आकर्षक थी। द्वितीय साम्राज्य के रहते हुए राइन के बायें तट की—एकसाथ अथवा थोड़ा थोड़ा करके—पुन:स्थापना की मांग का उठना अब केवल समय की बात रह गयी थी। यह अवसर १८६६ के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के साथ आ उपस्थित हुआ। प्रत्याशित "प्रदेशीय क्षतिपूर्ति" के मामले में बिस्मार्क द्वारा ठगा जाकर और स्वयं अपनी, आवश्यकता से अधिक धूर्तता और दुविधा से भरी नीति के कारण निराश होकर, नेपोलियन के पास अब लड़ाई के सिवा दूसरा चारा न रह गया, जो १८७० में छिड़ी और जो नेपोलियन को पहले सेदान और फिर विल्हेल्म्सहोये ले गयी।

४ सितम्बर १८७० की पेरिस क्रान्ति इसका अनिवार्य फल थी। साम्राज्य ताश के पत्तों के महल की तरह ढह गया, और जनतन्त्र की फिर घोषणा की गयी। पर शत्रु द्वार पर खड़ा था; साम्राज्य की सेनाएं या तो मेत्ज़ में बुरी तरह घिरी हुई थीं, या जर्मनी में बंदी थीं। ऐसे संकटकाल में जनता ने भूतपूर्व विधान सभा के पेरिस प्रतिनिधियों को "राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार" बनाने दिया। ऐसा और भी अधिक नि:संकोच इसलिये करने दिया गया कि सभी हथियार उठाने योग्य पेरिसवासी प्रतिरक्षा के लिए राष्ट्रीय गार्ड में भर्ती थे और उनके हाथों में हथियार थे, अत: अब मज़दूरों का उसमें प्रबल बहुमत था। किन्तु सरकार, जो

क़रीब-क़रीब पूरी तरह पूंजीपतियों की थी, और सशस्त्र सर्वहारा के बीच विरोध ने शीघ्र ही खुले संघर्ष का रूप ले लिया। ३१ अक्तूबर को मज़दूरों की बटालियनों ने टाउनहाल पर चढ़ाई की और सरकार के कई सदस्यों को बंदी बना लिया। किन्तु विश्वासघात और सरकार द्वारा खुले वचन-भंग तथा कुछ निम्न-पूंजीवादी बटालियनों के हस्तक्षेप के कारण ये लोग छूट गये; और विदेशी सैन्य-शक्ति के घेरे में पड़े हुए नगर में गृहयुद्ध न छिड़ने देने के उद्देश्य से पुरानी सरकार को टिके रहने दिया गया।

२८ जनवरी १८७१ को भूखों मरते पेरिस ने आख़िरकार हथियार डाल दिये। किन्तु यह उसने ऐसी शान के साथ किया, जिसकी युद्ध के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं है। क़िले शत्रु के हवाले किये गये, शहर की दीवारों से तोपें उतार ली गयीं, नियमित सेना की रेजीमेंटों और गश्ती रक्षक दल के हथियार शत्रु को सौंप दिये गये और वे स्वयं युद्ध-बन्दी मान लिये गये। पर राष्ट्रीय गार्ड ने अपने हथियार और अपनी तोपें अपने ही पास रखीं और विजेताओं के साथ केवल युद्धविराम-सन्धि की। विजेताओं का विजयोल्लास के साथ पेरिस में प्रवेश करने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने इतनी ही हिम्मत की कि पेरिस के केवल एक छोटे-से कोने पर दख़ल कर लिया जिसके कुछ हिस्से में सार्वजनिक पार्क थे; और इसे भी उन्होंने केवल कुछ ही दिनों तक अपने अधिकार में रखा! और इस अवधि में भी ये लोग, जिन्होंने १३१ दिनों तक पेरिस को घेरे में रखा था, स्वयं पेरिस के सशस्त्र मज़दूरों के घेरे में आ गये। मज़दूरों ने इस बात की कड़ी निगरानी रखी कि एक भी "प्रशियाई" विजेताओं के हवाले किये गये उस छोटे-से कोने की सीमा के बाहर पैर न रखे। ऐसा था पेरिस के मज़दूरों का रोब, जो उन्होंने उस सेना पर जमा रखा था जिसके सामने सारे साम्राज्य की फ़ौजें हथियार डाल चुकी थीं। प्रशा के युंकर, जो क्रान्ति की जन्म-भूमि में बदला चुकाने के इरादे से आये थे, अदब के साथ अलग खड़े रहने और उसी सशस्त्र क्रान्ति को सलामी देने के लिये बाध्य हुए!

जब तक युद्ध चल रहा था पेरिस के मज़दूरों की मांग केवल यही थी कि संघर्ष पूरे ज़ोर के साथ चलाया जाये। पर पेरिस के आत्मसमर्पण के बाद जब शान्ति स्थापित हो गयी[127], तो सरकार का नया प्रधानाध्यक्ष थियेर यह महसूस करने को मजबूर हुआ कि सम्पत्तिवान् वर्गों – बड़े भूस्वामियों और पूंजीपतियों – का शासन उस समय तक बराबर ख़तरे में रहेगा, जब तक मज़दूरों के हाथ में हथियार मौजूद हैं। अतः थियेर का पहला काम मज़दूरों को निरस्त्र करने का

प्रयत्न था। १८ मार्च को थियेर ने राष्ट्रीय गार्ड से उसका तोपख़ाना (जिसे पेरिस की नाक़ाबन्दी के समय बैठाया गया था और जिसका मूल्य जनता के चन्दे से चुकाया गया था) छीन लेने के लिये नियमित सेना की टुकड़ियां भेजीं। यह प्रयास विफल हुआ; पेरिस एक होकर मुक़ाबले के लिए उठ खड़ा हुआ और पेरिस तथा वेर्साई-स्थित फ़्रांसीसी सरकार के बीच युद्ध की घोषणा हो गयी। २६ मार्च को पेरिस कम्यून निर्वाचित हुई और २८ मार्च को उसकी स्थापना की घोषणा की गयी। राष्ट्रीय गार्ड की केन्द्रीय समिति ने, जो अभी तक सरकार चला रही थी, पेरिस की बदनाम "नैतिकता पुलिस" को भंग कर देने का आदेश जारी करने के बाद कम्यून के हाथ में अपना इस्तीफ़ा रख दिया। कम्यून ने ३० मार्च को अनिवार्य भर्ती और स्थायी सेना का ख़ात्मा कर दिया और राष्ट्रीय गार्ड को एकमात्र सैन्य-दल घोषित किया, जिसमें हथियार उठाने योग्य सभी नागरिकों को भर्ती करने का विधान किया गया। उसने अक्तूबर १८७० से अप्रैल १८७१ तक का सब मकानों का किराया माफ़ कर दिया और इस समय का जो किराया अदा किया जा चुका था उसे आगे के लिये पेशगी मान लिया गया और नगरपालिका के क़र्ज़-दफ़्तर में गिरवी पड़े सामानों की बिक्री रोक दी गयी। उसी दिन कम्यून में निर्वाचित विदेशियों के पदों की पुष्टि की गयी, इसलिये कि "कम्यून का झण्डा विश्व-जनतन्त्र का झण्डा है"। पहली अप्रैल को यह निर्णय किया गया कि कम्यून के किसी कर्मचारी की, और इसलिये कम्यून के सदस्यों की भी, तनख़्वाह ६,००० फ़्रैंक (४,८०० मार्क) से अधिक नहीं होगी। अगले दिन कम्यून ने चर्च को राज्य से अलग करने का आदेश जारी किया, धार्मिक प्रयोजनों के लिए सभी राज्यीय भुगतानों की मनाही की गयी और चर्च की सारी सम्पत्ति राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दी गयी, जिसके फलस्वरूप ८ अप्रैल को स्कूलों से हर प्रकार के धार्मिक चिह्न, धार्मिक चित्र तथा धार्मिक उपदेश और प्रार्थना, आदि—संक्षेप में "उन सभी चीज़ों को" हटा देने का हुक्म जारी हुआ और धीरे-धीरे लागू किया गया, "जो व्यक्ति के अन्तःकरण का क्षेत्र हैं"। ५ तारीख़ को वेर्साई के फ़ौजियों द्वारा कम्यून के बन्दी सैनिकों को रोज़-ब-रोज़ गोली से उड़ाये जाने के जवाब में ओलों को क़ैद करने का फ़र्मान जारी किया गया, पर यह कभी क्रियान्वित नहीं हुआ। ६ तारीख़ को राष्ट्रीय गार्ड की १३७ वीं बटालियन ने गिलोटीन* को बाहर निकालकर उसे सार्वजनिक हर्षोल्लास के साथ

* गिलोटीन—मौत की सजा देने के लिए सिर काटने का यन्त्र।—सं०

धूमधाम से जला दिया। १२ तारीख़ को कम्यून ने तय किया कि प्लास-वान्दोम के विजय-स्तम्भ को, जो १८०९ के युद्ध के बाद नेपोलियन द्वारा लड़ाई में जीती हुई तोपों को गलाकर बनाया गया था, गिरा दिया जाये, क्योंकि वह अन्धराष्ट्रीयता और अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणाभाव उकसाने का प्रतीक था। १६ मई को यह कार्य पूरा किया गया। १६ अप्रैल को कम्यून ने कारख़ानेदारों द्वारा बन्द कर दिये गये कारख़ानों के सांख्यिकीय सारणीकरण के लिये और उन्हीं मज़दूरों द्वारा, जो उनमें पहले काम करते थे, उन्हें पुनः चालू करने की योजना तैयार करने के लिए उन्हें सहकारी-संघों में संगठित करने और इन सहकारी संघों को एक बहुत बड़ी यूनियन में ऐक्यबद्ध करने की योजना तैयार करने के लिए आदेश जारी किया। २० अप्रैल को उसने नानबाइयों के लिए रात के काम की मनाही कर दी और मज़दूर-भर्ती दफ़्तरों को भी ख़त्म कर दिया, जो द्वितीय साम्राज्य के समय से पुलिस द्वारा नियुक्त गुर्गों—श्रम के प्रथम श्रेणी के शोषकों—की इजारेदारी के रूप में संचालित किये जा रहे थे, और ये दफ़्तर पेरिस के २० विभागों की नगरपालिका-व्यवस्था में शामिल कर दिये गये। ३० अप्रैल को कम्यून ने गिरवी की दुकानों को बन्द कर देने का आदेश निकाला, इसलिये कि इनके द्वारा वैयक्तिक लाभ के लिये मज़दूरों का शोषण किया जाता था और ऐसी दुकानें अपने श्रम के औज़ारों पर मज़दूरों के अधिकार और ऋण पाने के उनके अधिकार के प्रतिकूल थीं। ५ मई को कम्यून ने प्रायश्चित-गिरजा को गिरा देने का आदेश दिया, जो लूई सोलहवें का सिर काटने के लिये प्रायश्चित करने के स्मारक के रूप में बनवाया गया था।

इस प्रकार १८ मार्च के बाद से पेरिस के आन्दोलन का वर्ग-चरित्र, जो पहले विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध के कारण पृष्ठभूमि में दबा हुआ था, खुलकर और उग्र रूप से सामने आ गया। कम्यून में चूंकि प्रायः केवल मज़दूर या मज़दूरों के जाने-माने प्रतिनिधि बैठते थे, इसलिये उसके निर्णयों का निश्चित रूप से सर्वहारा स्वरूप था। इन निर्णयों द्वारा या तो ऐसे सुधारों की उद्घोषणा की गयी, जिन्हें जनतन्त्रवादी पूंजीपतियों ने महज़ बुज़दिली के कारण पास नहीं किया था, लेकिन जो मज़दूर वर्ग की उन्मुक्त क्रियाशीलता के लिये आवश्यक आधार प्रस्तुत करते थे—जैसे कि इस सिद्धान्त का क्रियान्वयन कि जहां तक **राज्य का सम्बन्ध है**, धर्म वस्तुतः एक व्यक्तिगत प्रश्न है,—या कम्यून ने ऐसी आज्ञप्तियां जारी कीं, जो सीधे-सीधे मज़दूर वर्ग के हित में थीं और जो कुछ हद तक पुरानी समाज-व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाती थीं। पर ऐसे

नगर में, जो दुश्मन के घेरे में पड़ा हो, इन चीज़ों को पूरा करने की शुरूआत ही ज्यादा से ज्यादा सम्भव हो सकती थी। मई के शुरू से ही कम्यून की सारी शक्ति वेर्साई-सरकार द्वारा नित्य बढ़ती हुई संख्या में एकत्र की हुई सेना से युद्ध करने में लग गयी।

७ अप्रैल को वेर्साई की फ़ौजों ने पेरिस के पश्चिमी मोर्चे पर न्यूई के निकट सेन नदी के दोनों ओर के रास्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया; पर दूसरी ओर ११ तारीख़ को दक्षिणी मोर्चे पर एक हमले में उन्हें जनरल एद के हाथों भारी नुक़सान उठाकर पीछे हटना पड़ा। पेरिस पर लगातार गोलाबारी की जा रही थी – उन्हीं लोगों द्वारा, जिन्होंने प्रशा की फ़ौजों द्वारा इस नगर की गोलाबारी को धर्म-विरोधी आचरण कहा था। वे ही लोग अब प्रशा की सरकार से भिक्षा मांग रहे थे कि सेदान और मेत्ज़ में बंदी बनाये गये फ़्रांसीसी सैनिक जल्दी से लौटा दिये जायें, ताकि वे आकर उनके लिये पेरिस पर फिर क़ब्ज़ा कर लें। मई के आरम्भ से इन सैनिकों के धीरे-धीरे वापस लौटने के कारण वेर्साई की सैन्य-शक्ति निश्चित रूप से अधिक प्रबल हो गयी। यह बात २३ अप्रैल को ही प्रकट हो गयी थी, जब थियेर ने ओल बनाये हुए पेरिस के लाट-पादरी तथा बहुत-से अन्य पादरियों को केवल एक व्यक्ति, ब्लांकी, से (जो दो बार कम्यून में चुना जा चुका था पर जो क्लेर्वो में बन्दी था) बदल लेने के कम्यून के प्रस्ताव के बारे में होनेवाली वार्ता भंग कर दी। और उससे भी अधिक प्रकट हुई थियेर की बदली हुई जबान से: पहले टालमटोल वाली और गोलमोल, लेकिन अब एकाएक गुस्ताख़, धमकी और हैवानियत से भरी हुई। वेर्साई की फ़ौजों ने दक्षिणी मोर्चे पर मूलैं-साके के गढ़ पर ३ मई को क़ब्ज़ा कर लिया, ९ तारीख़ को फ़ोर्ट-इस्सी पर उनका अधिकार हो गया, जो गोलाबारी से बिल्कुल खंडहर हो चुका था, और १४ मई को फ़ोर्ट-वांव उनके हाथ में आ गया। पश्चिमी मोर्चे पर वे नगर की दीवारों तक फैले अनेक गांवों और इमारतों पर क़ब्ज़ा करते हुए धीरे-धीरे बढ़कर मुख्य रक्षा-दुर्गों तक आ पहुंचीं। २१ मई को ग़द्दारी तथा उस जगह पर तैनात राष्ट्रीय गार्ड की लापरवाही के कारण वेर्साई की सेनाएं नगर में प्रवेश करने में सफल हुईं। प्रशा की फ़ौज ने, जिसके क़ब्ज़े में उत्तरी और पूर्वी क़िले थे, वेर्साई की सेनाओं को नगर के उत्तर की भूमि (जो युद्धविराम-संधि के अन्तर्गत उनके लिये वर्जित भूमि थी) से होकर गुज़रने दिया; इस प्रकार, एक लम्बे मोर्चे पर आक्रमण करते हुए, उन्हें आगे बढ़ने का मौक़ा मिला। इस भूमि की रक्षा का प्रबंध पेरिसवासियों ने, उसे युद्धविराम की शर्तों के अधीनस्थ

समझकर स्वभावतया ढीला छोड़ दिया था। इसके फलस्वरूप पेरिस के पश्चिमी अर्धांश में, यानी अमीरों के ख़ास इलाक़े में प्रतिरोध दुर्बल रहा; पर ज्यों-ज्यों अन्दर दाख़िल होनेवाली फ़ौजें नगर के पूर्वी अर्धांश के, यानी ख़ास मज़दूर इलाक़े के निकट आती गयीं, त्यों-त्यों उनका प्रबलतर और ख़ूब डटकर मुक़ाबला किया जाने लगा। पूरे आठ दिनों के युद्ध के बाद ही कहीं जाकर कम्यून के अन्तिम रक्षक बेलवील और मेनीलमांतां की चढ़ाइयों पर परास्त हुए। और तब निहत्थे मर्दों, औरतों और बच्चों का हत्याकाण्ड, जो बढ़ते हुए पैमाने पर पूरे हफ़्ते भर से चल रहा था, चरम बिन्दु पर पहुंच गया। चूंकि तोड़ेदार बन्दूक़ों द्वारा लोगों को जल्दी से मौत के घाट नहीं उतारा जा सकता था, इसलिये सैकड़ों की संख्या में हारे हुए लोगों को एकसाथ मित्रैयोज़ की, एक प्रकार की मशीनगन की गोलियों से भून दिया जाता था। पेयर-लाशेज़ के क़ब्रिस्तान में "फ़ेडरलों की दीवार"*, जहां आख़िरी क़त्ले-आम हुआ था, आज भी इस बात के मूक किन्तु ज्वलन्त प्रमाण के रूप में खड़ी है कि मज़दूर वर्ग जब अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस करता है तो शासक वर्ग के ऊपर ख़ून सवार हो जाता है। जब सभी को क़त्ल कर देना असम्भव साबित हुआ, तो आम गिरफ़्तारियों की बारी आई, और बन्दियों में से मनमाने तौर पर कुछ को चुनकर गोलियों से उड़ाया जाने लगा और बाक़ी लोग बड़े-बड़े शिविरों में पहुंचाये गये, जहां उन्हें कोर्ट-मार्शल में मुक़द्दमे का इंतज़ार करना था। पेरिस के उत्तर-पूर्वी अर्धांश पर घेरा डाले हुए प्रशा के सैनिकों को यह आज्ञा दी गयी थी कि वे किसी को उधर से भागने न दें; लेकिन जब सिपाही, आलाकमान के आदेश की अपेक्षा मानवीय भावनाओं के आदेश का अधिक सम्मान करते थे, तो अफ़सर भी जान-बूझकर आंखें मूंद लेते थे। इस सम्बन्ध में सैक्सन फ़ौजी दस्ता विशेष रूप से सम्मान का पात्र था। वह बड़ी इंसानियत से पेश आया और उसने ऐसे बहुत-से लोगों को निकल जाने दिया जो साफ़-साफ़ कम्यून के सिपाही थे।

आज, जब बीस वर्षों के बाद हम १८७१ के पेरिस कम्यून के क्रियाकलाप और ऐतिहासिक महत्व पर दृष्टि डाल रहे हैं, तो हम देखते हैं कि 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' में दिये गये कम्यून के वृत्तांत के साथ कुछ और बातें जोड़ना आवश्यक हो गया है।

---

*इसे अब कम्यूनार्डों की दीवार कहते हैं।—सं०

कम्यून के सदस्य बहुमत (यानी ब्लांकीवादी, जिनका राष्ट्रीय गार्ड की केन्द्रीय समिति में प्राधान्य था) और अल्पमत (यानी अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सदस्य, जिनमें मुख्यतः प्रूदों के समाजवादी मत के अनुयायी थे) में विभक्त थे। ब्लांकीवादियों का प्रबल बहुमत केवल क्रान्तिकारी सर्वहारा की सहज-प्रवृत्ति के कारण समाजवादी था; उनमें से केवल कुछ ही ने वाइयां के ज़रिये, जो जर्मन वैज्ञानिक समाजवाद से अवगत थे, सिद्धान्त के विषय में अपेक्षाकृत अधिक दिमागी सफ़ाई हासिल की थी। इसलिए यह बात समझ में आती है कि आर्थिक क्षेत्र में बहुत-से ऐसे काम नहीं किये गये, जिन्हें आज हमारी राय में कम्यून को करना चाहिए था। जिस बात को समझने में हमें सबसे अधिक कठिनाई होती है, वह यह है कि बैंक-ऑफ़-फ़्रांस के फाटक के सामने वे क्यों इस तरह अदब के साथ खड़े रहे, जैसे कि बैंक कोई देवस्थान रहा हो? यह एक संगीन राजनीतिक भूल भी थी। कम्यून के हाथों में बैंक का होना दस हज़ार ओलों से अधिक मूल्यवान होता। ऐसा होने पर पूरा फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग वेर्साई-सरकार पर कम्यून के साथ सुलह कर लेने के लिए दबाव डालता। लेकिन इस त्रुटि से कहीं अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि ब्लांकीवादियों और प्रूदोंवादियों को लेकर गठित होने के बावजूद कम्यून ने जो कुछ किया वह ज़्यादातर सही था। ज़ाहिर है प्रूदोंवादी कम्यून के आर्थिक आदेशों के लिए, उनके प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय दोनों पहलुओं के लिए, मुख्यतः ज़िम्मेदार थे; और ब्लांकीवादी उसके राजनीतिक कृत्यों और कुकृत्यों के लिए। और दोनों ने, जैसा कि इतिहास के व्यंग्य द्वारा इच्छित था और जैसा कि मतवादियों द्वारा अधिकार प्राप्त करने पर सदा होता है – अपने-अपने मतों के आदेशों से ठीक उलटा कार्य किया।

छोटे किसानों और दस्तकार उस्तादों का समाजवादी प्रूदों संघबद्धता से सख़्त नफ़रत करता था। इस विषय में उसका कहना था कि संघबद्धता में अच्छाई से अधिक बुराई है; वह स्वभावतः निष्फल ही नहीं, बल्कि हानिकर भी है, क्योंकि वह मजदूर की स्वतंत्रता के लिये बन्धन है; वह साफ़-साफ़ एक जड़सूत्र है, अनुत्पादक और भारप्रद, जो मज़दूर की स्वतंत्रता का उतना ही विरोधी है जितना कि श्रम की मितव्ययिता का; उसके द्वारा हानि लाभ से कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है; और यह कि उसकी तुलना में प्रतियोगिता तथा श्रम का विभाजन और निजी स्वामित्व लाभदायक आर्थिक शक्तियां हैं। केवल बड़े पैमाने के उद्योगों और संस्थापनों, उदाहरणार्थ रेलवे में, जिन्हें प्रूदों ने अपवाद कहा, मज़दूरों का संघ उपयुक्त था ('क्रांति की सामान्य धारणा', तीसरा स्केच)।

१८७१ में कलात्मक दस्तकारी के केन्द्र पेरिस तक में बड़े पैमाने का उद्योग अपनी विशिष्ट स्थिति इस हद तक खो चुका था कि कम्यून की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण आज्ञप्ति द्वारा बड़े पैमाने के उद्योग का, मैनुफ़ेक्चर तक का संगठन खड़ा किया गया, जिसे प्रत्येक फ़ैक्टरी के मज़दूरों के संघ पर ही आधारित नहीं करना था, बल्कि इन सब संघों को एक बड़ी यूनियन में संयुक्त भी करना था – संक्षेप में एक ऐसा संगठन, जो – जैसा कि मार्क्स ने 'गृहयुद्ध' में बिल्कुल ठीक ही कहा है – अनिवार्यतः अन्त में कम्युनिज़्म, यानी प्रूदों के मत से ठीक उल्टी चीज़, लाता। इसलिए कम्यून समाजवाद के प्रूदोंवादी मत की क़ब्र था। आज इस मत का प्रभाव फ़्रांस के मज़दूर वर्गीय क्षेत्रों से एकदम लुप्त हो गया है, जहां "सम्भववादियों"[128] में भी, "मार्क्सवादियों" से किसी प्रकार घटकर नहीं, मार्क्स के सिद्धान्तों का एकच्छत्र राज है। प्रूदोंवादी विचार के लोग अब केवल "उग्र" पूंजीवादियों में ही पाये जाते हैं।

ब्लांकीवादियों का भी यही हाल हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा षड्यंत्र के शिक्षालय में हुई थी और वे कठोर अनुशासन के सूत्र में आबद्ध थे; उनका मूल दृष्टिकोण यह था कि अपेक्षाकृत थोड़े-से दृढ़संकल्प और सुसंगठित लोग अनुकूल अवसर पर न केवल राज्य की बागडोर अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं, बल्कि ज़बरदस्त और निष्ठुर शक्ति का प्रदर्शन करते हुए तब तक सत्ता को अपने हाथ में रख सकते हैं, जब तक वे आम जनता को क्रान्ति में खींच लाने तथा उन्हें नेताओं के एक छोटे-से दल के चारों ओर पंक्तिबद्ध कर देने में सफल नहीं होते। इसका अर्थ सर्वोपरि यह था कि नयी क्रान्तिकारी सरकार के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता कठोरतम एकाधिपत्यीय रूप में केन्द्रीकृत होनी चाहिए। पर वास्तव में कम्यून ने, जिसमें इन्हीं ब्लांकीवादियों का बहुमत था, क्या किया? प्रान्तों में बसनेवाले फ़्रांसीसियों के नाम अपनी सभी घोषणाओं में उसने अपील की कि वे पेरिस के साथ सभी फ़्रांसीसी कम्यूनों का एक स्वतंत्र संघ बनायें, एक ऐसा राष्ट्रीय संगठन बनायें, जो पहली बार स्वयं राष्ट्र द्वारा निर्मित किया जाये। यथार्थतः पूर्ववर्ती केन्द्रीकृत सरकार की उत्पीड़क शक्ति ही – फ़ौज, राजनीतिक पुलिस, नौकरशाही – जिसे १७९८ में नेपोलियन ने संगठित किया था और जिसे बाद में प्रत्येक नयी सरकार ने बहुमूल्य उपकरण की तरह अपनाया था और अपने विपक्षियों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया था; यथार्थतः यह शक्ति ही, हर स्थान पर, उसी तरह मिटनेवाली थी, जैसे कि वह पेरिस में मिट चुकी थी।

कम्यून आरम्भ से ही यह महसूस करने को बाध्य हुआ था कि मजदूर वर्ग एक बार सत्ता पा लेने पर पुरानी राज्य-मशीन से काम नहीं चला सकता; और यह कि अपनी सद्यः प्राप्त प्रभुता को सुरक्षित रखने के लिए इस मज़दूर वर्ग को एक ओर तो पुरानी दमनकारी मशीन को, जो पहले उसके ख़िलाफ़ इस्तेमाल की जाती थी, ख़त्म करना होगा और दूसरी ओर उसे अपने ही प्रतिनिधियों और अफ़सरों से अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए यह घोषित करना होगा कि उनमें से हरेक, बिना अपवाद के, किसी भी क्षण हटाया जा सकेगा। पहले के राज्य का चारित्रिक गुण क्या था? समाज ने शुरू-शुरू में साधारण श्रम-विभाजन द्वारा अपने सम्मिलित हितों की रक्षा के लिए अपनी ही संस्थाएं उत्पन्न की थीं। किन्तु इन संस्थाओं ने, जिनमें राज्य-सत्ता का शीर्षस्थ स्थान था, काल-क्रम में अपने ख़ास हितों का पोषण करने में अपने को समाज के सेवक के बदले समाज का स्वामी बना लिया। यह चीज़, मिसाल के लिए, पुश्तैनी राजतंत्र में ही नहीं, अपितु जनवादी जनतंत्र में भी उसी तरह देखी जा सकती है। उत्तर अमरीका में "राजनीतिज्ञों" की श्रेणी राष्ट्र से जितनी पृथक् और प्रभावशाली है, उतनी वह और कहीं भी नहीं है। वहां की दोनों बड़ी पार्टियां, जो बारी-बारी से सत्ता ग्रहण करती हैं, स्वयं ऐसे लोगों के द्वारा नियंत्रित हैं, जिन्होंने राजनीति को व्यवसाय बना रखा है, जो संघ की और अलग-अलग राज्यों की भी विधान सभाओं की सीटों पर सट्टेबाज़ी करते हैं, या जो अपनी पार्टी के लिए आन्दोलन करके जीविका का उपार्जन करते हैं और पार्टी की विजय होने पर पद प्राप्त कर पुरस्कृत होते हैं। यह सुविदित है कि अमरीकी किस प्रकार तीस वर्षों से इस जुए को, जो अब असह्य हो गया है, अपने कन्धे से उतार फेंकने की कोशिश में लगे रहे हैं, किस प्रकार सारी कोशिशों के बावजूद वे भ्रष्टाचार के इस दलदल में निरन्तर और भी गहरे धंसते जा रहे हैं। ख़ासकर अमरीका में हमें राज्य-सत्ता के, जिसका मूल प्रयोजन यह था कि वह समाज का उपकरण मात्र हो, उसी समाज से स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रक्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण मिलता है। वहां न कोई राजवंश है, न अभिजात वर्ग, और अमरीकी इंडियनों पर नियन्त्रण रखने के लिए थोड़े-से सैनिकों को छोड़कर, न कोई स्थायी फ़ौज, और न ही स्थायी पदों वाली तथा पेन्शन की अधिकारी नौकरशाही। इसके बावजूद हम देखते हैं कि वहां राजनीतिक सट्टेबाज़ों के दो बड़े गिरोह हैं, जो बारी-बारी से राज्य-सत्ता पर दख़ल कर लेते हैं और भ्रष्ट से भ्रष्ट साधनों द्वारा तथा भ्रष्ट से भ्रष्ट उद्देश्यों के लिए उसका दुरुपयोग करते हैं, और राष्ट्र राजनीतिज्ञों के

इन दो बड़े कार्टेलों के सामने अशक्त है, जो प्रकटतः उसके सेवक हैं, पर वस्तुतः उस पर राज करते और उसे लूटते हैं।

राज्य तथा राज्य की संस्थाओं के इस प्रकार समाज-सेवक के बजाय समाज के मालिक बन जाने के ख़िलाफ़, जो अतीत के सभी राज्यों में अनिवार्यतः हुआ करता था, कम्यून ने दो अचूक नुस्ख़े इस्तेमाल किये। अव्वल तो उसने तमाम पदों की पूर्त्ति—प्रशासकीय, न्याय-विभागीय और शैक्षणिक—संबंधित लोगों के सर्वमताधिकार के आधार पर चुने हुए अधिकारियों द्वारा कराई और इस शर्त के साथ कि निर्वाचकों द्वारा किसी भी समय उनकी नियुक्ति मंसूख़ की जा सकेगी। दूसरे, बड़े और छोटे सभी अधिकारियों को वही वेतन दिया गया, जो अन्य मज़दूरों को मिलता था। कम्यून द्वारा सबसे अधिक तनख़्वाह जो किसी को दी जा सकती थी वह ६,००० फ़्रैंक थी। इस प्रकार पदों के पीछे दौड़ने और पदलोलुपता के विरुद्ध एक कारगर रोक खड़ी कर दी गयी। यह रोक प्रतिनिधि-संस्थाओं के सदस्यों को दिये गये अनुल्लंघनीय आदेशों के अतिरिक्त थी, जिनका अलग से विधान किया गया था।

पहले की राज्य-सत्ता का इस प्रकार छिन्न-भिन्न [sprengung] होना और उसके स्थान पर एक नयी और सच्ची जनवादी राज्य-सत्ता की स्थापना होना 'गृहयुद्ध' के तीसरे भाग में विवरण के साथ वर्णित किया गया है। पर यहां उसकी कुछ विशेषताओं को संक्षिप्त रूप में दुहराना आवश्यक था, क्योंकि ख़ास तौर से जर्मनी में राज्य में अन्धविश्वास दर्शन के क्षेत्र से बाहर निकलकर पूंजीपतियों और बहुत-से मज़दूरों तक की सामान्य चेतना में प्रवेश कर गया है। दार्शनिक धारणा के अनुसार राज्य "विचार का साकार रूप" है, या दिव्य राम-राज है, अर्थात् दार्शनिक शब्दों में, वह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें शाश्वत सत्य और न्याय चरितार्थ होता है या होना चाहिए। इसी से राज्य तथा उससे लगाव रखनेवाली सभी चीज़ों के प्रति अन्धविश्वासयुक्त श्रद्धाभावना उत्पन्न होती है, जो और भी आसानी से इसलिए जड़ पकड़ती है कि लोग बचपन से ही यह सोचने के आदी हैं कि पूरे समाज के कारबार और उसकी भलाई की देखरेख पुराने समय से चली आती व्यवस्था के अलावा और दूसरे तरीक़े से नहीं हो सकती—अर्थात् केवल राज्य और मोटी तनख़्वाह वाले उसके अफ़सरों के ज़रिये ही हो सकती है। पुश्तैनी राजतंत्र में विश्वास करना छोड़कर, जब लोग जनवादी जनतंत्र का दम भरने लगते हैं तो वे सोचते हैं कि उन्होंने एक असाधारण, बड़ी हिम्मत का पग उठाया है। लेकिन राज्य दरअसल एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न

का एक यंत्र मात्र है, राजतंत्र या जनतन्त्र, दोनों में सचमुच एक-सा; और ज्यादा से ज्यादा हम वर्ग-प्राधान्य प्राप्त करने के हेतु चलाये गये सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की विजय के बाद उसे विरासत में मिली हुई बुराई कह सकते हैं, जिसके निकृष्टतम पहलुओं को सर्वहारा वर्ग को कम्यून की तरह तुरंत काट-छांट कर फेंकना होगा और उस समय तक ठहरना पड़ेगा, जब तक मुक्त सामाजिक अवस्थाओं में पली एक नयी पीढ़ी राज्य के पूरे कूड़ा-कबाड़ को घूर के ढेर में डाल देने में सक्षम नहीं होती।

इधर कुछ समय से सामाजिक-जनवादी कूपमण्डूक एक बार फिर "सर्वहारा का अधिनायकत्व" शब्दों से बेतरह बौखलाने लगे हैं। तो ठीक है सज्जनो! क्या आप जानना चाहते हैं कि इस अधिनायकत्व का असली रूप क्या है? पेरिस कम्यून को देख लीजिए। यही था सर्वहारा का अधिनायकत्व।

लन्दन, पेरिस कम्यून की बीसवीं वर्षगांठ,
१८ मार्च १८६१

फ़्रे० एंगेल्स
अंग्रेजी से अनूदित।

«Die Neue Zeit», Bd. 2, №28, 1890—1891
पत्रिका में तथा Marx, *«Der Bürgerkrieg in Frankreich»*, Berlin, 1891 पुस्तक में प्रकाशित।

फ़्रांस-प्रशा युद्ध के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल की पहली चिट्ठी[129]

यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सदस्यों के नाम

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के नवम्बर १८६४ की उद्‌घाटन घोषणा में हमने कहा था: "यदि मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि मज़दूरों में भ्रातृत्वपूर्ण मतैक्य हो, तो वे अपना यह महान् उद्देश्य मुजरिमाना मंसूबों पर आश्रित ऐसी विदेश नीति के रहते हुए किस प्रकार पूरा कर सकते हैं, जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों का स्वार्थपूर्ण उपयोग किया जाता है और लुटेरे युद्धों में जनता का ख़ून और धन पानी की तरह बहाया जाता है?" इन्टरनेशनल जिस विदेश नीति को अपना लक्ष्य मानता है उसकी परिभाषा हमने इन शब्दों में की थी: "...व्यक्तियों के ज़ाती सम्बन्ध नैतिकता तथा न्याय के जिन सीधे-सादे नियमों द्वारा निर्देशित होने चाहिए, उन्हीं का राष्ट्रों के परस्पर संसर्ग में प्रधानतम नियमों के रूप में पालन किया जाये।"

इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं कि लूई बोनापार्त, जिसने फ़्रांस में वर्गों के बीच युद्ध का लाभ उठाकर सत्ता का अपहरण किया और समय-समय पर विदेशों में युद्ध छेड़कर उसे क़ायम रखा, आरम्भ से ही इन्टरनेशनल को एक ख़तरनाक शत्रु समझता था। जनमत-संग्रह[130] के ठीक पहले उसने फ़्रांस भर में—पेरिस, लियों, रूएं, मार्सेई, ब्रेस्त, आदि में—अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की प्रशासन कमेटियों के सदस्यों पर इस झूठे बहाने से छापे कराये कि इन्टरनेशनल एक गुप्त संगठन है, जो उसकी हत्या के षड्‌यंत्र में लगा हुआ है। जल्द ही इस बहाने के बेतुकेपन का पूरा पर्दाफ़ाश ख़ुद उसके ही जजों द्वारा हो गया। इन्टरनेशनल की फ़्रांसीसी शाखाओं का असली अपराध क्या था? उनका असली अपराध यह था कि उन्होंने फ़्रांस की जनता से खुले रूप में और ज़ोर देकर कहा था कि जनमत-संग्रह में वोट देना देश में निरंकुशता और विदेश में युद्ध के

लिए वोट देना है। वस्तुतः यह उनके ही काम का फल था कि फ़्रांस के सभी बड़े शहरों में, सभी औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूर वर्ग ने एकमत से जनमत-संग्रह को ठुकरा दिया। दुर्भाग्यवश, देहाती क्षेत्रों के भारी अज्ञान ने पलड़ा पलट दिया। यूरोप के शेयर-बाज़ारों, मंत्रिमण्डलों, शासक वर्गों और अख़बारों ने जनमत-संग्रह को फ़्रांस के मज़दूर वर्ग पर फ़्रांस के सम्राट की शानदार विजय मानकर उस पर हर्ष प्रकट किया; और दरअसल यह किसी एक व्यक्ति की नहीं, अपितु पूरे के पूरे राष्ट्रों की हत्या के लिए हरी झंडी थी।

जुलाई १८७० का युद्ध-षड्यंत्र[131] दिसम्बर १८५१ के coup d'état * का एक संशोधित संस्करण मात्र है। पहली दृष्टि में मामला इतना असंगत ज्ञात होता था कि फ़्रांस ने यथार्थतः इसकी वास्तविकता में विश्वास नहीं किया। लोगों ने असल में उस प्रतिनिधि ** पर ज़्यादा विश्वास किया, जिसने मंत्रियों की युद्ध की बातों को स्टाक-दलाली की तिकड़म कहा था। अन्ततः १५ जुलाई को जब विधान सभा को युद्ध की सरकारी तौर पर सूचना दी गयी, तो पूरे विरोध-पक्ष ने प्रारम्भिक धनानुदान के लिए वोट करने से इनकार कर दिया; थियेर तक ने युद्ध को "जघन्य" कहा। पेरिस के सभी स्वतंत्र पत्रों ने इसकी निन्दा की, और मज़ेदार बात तो यह थी कि प्रान्तीय अख़बारों ने भी लगभग एक स्वर से निन्दा की।

इस दरमियान इन्टरनेशनल के पेरिस सदस्य फिर अपने कार्य में जुट गये थे। उन्होंने १२ जुलाई के «*Rèveil*» में[132] 'सभी राष्ट्रों के मज़दूरों के नाम' अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसके कुछ अंश हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं:

"यूरोपीय सन्तुलन के नाम पर, राष्ट्रीय सम्मान के नाम पर एक बार फिर विश्वशांति राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं द्वारा ख़तरे में डाल दी गयी है। फ़्रांस, जर्मनी और स्पेन के मज़दूरो! आओ, हम सब एक स्वर में युद्ध के ख़िलाफ़ उसे धिक्कारते हुए आवाज़ उठाएं! प्रभुत्व या राजवंश के सवाल पर युद्ध मज़दूरों की निगाह में मुजरिमाना बेहूदेपन के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। उन लोगों की जंगी घोषणाओं के जवाब में, जो अपने को 'रक्त-कर' से बरी रखते हैं और जो जनता के दुर्भाग्य को नित्य-नई सट्टेबाज़ी का साधन बनाते हैं, हम शान्ति, श्रम और स्वतंत्रता चाहनेवाले मज़दूर विरोध की आवाज़ बुलन्द करते हैं! जर्मनी के भाइयो! यदि हम विभक्त रहे तो उसका एकमात्र परिणाम यह

* राज्य-पर्युत्क्षेपण। – सं०

** जूल फ़ाव्र। – सं०

होगा कि राइन नदी के दोनों ओर निरंकुशता की पूर्ण विजय होगी... प्रत्येक देश के मज़दूरो! हमारे सम्मिलित प्रयासों का इस समय चाहे जो भी नतीजा निकले, हम, अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सदस्य, जो किसी राज्यीय सीमा के बंधे हुए नहीं हैं, अपनी अटूट एकजुटता के प्रतीकस्वरूप आपको फ़्रांस के मज़दूरों की शुभकामनाएं और अभिवादन भेजते हैं।"

हमारी पेरिस शाखा के इस घोषणापत्र के बाद इसी तरह की अनेक फ़्रांसीसी घोषणाएं निकलीं। इनमें से यहां हम केवल एक, न्यूई-स्युर-सेन की घोषणा को ही उद्धृत कर सकते हैं, जो २२ जुलाई के *«Marseillaise»*[133] में प्रकाशित हुई थी :

"यह युद्ध, क्या यह न्यायसंगत है? नहीं! यह युद्ध, क्या यह राष्ट्रीय है? नहीं! यह केवल राजवंशीय युद्ध है। मानवता, जनवाद और फ़्रांस के सच्चे हितों के नाम पर हम पूरी तरह और ज़ोरदार तरीक़े से युद्ध के विरुद्ध इन्टरनेशनल के प्रतिवाद का समर्थन करते हैं।"

इन प्रतिवादों ने फ़्रांस के मज़दूरों की वास्तविक भावना ज़ाहिर कर दी, जो शीघ्र ही एक अनोखी घटना द्वारा सिद्ध हो गयी। **१० दिसम्बर समाज**[134] के सदस्यों को (यह गिरोह पहले पहल लूई बोनापार्त के शासन-काल में स्थापित किया गया था) जब श्रमिकों की कुर्तियां पहनाकर युद्धक्रीड़ा करते हुए युद्ध-उन्माद की कलाबाज़ियां दिखाने के लिये पेरिस की सड़कों पर छोड़ दिया गया, तो उपनगर के असली मज़दूरों ने शान्ति के लिये इतना ज़बर्दस्त जन-प्रदर्शन निकाला कि पुलिस-कमिशनर पियेत्री ने सड़कों पर सारे प्रदर्शनों को बन्द कर देने में ही बुद्धिमानी समझी। ऐसा उसने यह कहकर किया कि पेरिस की असली जनता देशभक्ति के अपने अवरुद्ध उद्गार तथा युद्ध के प्रति अतीव उत्साह का पर्याप्त प्रदर्शन कर चुकी है।

प्रशा के साथ लूई बोनापार्त के युद्ध का अन्त चाहे जो भी हो, पेरिस में द्वितीय साम्राज्य की मौत की घंटी अब बज चुकी है। जिस प्रकार उसका आरम्भ स्वांग के साथ हुआ था, उसी प्रकार उसका अन्त भी स्वांग के साथ होगा। लेकिन हमें भूलना न चाहिये कि ये यूरोपीय सरकारें और यूरोप के शासक वर्ग ही हैं, जिन्होंने लूई बोनापार्त को १८ वर्षों के दौरान **पुनःस्थापित साम्राज्य** का भयावह प्रहसन चलाने में सक्षम बनाया।

जर्मनी के लिये यह युद्ध प्रतिरक्षा का युद्ध है। पर जर्मनी के लिये अपनी रक्षा करने की आवश्यकता किसने उत्पन्न की? किसने लूई बोनापार्त को उसके विरुद्ध युद्ध करने के लिये सक्षम बनाया? **प्रशा ने!** वह शख़्स बिस्मार्क ही था, जिसने अपने देश में जन-विरोध को कुचलने के लिये और होहेनज़ालर्न राजवंश द्वारा जर्मनी के हड़प लिये जाने के लिये इसी लूई बोनापार्त से मिलकर षड्यंत्र किया था। यदि सादोवा की लड़ाई में जीत के बदले हार हुई होती तो फ़्रांस की बटालियनें प्रशा के मित्र के रूप में जर्मनी पर चढ़ गयी होतीं। अपनी विजय के बाद क्या प्रशा ने एक क्षण के लिये भी दासता की बेड़ियों में पड़े फ़्रांस के मुक़ाबले में स्वतंत्र जर्मनी को खड़ा करने की बात सोची? बात ठीक उल्टी ही हुई! अपनी पुरानी व्यवस्था की तमाम स्वाभाविक ख़ूबियां सुरक्षित रखते हुए उसने दूसरे साम्राज्य के तमाम हथकंडे अपना लिये—उसकी वास्तविक निरंकुशता, उसका नक़ली जनवाद, उसका राजनीतिक स्वांग, उसकी वित्तीय सट्टेबाज़ी, उसकी लफ़्फ़ाज़ी, उसकी मक्कारी। बोनापार्त के शासन को, जो अब तक राइन के केवल एक तट पर पनप रहा था, अब राइन के दूसरी ओर भी अपना जाली समरूप मिल गया। ऐसी वस्तुस्थिति का **युद्ध** के अतिरिक्त और क्या परिणाम हो सकता था?

यदि जर्मनी का मज़दूर वर्ग मौजूदा युद्ध को अपना सर्वथा प्रतिरक्षात्मक चरित्र खोकर फ़्रांसीसी जनता के विरुद्ध युद्ध का पतित रूप धारण करने देगा, तो जीत और हार दोनों समान रूप से विनाशकारी सिद्ध होंगी। जर्मनी के ऊपर उसके स्वातंत्र्य-युद्ध के बाद मुसीबतों का जो पहाड़ टूटा था, वह कहीं अधिक भीषणता के साथ उसके ऊपर फिर टूट पड़ेगा।

पर इन्टरनेशनल के सिद्धान्त जर्मन मज़दूर वर्ग में इतने व्यापक और इतनी गहरी तरह से पैठे हुए हैं कि ऐसी विषादपूर्ण निष्पत्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये। फ़्रांसीसी मज़दूरों के स्वर जर्मनी में प्रतिध्वनित हुए हैं। १६ जुलाई को ब्रन्सविक में हुई मज़दूरों की एक आम सभा ने पेरिस घोषणापत्र के साथ अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की, फ़्रांस के विरुद्ध राष्ट्रीय विग्रह की धारणा को ठुकराया और अपने प्रस्तावों की इन शब्दों के साथ निष्पत्ति की:

"हम हर प्रकार के युद्ध के दुश्मन हैं, पर सबसे अधिक राजवंशीय युद्धों के दुश्मन हैं... एक अनिवार्य बुराई के रूप में हम प्रतिरक्षात्मक युद्ध गहरे विषाद एवं शोक के साथ सहन करने को विवश हैं, किन्तु साथ ही हम समस्त जर्मन

मज़दूर वर्ग का आह्वान करते हैं कि वह हरेक जनगण को स्वयं युद्ध और शान्ति का निर्णय करने का अधिकार उपलब्धि कराके तथा उन्हें अपने भाग्य का ख़ुद मालिक बनाकर युद्ध जैसी भीषण सामाजिक विपत्ति की पुनरावृत्ति असम्भव बना दे।"

केमनिट्स में ५०,००० सैक्सन मज़दूरों के प्रतिनिधियों की एक सभा ने इस आशय का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया :

"जर्मन जनवाद के नाम पर और विशेषकर जनवादी समाजवादी पार्टी को गठित करनेवाले मज़दूरों के नाम पर हम मौजूदा युद्ध को सोलहों आना राजवंशीय युद्ध क़रार देते हैं... फ़्रांस के मज़दूरों ने हमारी ओर बन्धुत्व का जो हाथ बढ़ाया है, उसे ग्रहण करने में हमें ख़ुशी हो रही है... अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के नारे— **'दुनिया के मज़दूरो, एक हो!'** को ध्यान में रखते हुए हम यह कभी नहीं भूलेंगे कि **सब** देशों के मज़दूर हमारे **मित्र** हैं, और **सब** देशों के निरंकुश शासक हमारे **शत्रु** हैं।"

इन्टरनेशनल की बर्लिन शाखा ने भी पेरिस के घोषणापत्र का जवाब दिया है :

"हम आपकी विरोध-घोषणा में दिलोजान से आप के साथ हैं... सत्यनिष्ठा के साथ हम वचन देते हैं कि न तो बिगुल की ध्वनि और न तोप की गरज, न जीत और न हार हमें सब देशों के श्रम के सपूतों की एकबद्धता के लिये अपने संयुक्त कार्य से विमुख कर सकेंगी।"

ऐसा ही हो!

इस आत्मघाती विग्रह की पृष्ठभूमि में रूस की काली छाया मंडरा रही है। यह एक अशुभ लक्षण है कि वर्तमान युद्ध का सिगनल ऐसे समय में दिया गया, जब मास्को की सरकार द्वारा सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रेलों का निर्माण ख़त्म हुआ था और प्रुथ नदी की दिशा में फ़ौजें जमा की जा रही थीं। बोनापार्त के आक्रमण के विरुद्ध अपने प्रतिरक्षात्मक युद्ध के लिये जर्मन जो भी सहानुभूति न्यायत: प्राप्त कर सकते हैं उसे वे फ़ौरन गंवा देंगे यदि वे प्रशा की सरकार को कज़्ज़ाकों की सहायता मांगने या उसे स्वीकार करने देंगे। उन्हें याद रखना चाहिये कि नेपोलियन प्रथम के विरुद्ध अपने स्वातंत्र्य-युद्ध के बाद जर्मनी कई पीढ़ियों तक ज़ार के क़दमों पर लोटता रहा।

इंगलैंड का मज़दूर वर्ग फ़्रांस और जर्मनी की मेहनतकश जनता की ओर भाईचारे का हाथ बढ़ाता है। उसे गहरा विश्वास है कि आगामी भयंकर युद्ध चाहे जो भी मोड़ ले, अन्ततः सब देशों के मज़दूर वर्ग का संश्रय युद्ध का अन्त करके ही रहेगा। जबकि फ़्रांस और जर्मनी के सरकारी हलक़े एक दूसरे के ख़िलाफ़ भ्रातृघातक युद्ध में कूद रहे हैं, फ़्रांस और जर्मनी के मजदूर एक दूसरे को शांति और सद्भावना के संदेश भेज रहे हैं। यह सारे अतीत के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है, जो एक उज्ज्वलतर भविष्य के मार्ग को उन्मुक्त कर देती है। वह सिद्ध करती है कि आर्थिक कष्टों और राजनीतिक भ्रान्तियों से पूर्ण पुराने समाज के मुक़ाबले में एक नया समाज जन्म ले रहा है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त होगा **शान्ति**, क्योंकि उसका राष्ट्रीय शासक हर स्थान पर एक ही, अर्थात् **श्रम** होगा!

इस नये समाज का अग्रदूत अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ है।

२५६, हाई हॉलबर्न,
लन्दन, वेस्टर्न सेंट्रल,
२३ जुलाई १८७०।

मार्क्स द्वारा १९ और २३ जुलाई १८७० के बीच लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

जुलाई १८७० में अंग्रेज़ी भाषा में पर्चे के रूप में तथा अगस्त–सितम्बर १८७० में समाचारपत्रों में और अलग-अलग पर्चों के रूप में जर्मन, फ़्रांसीसी तथा रूसी भाषाओं में प्रकाशित।

फ्रांस-प्रशा युद्ध के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल की दूसरी चिट्ठी

यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सदस्यों के नाम

२३ जुलाई की अपनी पहली चिट्ठी में हमने कहा था: "..पेरिस में द्वितीय साम्राज्य की मौत की घंटी अब बज चुकी है। जिस प्रकार उसका आरम्भ स्वांग के साथ हुआ था, उसी प्रकार उसका अन्त भी स्वांग के साथ होगा। लेकिन हमें भूलना न चाहिये कि ये यूरोपीय सरकारें और यूरोप के शासक वर्ग ही हैं जिन्होंने लूई बोनापार्त को १८ वर्षों के दौरान **पुनःस्थापित साम्राज्य** का भयावह प्रहसन चलाने में सक्षम बनाया।"*

अतः युद्ध की कार्रवाई शुरू होने के पहले ही हमने बोनापार्ती बुलबुले को अतीत की वस्तु घोषित कर दिया था।

यदि द्वितीय साम्राज्य की जीवन-क्षमता के बारे में हमें भ्रम न था तो हमारी यह आशंका भी ग़लत न थी कि जर्मन युद्ध कहीं "अपना सर्वथा प्रतिरक्षात्मक चरित्र खोकर फ्रांसीसी जनता के विरुद्ध युद्ध का पतित रूप धारण"** न कर ले। प्रतिरक्षात्मक युद्ध वस्तुतः लूई बोनापार्त के आत्मसमर्पण, यानी सेदान की पराजय और पेरिस में जनतन्त्र की घोषणा के साथ समाप्त हो गया। पर इन घटनाओं के बहुत पहले से, उसी समय से जब साम्राज्यीय सैन्य-शक्ति की जीर्णशीर्णता प्रकट हो चुकी थी, प्रशा के सैनिक गुट ने फ्रांस को जीतने का इरादा बना लिया था। उसके रास्ते में केवल एक बेढंगी-सी बाधा खड़ी थी। यह थी **युद्ध के आरम्भ के समय स्वयं कैसर विल्हेल्म की घोषणा।** उत्तर जर्मन राइख़स्टाग के समक्ष अपने शाही भाषण में कैसर ने बड़ी गम्भीरता के साथ घोषणा की थी– हमारी लड़ाई फ्रांस के सम्राट से है न कि फ्रांसीसी जनता से। ११ अगस्त को

*प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २५२।–सं०
**प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २५३।–सं०

कैसर ने फ़्रांसीसी राष्ट्र के नाम एक घोषणापत्र जारी किया था जिसमें उसने कहा :

"सम्राट नेपोलियन ने स्थल और जल मार्ग से जर्मन राष्ट्र पर, जो फ़्रांसीसी जनता के साथ शांतिपूर्वक रहना चाहता था और अब भी रहना चाहता है, आक्रमण कर दिया है, इसलिये हमने **इस आक्रमण को परास्त करने के लिये** जर्मन सेना की कमान ग्रहण कर ली है, और हमें **सामरिक घटनाओं से विवश होकर फ़्रांस की सरहद पार करनी पड़ी है।**"

कैसर ने इतना ही कहकर युद्ध के प्रतिरक्षात्मक स्वरूप पर जोर नहीं दिया कि केवल "**आक्रमण को परास्त करने के लिये**" हमने जर्मन सेना की कमान ग्रहण कर ली है, वरन् यह भी कहा कि "सामरिक घटनाओं से विवश होकर" ही हमने फ़्रांस की सरहद पार की है। बेशक प्रतिरक्षात्मक युद्ध में "सामरिक घटनाओं" से बाध्य होकर आक्रमणात्मक कार्रवाइयां भी की जा सकती हैं।

चुनांचे यह नेक कैसर फ़्रांस तथा सारी दुनिया के सामने सर्वथा प्रतिरक्षात्मक युद्ध के लिये वचनबद्ध था। उसे उसकी इस गम्भीर वचन के बंधन से किस प्रकार मुक्त किया जाये? अतः रंगमंच के सूत्रधारों को यह दिखाना था कि जर्मन राष्ट्र के अप्रतिरोध्य आदेश के सामने कैसर को अनिच्छापूर्वक झुकना पड़ रहा है। उन्होंने फ़ौरन उदारपंथी जर्मन पूंजीपति वर्ग को – उसके प्रोफ़ेसरों, पूंजीपतियों, आल्डरमैनों और क़लमधारियों को – संकेत किया। यह जर्मन पूंजीपति वर्ग, जिसने १८४६ से १८७० तक नागरिक स्वतंत्रता के अपने संघर्ष में अपने बेमिसाल ढुलमुलपन, अयोग्यता और कायरता का नमूना पेश किया था, अब, ज़ाहिर है, जर्मन देशभक्ति के दहाड़ते हुए शेर के रूप में यूरोप के रंगमंच पर उतरकर ख़ुशी से फूला न समाता था। प्रशा की सरकार पर उसी के गुप्त मंसूबों को लादने का दिखावा करके जर्मन पूंजीपति वर्ग ने अपनी नागरिक स्वाधीनता को फिर से प्रदर्शित किया। वह लूई बोनापार्त की अचूक बुद्धिमत्ता में अपने चिरस्थायी और प्रायः धर्मतुल्य निष्ठा के साथ विश्वास का प्रायश्चित करने के लिए फ़्रांसीसी जनतन्त्र का अंगभंग करने के लिए ज़ोर-ज़ोर से चीख़ रहा था। आइये, ज़रा इन दिलेर देशभक्तों की ख़ास दलीलों को सुनें।

वे यह कहने की जुर्रत नहीं करते कि अल्सास और लोरेन के लोग जर्मनों के आलिंगन-पाश में बंधने के लिये लालायित हैं; असलियत इससे उल्टी ही है। फ़्रांस के प्रति देशभक्ति की सज़ा देने के लिये स्ट्रासबुर्ग नगर पर, जिसका शासन-

केन्द्र एक स्वतंत्र दुर्ग है, बड़ी दानवीयता के साथ छः दिनों तक बेहिसाब "जर्मन" विस्फोटक गोले बरसाये गये, जिससे शहर में आग लग गयी और न जाने कितने असहाय नागरिक मारे गये! चूंकि इन प्रांतों की ज़मीन किसी ज़माने में भूतपूर्व जर्मन साम्राज्य[135] की मिलकियत थी, इसलिये इस जमीन को और इस पर पैदा हुए इंसानों को अहस्तान्तरणीय जर्मन सम्पत्ति मानकर ज़ब्त कर लेना चाहिये। लेकिन यदि यूरोप के नक़्शे को पुरातत्त्वान्वेषी रेखाओं के अनुसार फिर से बनाना है तो यह न भूलना चाहिये कि ब्राण्डनबुर्ग का एलेक्टर भी, अपनी प्रशियाई रियासतों के संबंध में, पोलैण्ड के जनतन्त्र का चाकर था।[136]

परन्तु ज़्यादा होशियार देशभक्त लोग पूरे अल्सास और लोरेन के जर्मनभाषी भाग को फ़ांस के विरुद्ध "ठोस गारंटी" के रूप में हथियाना चाहते हैं। इन लोगों की इस ओछी दलील ने बहुत-से दुर्बल बुद्धि के लोगों को गुमराह किया है, इसलिये इसकी विशद विवेचना करना जरूरी है।

इसमें सन्देह नहीं कि राइन के दूसरे तट की तुलना में अल्सास की आम बनावट तथा बाज़ेल और गेर्मेर्शगाइम के लगभग मध्य में स्ट्रासबुर्ग जैसे एक क़िलाबन्द बड़े शहर का होना दक्षिण जर्मनी पर आक्रमण करने के लिये फ़ांस को बहुत ही अनुकूल स्थिति प्रदान करते हैं, जबकि दक्षिण जर्मनी द्वारा फ़ांस पर चढ़ाई के लिये वे विशेष कठिनाइयां उपस्थित करेंगे। इसके अलावा इसमें भी सन्देह नहीं कि अल्सास और जर्मनभाषी लोरेन दोनों के मिल जाने से दक्षिण जर्मनी की सरहद कहीं अधिक दृढ़ हो जाती है, क्योंकि तब जर्मनी वोगेज़ की पूरी पर्वतमाला और उसके दुर्गों का, जो उसके उत्तरी दर्रों की रक्षा करते हैं, स्वामी बन जायेगा। और अगर मेत्ज़ भी ले लिया जाये तो फ़ांस, निश्चित रूप से, जर्मनी के विरुद्ध जंगी कार्रवाई के अपने दो प्रधान अड्डों से एकदम वंचित हो जायेगा, लेकिन ऐसा होने पर नांसी या वेर्दे में उसे एक नया अड्डा बना लेने से नहीं रोका जा सकता। जर्मनी के पास कोब्लेन्ज़, माएन्ज़, गेर्मेर्शगाइम, राष्टाट और उल्म हैं, जो सब के सब फ़ांस के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई के अड्डे हैं और जिन्हें इस युद्ध में ख़ूब इस्तेमाल भी किया गया है। तो यह किस प्रकार न्यायसंगत है कि फ़ांस के अधिकार में स्ट्रासबुर्ग और मेत्ज़ के होने पर जर्मनी बुरा माने, जबकि फ़ांस के पास राइन के इस तरफ़ यही दो किसी क़दर महत्वपूर्ण अड्डे हैं? इसके अलावा स्ट्रासबुर्ग दक्षिण जर्मनी के लिये तभी ख़तरा बन सकता है, जब दक्षिण जर्मनी उत्तर जर्मनी से पृथक् शक्ति के रूप में हो। १७९२ से १७९५ तक दक्षिण जर्मनी पर इस ओर से कभी आक्रमण नहीं हुआ, क्योंकि प्रशा फ़ांसीसी

क्रान्ति के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित था; पर ज्यों ही १७६५ में प्रशा ने अपनी अलग सन्धि कर ली[137] और दक्षिण को अपने भाग्य पर छोड़ दिया, त्यों ही स्ट्रासबुर्ग को अड्डा बनाकर दक्षिण जर्मनी पर फ़्रांसीसी हमले शुरू हो गये और १८०६ तक जारी रहे। असल बात यह है कि जर्मनी के संयुक्त रहने पर अपनी सारी सेनाएं सारलूई और लैण्डाऊ के बीच केन्द्रित करके, जैसा कि इस युद्ध में हुआ था, और माएन्ज़ और मेत्ज़ के बीच की सड़क के मोर्चे पर आवश्यकतानुसार आगे बढ़कर अथवा वहीं लोहा लेकर, वह स्ट्रासबुर्ग और अल्सास स्थित किसी भी फ़्रांसीसी सेना को बेकार बना सकता है। जब तक जर्मन सेना का आम जमाव इस मोर्चे पर रहेगा, स्ट्रासबुर्ग से दक्षिण जर्मनी में प्रवेश करनेवाली किसी भी फ़्रांसीसी सेना का पार्श्व उसके द्वारा घिर जायेगा और उस फ़्रांसीसी सेना की संचार-लाइन ख़तरे में पड़ जायेगी। वर्तमान युद्ध ने यदि कोई बात सिद्ध की है तो वह जर्मनी से फ़्रांस पर आक्रमण करने की सुगमता है।

लेकिन यदि नेकनीयती अपनायी जाये तो क्या फ़ौजी युक्तियों को राष्ट्रीय सीमाएं निर्धारित करने का आधार बना लेना विवेकशून्य और दक़ियानूसी बात नहीं है? अगर यही नियम मान लिया जाये तो आस्ट्रिया को अब भी वेनिस का इलाक़ा मिलना चाहिये और मिन्सियो नदी उसकी सरहद होनी चाहिये और फ़्रांस की भी सरहद राइन होनी चाहिये ताकि वह पेरिस का बचाव कर सके, जिस पर उत्तर-पूर्व से हमले का अधिक ख़तरा है बनिस्बत बर्लिन पर दक्षिण-पश्चिम से। यदि सामरिक हितों की दृष्टि से सीमाएं निर्धारित की जाने लगें, तो फिर दावों का कभी अंत ही न होगा, क्योंकि प्रत्येक सामरिक रेखा अनिवार्यतः त्रुटिपूर्ण होती है, जिसे दूसरी ओर की थोड़ी-सी और भूमि हस्तगत कर लेने से सुधारा जा सकता है। इसके अलावा ऐसी रेखाएं कभी अंतिम रूप से एवं न्यायपूर्ण तरीक़े से निर्धारित नहीं की जा सकतीं क्योंकि ऐसी सीमा जब भी बनेगी वह विजेता द्वारा पराजित पर लादकर ही बनेगी; फलतः उसके अन्दर नये युद्धों के बीज मौजूद रहेंगे।

पूरे इतिहास का यही सबक़ है। जो बात व्यक्तियों पर लागू होती है वही राष्ट्रों पर भी। आक्रामक शक्ति से वंचित करने के लिये उन्हें प्रतिरक्षा के साधनों से भी वंचित करना आवश्यक है। गले में फंदा बांधना काफ़ी नहीं है, हत्या भी करनी होगी। अगर कभी किसी विजेता ने किसी राष्ट्र की नसें तोड़ने के लिये "ठोस गारंटियां" ली हैं तो ऐसा तिलसित की संधि[138] द्वारा और जिस प्रकार वह संधि प्रशा और बाक़ी जर्मनी के ख़िलाफ़ अमल में लाई गयी उसके द्वारा

नेपोलियन प्रथम ने किया था। लेकिन कुछ ही वर्षों के भीतर उसकी विराट शक्ति जर्मन जनता के समक्ष सड़े हुए सरकंडों की तरह टुकड़े-टुकड़े हो गयी। वे कौनसी "ठोस गारंटियां" हैं, जिन्हें प्रशा, अपने अधिक से अधिक पागलपन के सपने में भी, फ़्रांस के ऊपर लाद सकता है या लादने का साहस कर सकता है—उन "ठोस गारंटियों" के मुक़ाबले में, जो नेपोलियन प्रथम ने प्रशा से बलपूर्वक हासिल की थीं? प्रशा को उससे कम अनर्थपूर्ण परिणाम नहीं भुगतना पड़ेगा। इतिहास इसका जो दण्ड देगा उसकी माप वह इससे नहीं करेगा कि फ़्रांस से कितने वर्ग मील भूमि जीती गयी थी, वरन् वह १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में **देश-विजय की नीति** को फिर से जीवित करने के अपराध की प्रगाढ़ता द्वारा की जायेगी।

किन्तु ट्यूटोनी देशभक्ति के भोंपुओं का तर्क है कि जर्मनों की तुलना हरगिज़ फ़्रांसीसियों से नहीं की जानी चाहिए। **हम लोग** तो केवल सुरक्षा चाहते हैं, न कि कीर्ति। जर्मन लोग स्वभाव से शान्तिप्रेमी हैं। उनके स्वस्थचित्त संरक्षण में विजय ख़ुद-ब-ख़ुद भावी युद्ध के लिये अनुकूल अवस्था से शाश्वत शान्ति की गारंटी के रूप में परिवर्तित हो जाती है। क्या वे जर्मन नहीं थे, जिन्होंने १८वीं शताब्दी की क्रान्ति को संगीनों का शिकार बनाने के उच्च उद्देश्य से १७९२ में फ़्रांस पर आक्रमण किया था? क्या वे जर्मन नहीं थे, जिन्होंने इटली को पददलित करके, हंगरी पर ज़ुल्म ढाकर और पोलैण्ड का अंगभंग करके अपने हाथ कलुषित किये थे? उनकी वर्तमान सैनिक व्यवस्था, जो देश की पूरी वयस्क मर्द आबादी को दो भागों में विभक्त करती है—एक स्थायी और सेवालग्न सेना और दूसरी अवकाश प्राप्त स्थायी सेना, और दोनों ईश-निर्धारित शासकों के प्रति समान और निश्चेष्ट रूप से आज्ञापालन में कटिबद्ध—ऐसी सैनिक व्यवस्था बेशक शान्ति क़ायम रखने और जर्मनों की सभ्यता विस्तरण की प्रवृत्तियों के अंतिम लक्ष्य को पूरा करने की "ठोस गारंटी" है! जर्मनी में, जैसा कि हर जगह में, सत्ताधारियों के चाटुकार मिथ्या आत्मप्रशंसा के लोबान द्वारा आम जनता के मस्तिष्क को विषाक्त करते हैं।

मेत्ज़ और स्ट्रासबुर्ग में फ़्रांसीसी दुर्गों को देखकर आक्रोश से भर जाने का स्वांग करनेवाले इन जर्मन देशभक्तों को वारसा, मोदलिन और इवानगोरोद में रूस की विशाल क़िलेबन्दी में कोई हानि दिखाई नहीं देती। बोनापार्तीय आक्रमण की दहशत का शोर मचाते हुए वे ज़ार के शासन के अभिरक्षण की कुत्सितता पर आंखें झपकाते हैं।

जिस प्रकार १८६५ में लूई बोनापार्त और बिस्मार्क ने एक दूसरे से प्रतिज्ञाएं की थीं, उसी प्रकार १८७० में गोर्चाकोव और बिस्मार्क ने एक दूसरे से प्रतिज्ञाएं की हैं। जिस प्रकार लूई बोनापार्त यह सोचकर दिल में ख़ुश हुआ था कि १८६६ के युद्ध में आस्ट्रिया और प्रशा के समान रूप से पस्त हो जाने पर वह जर्मनी का भाग्य-विधाता बन जायेगा, उसी तरह अलेक्सान्द्र यह सोचकर ख़ुश हुआ था कि १८७० के युद्ध में जर्मनी और फ़्रांस के समान रूप से पस्त हो जाने से वह पश्चिमी यूरोप का भाग्य-विधाता बन जायेगा। जिस तरह द्वितीय साम्राज्य ने उत्तर-जर्मन संघ को अपने अस्तित्व के प्रतिकूल समझा था, उसी तरह एकतंत्रीय रूस, प्रशा के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य को अपने लिये अवश्य ही ख़तरा समझेगा। पुरानी राजनीतिक व्यवस्था का यही नियम है। उसकी परिधि के अन्दर एक राज्य का लाभ दूसरे की हानि है। यूरोप पर ज़ार के सर्वोपरि प्रभाव का मूल कारण जर्मनी पर उसका परम्परागत प्रभाव है। ऐसे समय में, जब ख़ुद रूस में ज्वालामुखी जैसी विस्फोटक सामाजिक शक्तियां एकतंत्रीय शासन की नींव को हिला देने का ख़तरा पैदा कर रही हैं, क्या ज़ार अपनी वैदेशिक प्रतिष्ठा की ऐसी हानि कभी सहन कर सकता है? मास्को के अख़बार अभी से ही वही बात दुहराने लगे हैं जो १८६६ के युद्ध के बाद बोनापार्तवादी अख़बार कह रहे थे। क्या ट्यूटोनी देशभक्त सचमुच यह विश्वास करते हैं कि फ़्रांस को रूस के आलिंगन-पाश में बंधने के लिये विवश कर जर्मनी को स्वातंत्र्य और शांति की गारंटी प्राप्त हो जायेगी? यदि सैनिक जीतें, सफलताजनित उद्धतता और राजवंशीय दुरभिसन्धियां जर्मनी को फ़्रांस के अंगभंग के मार्ग पर ले जाती हैं तो उसके लिये केवल दो ही रास्ते रह जाते हैं: या तो हर जोखिम उठाकर उसे रूसी राज्य-विस्तार का **प्रकट** हथियार बनना पड़ेगा या थोड़े अवकाश के बाद उसे एक नये "प्रतिरक्षात्मक" युद्ध के लिये फिर तैयार होना होगा। और यह युद्ध उन नवकल्पित युद्धों की तरह "स्थान-सीमित" युद्ध नहीं होगा, बल्कि यह **जाति-युद्ध** होगा—संयुक्त स्लाव और रोमन जातियों के साथ युद्ध।

जर्मन मज़दूर वर्ग ने इस युद्ध का, जिसे रोकना उसकी सामर्थ्य के बाहर था, दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है, यह सोचकर किया है कि यह युद्ध जर्मनी की स्वाधीनता के लिये और फ़्रांस और यूरोप को द्वितीय साम्राज्यरूपी उस विनाशकारी दुःस्वप्न से मुक्त करने के लिये है। वे कारख़ानों और देहात के जर्मन मज़दूर थे, जो अपने अर्द्ध-क्षुधाग्रस्त परिवारों को पीछे छोड़कर वीरतापूर्वक लड़नेवाली सेनाओं के रग और पुट्ठों का काम कर रहे थे। विदेशी युद्धों में एक बड़ी संख्या

में मौत का शिकार होने के बाद अब वे तबाही के कारण देश में भी एक बड़ी संख्या में मारे जायेंगे। बदले में अब वे भी "गारंटियों" की मांग कर रहे हैं– ऐसी गारंटियों की कि उनका यह भारी बलिदान, कि उन्होंने स्वतंत्रता लड़कर हासिल की है, बेकार न हो जाये, कि साम्राज्यीय फ़ौजों पर प्राप्त की गयी विजय १८१५ की भांति जर्मन जनता की पराजय में परिवर्तित नहीं की जायेगी।[139] और इन गारंटियों में सबसे पहली गारंटी वे यह चाहते हैं कि **फ़्रांस से सम्मानपूर्वक सन्धि की जाये** और **फ़्रांसीसी जनतन्त्र को मान्यता प्रदान की जाये।**

जर्मन समाजवादी-जनवादी मज़दूर पार्टी की केन्द्रीय समिति ने ५ सितम्बर को एक घोषणापत्र निकालकर इन गारंटियों की पुरज़ोर मांग की। उसमें उसने कहा :

"हम अल्सास और लोरेन के समामेलन का विरोध करते हैं। और हमें यह एहसास है कि हम जर्मन मज़दूर वर्ग की ओर से बोल रहे हैं। फ़्रांस और जर्मनी के समान हित में, शान्ति और स्वातंत्र्य के हित में, पूर्वीय बर्बरता के विरुद्ध पश्चिमी सभ्यता के हित में जर्मन मज़दूर वर्ग अल्सास और लोरेन का समामेलन कदापि चुपचाप सहन नहीं करेगा... हम सर्वहारा वर्ग के समान अन्तर्राष्ट्रीय ध्येय के लिये हर देश के अपने मज़दूर-बन्धुओं का वफ़ादारी से साथ देंगे!"

दुर्भाग्यवश, हम यह आशा नहीं कर सकते कि उन्हें तत्काल सफलता मिलेगी। फ़्रांस के मज़दूर जब शान्ति की अवस्था में आक्रामकों को रोकने में असफल हुए, तो क्या जर्मन मज़दूरों के लिये हथियारों की खनखनाहट के बीच विजेताओं को रोकने में सफल होने की अधिक सम्भावना हो सकती है? जर्मन मज़दूरों के घोषणापत्र में एक साधारण आततायी की हैसियत से लूई बोनापार्त को फ़्रांसीसी जनतन्त्र के हवाले कर देने की मांग की गयी है। परन्तु इसके विपरीत उनके शासक लूई बोनापार्त को, फ़्रांस को चौपट करने के लिये योग्यतम पुरुष की तरह, तूलरी में[140] पुनः प्रतिष्ठित करने की भरपूर कोशिश में लगे हुए हैं। जो भी हो, इतिहास यह सिद्ध करेगा कि जर्मन मज़दूर वर्ग उस कच्ची धातु से नहीं बना है, जिससे कि जर्मन पूंजीपति वर्ग बना है। वह अपना कर्त्तव्य पूरा करेगा।

उन्हीं की तरह, हम भी फ़्रांस में जनतन्त्र की स्थापना का स्वागत करते हैं, पर साथ ही हमें कुछ आशंकाएं भी हैं जो, हम आशा करते हैं, निराधार सिद्ध होंगी। जनतन्त्र ने राजसिंहासन का अन्त नहीं किया है, अपितु उसका रिक्त स्थान ग्रहण कर लिया है। जनतन्त्र की घोषणा सामाजिक विजय के रूप में नहीं की

गयी, वरन् प्रतिरक्षा के लिये राष्ट्रीय कार्रवाई के रूप में। जनतन्त्र एक ऐसी अस्थायी सरकार के हाथों में है, जिसमें कुछ तो कुख्यात आर्लियानिस्ट और कुछ पूंजीवादी जनतन्त्रवादी हैं, जिनमें से कई के माथों पर जून १८४८ की बग़ावत ने कलंक का अमिट टीका लगा दिया है। इस सरकार के सदस्यों के बीच जो पद-विभाजन हुआ है, वह भी बेढंगा सा है। आर्लियानिस्टों ने फ़ौज और पुलिस के ज़बर्दस्त महकमों पर क़ब्ज़ा कर लिया है, जबकि जनतन्त्रवाद का दम भरनेवालों के हिस्से में बकवास करनेवाले विभाग पड़े हैं। उनके कुछ आरम्भिक कारनामे पर्याप्त स्पष्टता के साथ प्रगट करते हैं कि उन्होंने साम्राज्य से विरासत में केवल बरबादी ही नहीं प्राप्त की है, वरन् मज़दूर वर्ग के प्रति ख़ौफ़ भी अपना लिया है। यदि जनतन्त्र से अनाप-शनाप शब्दों में असम्भव वस्तुओं की मांग की जा रही है, तो क्या उसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक "सम्भव" सरकार की मांग की तैयारी हो रही है? क्या जनतन्त्र के कुछ पूंजीवादी सूत्रधार उसे केवल एक कामचलाऊ बन्दोबस्त और आर्लियानिस्ट हुकूमत की पुनःस्थापना के लिये सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल करना नहीं चाह रहे हैं?

अतः फ़्रांस का मज़दूर वर्ग बहुत ही टेढ़े मार्ग से गुज़र रहा है। वर्तमान संकट में, जबकि शत्रु पेरिस के द्वार पर खड़ा है, नयी सरकार को उलटने की कोई भी कोशिश भयंकर मूर्खता होगी। फ़्रांस के मज़दूरों को अपना नागरिक कर्त्तव्य अवश्य ही पूरा करना चाहिये, किन्तु साथ ही उन्हें फ़्रांसीसी किसानों की तरह, जिन्होंने अपने को प्रथम साम्राज्य की राष्ट्रीय परम्पराओं के धोखे में आने दिया था, अपने को १७९२ की राष्ट्रीय परम्पराओं के धोखे में नहीं आने देना चाहिये। उन्हें अतीत के गीत नहीं गाने हैं, वरन् भविष्य का निर्माण करना है। उन्हें जनतन्त्रीय स्वातंत्र्य द्वारा जो सुविधायें प्राप्त हैं, उन्हें शान्ति और संकल्प के साथ अपने वर्ग-संगठन के कार्यों के लिये और भी पर्याप्त बनाना चाहिये। ऐसा करने से उन्हें फ़्रांस के नवोत्थान के लिये तथा हमारे संयुक्त कार्य, अर्थात् श्रम की मुक्ति के लिये हरकुलीज़ के समान नया बल प्राप्त होगा। उनकी स्फूर्ति और बुद्धिमत्ता पर जनतन्त्र का भाग्य निर्भर करता है।

इंगलैंड के मज़दूर फ़्रांसीसी जनतन्त्र को मान्यता प्रदान करने में बाहर से स्वस्थ दबाव के द्वारा अपनी सरकार की आनाकानी को दूर करने की दिशा में पग उठा चुके हैं।[141] ब्रिटिश सरकार की मौजूदा टालमटोल का उद्देश्य शायद १७९२ के जैकोबिन-विरोधी युद्ध के लिये और coup d'état को मान्यता प्रदान करने में दिखायी गयी भोंडी जल्दबाज़ी के लिये प्रायश्चित्त करना है।[142] इंगलैंड के मज़दूर

अपनी सरकार से यह भी मांग कर रहे हैं कि वह फ़्रांस का अंगभंग किये जाने का, जिसकी कुछ अंग्रेज़ी अख़बार बड़ी बेहयाई के साथ ज़ोर-शोर से मांग कर रहे हैं, अपनी पूरी शक्ति से विरोध करे। ये वे ही अख़बार हैं, जिन्होंने बीस वर्ष तक लूई बोनापार्त को यूरोप का विधाता कहकर उसकी पूजा की थी और जिन्होंने अमरीकी दास-स्वामियों के विद्रोह को उन्मत्त हर्ष-ध्वनि के साथ प्रोत्साहन दिया था।[143] उस समय की ही तरह आज भी ये अख़बार दास-स्वामियों की चाकरी करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की शाखाओं को चाहिये कि वे हर देश में मज़दूर वर्ग को संघर्ष के लिये आन्दोलित करें। यदि वे अपने कर्त्तव्य में चूकेंगे, यदि वे निष्क्रिय रहेंगे, तो वर्तमान विराट् युद्ध इससे भी अधिक विनाशकारी अन्तर्राष्ट्रीय लड़ाइयों का अग्रदूत बनेगा, और हर राष्ट्र में तलवार धारण करनेवाले, धरती और पूंजी के स्वामी मज़दूरों के ख़िलाफ़ और भी नई विजय प्राप्त करेंगे।

Vive la République!*

२५६, हाई हॉलबर्न,
लन्दन, वेस्टर्न सेंट्रल,
६ सितम्बर १८७०।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

मार्क्स द्वारा ६–६ सितम्बर १८७० में लिखित।

११–१३ सितम्बर १८७० को अंग्रेज़ी तथा जर्मन भाषाओं में पर्चों के रूप में और सितम्बर – दिसम्बर १८७० में जर्मन तथा फ़्रांसीसी भाषाओं के समाचारपत्रों में प्रकाशित।

* जनतन्त्र की जय! – **सं०**

फ़्रांस में गृहयुद्ध

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल की चिट्ठी

यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सभी सदस्यों के नाम

१

सितम्बर १८७० को, जब पेरिस के मज़दूरों ने जनतन्त्र की घोषणा की, जिसका पूरे फ़्रांस में, बिना एक भी विरोधी आवाज़ के, तत्काल स्वागत किया गया, पदलोलुप बैरिस्टरों के एक गुट ने, जिसके राजनीतिज्ञ थियेर और सेनापति त्रोशू थे, टाउनहॉल पर क़ब्ज़ा कर लिया। उस समय उनके दिमाग़ में यह प्रबल अन्धविश्वास बैठा हुआ था कि पेरिस का ही यह मिशन है कि वह ऐतिहासिक संकट के प्रत्येक काल में पूरे फ़्रांस का प्रतिनिधित्व करे; अतः फ़्रांस के शासक होने के अपने अपहृत पदों के दावे का औचित्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने पेरिस के प्रतिनिधि होने का कालातीत आदेश पेश करना काफ़ी समझा। इन लोगों के सत्ताधारी होने के पांच दिन बाद, पिछले युद्ध के विषय में अपनी दूसरी चिट्ठी में हम आपको बता चुके हैं कि ये कौन लोग थे*। पर घटनाओं की आकस्मिकता के कारण पैदा हुई खलबली में, जबकि मज़दूर वर्ग के असली नेता अब भी बोनापार्त के कैदख़ानों में बन्द थे और प्रशा की फ़ौजें पेरिस पर चढ़ी आ रही थीं, पेरिस ने इन लोगों द्वारा सत्ताग्रहण को केवल इस लाज़िमी शर्त के साथ बर्दाश्त किया था कि यह सत्ता एक ही चीज़, अर्थात् राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिये इस्तेमाल की जायेगी। लेकिन बिना पेरिस के मज़दूरों को हथियारबन्द किये, बिना उनको एक कारगर शक्ति के रूप में संगठित किये और बिना आम मज़दूरों को ख़ुद लड़ाई द्वारा युद्धकला में प्रशिक्षित किये पेरिस की रक्षा नहीं की जा सकती थी। साथ ही पेरिस के हथियारबन्द होने का अर्थ क्रान्ति का हथियारबन्द होना था। प्रशा के आक्रमणकारियों पर पेरिस की विजय फ़्रांसीसी पूंजीपतियों और उनकी सरकार के मुफ़्तख़ोरों पर फ़्रांस के मज़दूरों की विजय होती। राष्ट्रीय

---

*प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २६२ – २६३। – सं०

कर्त्तव्य श्रौर वर्ग-हित के इस टकराव में राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार राष्ट्र-विमुखता की सरकार बनने में एक क्षण के लिये भी न हिचकिचाई।

पहला काम उन्होंने यह किया कि थियेर को एक बादशाह के बदले जनतन्त्र को बेच देने के प्रस्ताव के साथ मध्यस्थता की भिक्षायाचना के अभिप्राय से यूरोप के राजदरबारों का गश्ती दौरा करने के लिये भेजा। पेरिस का घेरा आरम्भ होने के चार महीने बाद, जब उन्होंने सोचा कि आत्मसमर्पण की चर्चा छेड़ने का उपयुक्त अवसर अब आ गया है, तो त्रोशू ने जूल फ़ाव्र और अपने अन्य सहकर्मियों की उपस्थिति में पेरिस के मेयरों की एक बैठक में निम्न शब्द कहे:

"उसी ४ सितम्बर की शाम को मेरे सहकर्मियों ने मुझसे सबसे पहला सवाल यह पूछा था: क्या पेरिस कामयाबी की ज़रा भी उम्मीद लेकर प्रशा की फ़ौज की घेरेबन्दी का मुक़ाबला कर सकता है? मैंने बिना किसी हिचकिचाहट के जवाब दिया—नहीं। हमारे कुछ सहकर्मी, जो यहां मौजूद हैं, आपको बता सकते हैं कि मैं जो कह रहा हूं वह सही है और यह कि मैं बराबर इसी राय पर क़ायम रहा हूं। मैंने उनसे बिल्कुल ये ही शब्द कहे: मौजूदा हालत में प्रशा की फ़ौज की घेरेबन्दी का मुक़ाबला करने की कोशिश करना पेरिस के लिये बेवक़ूफ़ी होगी। मैंने यह भी कहा कि बेशक यह एक बहादुराना बेवक़ूफ़ी होगी, पर इसके अलावा और कुछ नतीजा न निकलेगा... घटनाओं ने" (स्वयं त्रोशू द्वारा उत्पन्न की हुई) "स्पष्ट कर दिया है कि मेरी पूर्वकल्पना ग़लत न थी।"

उस अवसर पर उपस्थित मेयरों में से एक, कार्बो ने, त्रोशू का यह छोटा-सा सुन्दर भाषण बाद में प्रकाशित किया।

अतः जनतन्त्र की घोषणा के दिन संध्याकाल से ही त्रोशू के सहकर्मियों को मालूम था कि त्रोशू की "योजना" पेरिस के आत्मसमर्पण की योजना है। यदि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा का प्रश्न थियेर, फ़ाव्र और उनकी मण्डली द्वारा अपनी वैयक्तिक हुकूमत क़ायम रखने का एक बहाना मात्र न होता, तो ४ सितम्बर के नये नवाबों ने पांच तारीख़ को ही गद्दी छोड़ दी होती, और पेरिस निवासियों के सामने त्रोशू की "योजना" रखकर कहा होता कि या तो फ़ौरन आत्मसमर्पण करो, वरना अपने भाग्य का ख़ुद फ़ैसला करने के लिये तैयार हो जाओ। ऐसा करने के बजाय इन कुख्यात धोखेबाज़ों ने यह फ़ैसला किया कि भुखमरी और डंडेबाज़ी के नुसख़े द्वारा पेरिस की बहादुराना बेवक़ूफ़ी का इलाज किया जाये, और फ़िलहाल शब्दाडंबरपूर्ण घोषणापत्रों द्वारा, जिनमें कहा गया था—"पेरिस का गवर्नर त्रोशू हरगिज़ आत्मसमर्पण नहीं करेगा", विदेश मंत्री जूल फ़ाव्र "सुई

की नोक बराबर भी भूमि या क़िले की एक ईंट तक न देगा", पेरिस को उल्लू बनाकर रखा जाये। गाम्बेत्ता को लिखे एक पत्न में इसी जूल फ़ाव्र ने स्वीकार किया है कि वे लोग प्रशा के सैनिकों से नहीं, बल्कि पेरिस के मज़दूरों से "प्रतिरक्षा कर रहे थे"। घेरेबन्दी की पूरी अवधि में ये बोनापार्तपंथी ठग, जिन्हें त्रोशू ने बड़ी होशियारी के साथ पेरिस की फ़ौज की कमान सौंप रखी थी, अपने आपसी पत्नव्यवहार में प्रतिरक्षा के झूठे दिखावे को लेकर, जिसे वे अच्छी तरह झूठा दिखावा ही समझते थे, गन्दे मज़ाक़ किया करते थे। (उदाहरण के लिए, पेरिस की प्रतिरक्षा-सेना के तोपख़ाने के सर्वोच्च कमाण्डर तथा ग्रैण्ड-क्रॉस-ऑफ़-दि-लीजन-ऑफ़-ऑनर आल्फ़ॉस साइमन ग्वीयो और तोपख़ाना डिवीजन के जनरल सूज़ान का पत्नव्यवहार देखिये, जो कम्यून के *«Journal Officiel»*[144] में प्रकाशित हुआ था।) मक्कारी का यह नक़ाब आख़िरकार २८ जनवरी १८७१[145] को त्याग दिया गया। घोर आत्मपतन द्वारा यह दिखाते हुए कि वह कितनी बहादुर है राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार आत्मसमर्पण के क्षण में बिस्मार्क के बन्दियों की सरकार के रूप में प्रकट हुई – यह एक ऐसी घृणित भूमिका थी, जिसे मंजूर करने में लूई बोनापार्त तक सेदान में झिझका था। १८ मार्च की घटनाओं के बाद capitulards[146] जब सिर पर पैर रखकर वेर्साई भागे तो पेरिस में वे अपनी गद्दारी के ऐसे काग़ज़ी सबूत छोड़ गये, जिन्हें नष्ट करने के लिए (जैसा कि प्रान्तों के नाम अपने घोषणापत्न में कम्यून ने कहा) "ये लोग पेरिस को ख़ून के सागर में डूबे हुए खण्डहरों का एक ढेर बना देने से भी बाज़ न आयेंगे"।

प्रतिरक्षा-सरकार के कुछ मुख्य सदस्य अपने कुछ ख़ास कारणों से घटनाओं की ऐसी निष्पत्ति के लिए अत्यन्त उत्सुकता के साथ सचेष्ट थे।

युद्धविराम-सन्धि पर हस्ताक्षर के बाद ही राष्ट्रीय सभा में पेरिस के एक प्रतिनिधि, श्री मिल्येर ने, जिन्हें अब जूल फ़ाव्र के ख़ास हुक्म से गोली से उड़ा दिया गया है, आधिकारिक क़ानूनी दस्तावेज़ों की एक माला प्रकाशित की, जिससे उन्होंने यह सिद्ध किया कि जूल फ़ाव्र ने, जो अल्जीरिया में जाकर रहनेवाले एक पियक्कड़ की बीवी को रखेल बनाकर रखे हुए था, कई वर्षों के दरमियान घोर दुस्साहसपूर्ण जालसाज़ियों द्वारा अपने व्यभिचार की औलादों के नाम पर एक बड़ी विरासत तिकड़म से हजम करके धनी बन गया था; और जब असली उत्तराधिकारियों ने उसके ख़िलाफ़ अदालत में मुक़द्दमा चलाया, तो बोनापार्त की अदालतों की चश्मपोशी की वजह से ही उसकी जान बची। गला फाड़-फाड़कर तक़रीरें करने की कितनी भी अश्वशक्ति द्वारा चूंकि इन ठोस क़ानूनी दस्तावेज़ों

को उड़ा देना सम्भव न था, इसलिए जूल फ़ाव्र, ज़िन्दगी में पहली बार, मौन साधकर रह गया और चुपचाप गृहयुद्ध के आरम्भ होने की प्रतीक्षा करने लगा ताकि उसे पेरिसवालों को परिवार, धर्म, अमन और सम्पत्ति के दुश्मन, जेलख़ाने से भागे हुए क़ैदियों की उपमा देकर बदनाम करने का सुअवसर प्राप्त हो। इसी जालसाज़ ने ४ सितम्बर के बाद सत्तारूढ़ होते ही बड़ी ही हमदर्दी से पिक और तैयेफ़ेर को, जिन्हें साम्राज्य तक के ज़माने में कुख्यात *«Étendard»*[147] काण्ड के सम्बन्ध में जालसाज़ी के लिए सज़ा दी गयी थी – छुट्टा छोड़ दिया। इनमें से तैयेफ़ेर ने कम्यून के दिनों में पेरिस लौटने का दुस्साहस किया; फलतः फ़ौरन उसे जेल में डाल दिया गया। फिर भी जूल फ़ाव्र राष्ट्रीय सभा के मंच से यह कहने से बाज़ न आया कि पेरिसवाले सभी दाग़ी मुजरिमों को जेल से रिहा कर रहे हैं!

एर्नेस्ट पीकार, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा-सरकार का यह जॉ मिलर*, जो साम्राज्य का गृह-मंत्री बनने का निष्फल प्रयास करने के बाद जनतंत्र का वित्त-मंत्री बन बैठा था, आर्थर पीकार नामक एक आदमी का भाई है, जो पेरिस के हुण्डी-बाज़ार से ठगी के लिए निकाला गया था (देखिये पुलिस-कमिश्नर विभाग की रिपोर्ट, ३१ जुलाई १८६७) और जिसे *«Société Générale»*[148] की एक शाखा (५, पालेस्त्रो मार्ग) का मैनेजर होते हुए तीन लाख फ़्रैंक चुराने के लिए, ख़ुद इक़बाल करने पर, सज़ा मिल चुकी है (देखिये पुलिस-कमिश्नर विभाग की रिपोर्ट, ११ दिसम्बर १८६८)। एर्नेस्ट पीकार ने इसी आर्थर पीकार को अपने अख़बार *«Électeur libre»*[149] का सम्पादक बनाया। जिस समय वित्त-मंत्रालय के इस अख़बार के सरकारी झूठों द्वारा हुण्डी-बाज़ार के साधारण स्टाक-दलाल गुमराह किये जा रहे थे, आर्थर महोदय वित्त-मंत्रालय और हुण्डी-बाज़ार के बीच फ़्रांसीसी फ़ौज की पराजयों का बट्टा वसूल करने के लिए चक्कर काट रहे थे। इन लायक़ भाइयों का सारा वित्तीय पत्रव्यवहार कम्यून के हाथों में आ गया।

जूल फ़ेरी, जो ४ सितम्बर से पहले एक निर्धन बैरिस्टर था, पेरिस के मेयर की हैसियत से घेरे के समय अकाल की स्थिति से फ़ायदा उठाकर तिकड़म से दौलतमन्द बन गया। अगर किसी दिन उसे अपने कुशासन का हिसाब देना पड़ा तो वह जेल में पहुंच जायेगा।

---

* १८७१ तथा १८९१ के जर्मन संस्करण में कार्ल फ़ोग्ट और १८७१ के फ़्रांसीसी संस्करण में फ़ल्स्ताफ़। – सं०

चुनांचे ये सभी लोग ऐसे थे, जिन्हें पेरिस की बर्बादी के ज़रिए ही अपनी छुट्टी का टिकट [tickets-of-leave]* प्राप्त हो सकता था। बिस्मार्क ऐसे ही लोगों की तलाश में था। थियेर, जो अभी तक पर्दे के पीछे से सरकार को सलाह दे रहा था, ताश के पत्तों में ज़रा सा हेरफेर करके उसका प्रधान बन गया; और "छुट्टी के टिकटवाले" (ticket-of-leave-men] सज्जन उसके मंत्री बन गये।

इस पैशाचिक बौने, थियेर ने प्रायः आधी शताब्दी से फ़ांस के पूंजीपति वर्ग को मोह रखा है, क्योंकि वह उसके वर्ग-भ्रष्टाचार की पूर्णतम बौद्धिक अभिव्यक्ति का जीता-जागता नमूना है। राजनीतिज्ञ बनने से पहले ही वह इतिहासकार की हैसियत से झूठ बोलने में अपनी महारत का प्रमाण दे चुका था। उसके सार्वजनिक जीवन का इतिहास फ़ांस की दुर्गतियों का इतिहास है। १८३० से पहले वह जनतंत्रवादियों के साथ था, पर अपने संरक्षक लाफ़ीत के साथ ग़द्दारी करके और पादरियों के ख़िलाफ़ भीड़ द्वारा दंगे उकसाकर, जिनके दौरान सेंत-जेर्मे लोसेरोवा का गिरजाघर और प्रधान बिशप का महल लूट लिया गया था, और बेरी की डचेस के ख़िलाफ़ मन्त्री-जासूस और जेल-प्रसावक बनकर बादशाह का कृपापात्र बन गया और लूईफ़िलिप की सरकार में घुस गया।[150] त्रांसनोनैं मार्ग में जनतंत्रवादियों का हत्याकाण्ड और बाद में समाचारपत्रों और संघबद्धता के अधिकार के विरुद्ध सितम्बर के कुख्यात क़ानून उसके ही कारनामे थे।[151] मार्च १८४० में मंत्रिमंडल के नेता के रूप में पुनः अवतरित होकर उसने पेरिस को क़िलाबन्द करने की अपनी योजना द्वारा सारे फ़ांस को स्तम्भित कर दिया।[152] जनतन्त्रवादियों ने जब उसकी योजना को पेरिस की मुक्ति का अपहरण करने की एक अनिष्टकारी योजना कहा, तो फ़ांसीसी संसद के मंच से उसने यह जवाब दिया:

"क्या? सोचिये तो, भला किसी प्रकार की क़िलेबन्दी भी आज़ादी के लिए ख़तरा बन सकती है! पहले तो आपका यह ख़याल कि कोई भी सरकार राजधानी पर गोलाबारी करके अपने को क़ायम रखने की कोशिश करेगी, उसे

---

*इंगलैंड में सज़ायाफ़्ता क़ैदियों को सज़ा का अधिक भाग काट चुकने पर पैरोल पर रिहा किया जाता है और वे पुलिस की निगरानी में रहते हैं। ऐसी रिहाई के समय उन्हें एक काग़ज़ दिया जाता है, जिसे छुट्टी का टिकट (tickets-of-leave) कहते हैं। ऐसे क़ैदी "छुट्टी के टिकटवाले" (ticket-of-leave-men) कहलाते हैं। (१८७१ के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

सरकार के नाम पर कलंक लगाना है... यदि ऐसा हुआ तो उस सरकार का, विजय पाने के बाद, पहले के मुक़ाबले में चलना सौ बार अधिक असंभव हो जायेगा।"

बेशक कोई भी सरकार पेरिस पर क़िलों से गोलाबारी करने की कभी हिम्मत न करती सिवा उसके जिसने पहले से ही इन क़िलों को प्रशा की फ़ौज के हवाले कर दिया हो।

जब शाह बोम्बा* ने जनवरी १८४८ में पलेर्मो नगर पर गोलाबारी की थी उस समय थियेर ने, जो एक लम्बे अरसे से मंत्रिमंडल से बाहर था, संसद में फिर कहा था :

"महानुभावो, आपको मालूम है कि पलेर्मो में क्या हो रहा है। यह सुनकर आप लोग थर्रा उठते हैं" (संसदीय अर्थ में) "कि अड़तालीस घंटों से एक बड़े शहर के ऊपर गोलाबारी की जा रही है—और किसके द्वारा? क्या कोई विदेशी शत्रु युद्ध के अधिकार का प्रयोग करते हुए यह कार्य कर रहा है? नहीं, सज्जनो! यह कार्य वहां की ख़ुद अपनी सरकार कर रही है। और क्यों? इसलिए कि उस अभागे नगर ने अपने अधिकारों की मांग की थी। जी हां, अपने अधिकारों की मांग करने के लिए उसे अड़तालीस घंटों की यह गोलाबारी इनाम में मिली है ... मुझे यूरोप के जनमत का आह्वान करने की आज्ञा दीजिए। हम मानव-जाति की सेवा करेंगे यदि हम उठें और इस मंच से, जो सम्भवतः यूरोप के जनगण का सबसे बड़ा न्यायाधिकरण है, ऐसे कार्यों के विरुद्ध रोष के कुछ शब्द" (जी हां, शब्द) "बुलंद करें ... जब रीजेंट एस्पार्तेरो ने, जिन्होंने अपने देश की सेवा की थी" (जो थियेर महोदय ने कभी नहीं की) "बार्सेलोना के विद्रोहियों का दमन करने के लिए उस नगर पर गोलाबारी करनी चाही थी, तो दुनिया के सभी भागों में आक्रोश का स्वर गूंज उठा था।"

इसके अठारह ही महीने बाद थियेर महोदय फ़्रांसीसी सेना द्वारा रोम पर गोलाबारी[153] के उग्रतम समर्थकों में से थे। लगता है कि शाह बोम्बा का दोष केवल यह था कि उसने अपनी गोलाबारी अड़तालीस घंटों तक ही सीमित रखी थी।

फ़रवरी क्रान्ति के कुछ दिन पहले गीज़ो द्वारा एक लम्बे अर्से के लिए पद और धन-दौलत से निर्वासित किये जाने के कारण खार खाये हुए थियेर ने, हवा में आसन्न जन-विप्लव की गन्ध पाकर, अपने उस दिखावटी बहादुराना अन्दाज़

---

* फ़र्दीनांद द्वितीय। — सं०

में, जिसके कारण उसे "Mirabeau-mouche"* का लक़ब दिया गया था, संसद में घोषणा की:

"मैं क्रान्ति की पार्टी का समर्थक हूं, केवल फ़्रांस में ही नहीं, वरन् सारे यूरोप में। मैं चाहता हूं कि क्रान्ति की सरकार उदारपंथी लोगों के हाथ में रहे... किन्तु यह सरकार यदि सरगर्म लोगों के हाथों में, उग्रपंथियों तक के हाथों में चली जाये, तब भी मैं अपने पक्ष का परित्याग नहीं करूंगा। मैं सदा क्रान्ति की पार्टी का समर्थक रहूंगा।"

फ़रवरी क्रान्ति आयी। गीज़ो मंत्रिमण्डल को हटाकर थियेर मंत्रिमण्डल को सत्तारूढ़ करने के बदले, जैसा कि इस बौने ने आशा लगा रखी थी, क्रान्ति ने लूई-फ़िलिप को अधिकारच्युत करके जनतंत्र स्थापित कर दिया। जनता की विजय के पहले दिन उसने अपने को सतर्कता के साथ छिपा रखा था, वह यह भूल गया था कि उसके प्रति मजदूरों की तिरस्कार-भावना उसे उनकी नफ़रत का शिकार होने से बचा लेगी। तो भी, अपने उसी काल्पनिक साहस के साथ वह तब तक सार्वजनिक मंच पर प्रगट होने से कतराता रहा, जब तक कि जून के हत्याकाण्ड ने उसके ढंग की कार्रवाइयों के लिए मैदान साफ़ नहीं कर दिया। तब वह अमन की पार्टी[154] तथा उसके संसदीय जनतन्त्र का, उस गुमनाम राज्यान्तराल का प्रधान मस्तिष्क बन गया, जिसमें शासक वर्ग के सभी प्रतिद्वन्द्वी गुट जनता को कुचलने के लिए एकजुट हो गये थे तथा अपने-अपने राजवंशों को गद्दी पर बैठाने के लिए एक दूसरे के ख़िलाफ़ षड्यन्त्र कर रहे थे। आज की तरह उस समय भी थियेर ने जनतन्त्रवादियों को जनतन्त्र के सुदृढ़ीकरण के मार्ग में एकमात्र बाधा कहकर उनकी भर्त्सना की। आज की तरह उस समय भी उसने जनतंत्र को उसी तरह सम्बोधित किया था जिस तरह जल्लाद ने डॉन कार्लोस को सम्बोधित किया था: "मैं तेरा सिर धड़ से अलग करूंगा, मगर तेरे ही फ़ायदे के लिए।" और उस समय की भांति इस बार भी अपनी विजय के दूसरे ही दिन उसे ऐलान करना होगा: L'Empire est fait – साम्राज्य की पूर्ण सिद्धि हो चुकी है। अपेक्षित स्वातंत्र्यों के सम्बन्ध में उसके ढोंगी सदुपदेशों और लूई बोनापार्त के प्रति, जिसने उसे उल्लू बनाया था और जिसने संसद-पद्धति को ठोकर मारकर बाहर कर दिया था, – और यह बौना जानता था कि उसका जो कुछ अस्तित्व है, संसद के कृत्रिम वातावरण में ही है – व्यक्तिगत वैमनस्य

* "मिराबो-मक्खी"। – सं०

के बावजूद दूसरे साम्राज्य की तमाम अपकीर्तियों में उसका हाथ रहा है—फ़ांसीसी सेनाओं द्वारा रोम पर क़ब्ज़ा होने से लेकर प्रशा से युद्ध तक, जिस युद्ध को थियेर ने जर्मन एकता के खिलाफ़ आग उगलकर उकसाया था, इसलिए नहीं कि यह एकता प्रशा की निरंकुशता की नकाब बनी हुई थी, बल्कि इसलिए कि वह जर्मन विच्छेद में फ़ांस के निहित स्वार्थ का अतिक्रमण थी। अपने बौने हाथों से उसे यूरोप के समक्ष नेपोलियन प्रथम की तलवार भांजने का बड़ा शौक़ था, गोकि ऐतिहासिक दृष्टि से उसने केवल उसके जूते पालिश करने का स्थान प्राप्त किया है। १८४० के लन्दन समझौते[155] से १८७१ के पेरिस के आत्मसमर्पण और वर्तमान गृहयुद्ध तक, जिसमें बिस्मार्क की विशेष मंजूरी द्वारा उसने पेरिस पर सेदान और मेत्ज़ के युद्धबन्दियों को शिकारी कुत्तों की तरह छोड़ दिया था,[156] उसकी विदेश नीति द्वारा फ़ांस को बराबर नतमस्तक होना पड़ा है। अपनी प्रतिभा के वैविध्य तथा अपने उद्देश्यों की परिवर्तनीयता के बावजूद यह आदमी सारी जिन्दगी एकदम लकीर का फ़क़ीर रहा है। यह स्वतःसिद्ध है कि आधुनिक समाज की धाराओं की गहराई को वह कभी नहीं देख पाया; सतह पर दिखाई देनेवाले बिल्कुल स्पष्ट परिवर्तन भी ऐसे मस्तिष्क के लिए घृणास्पद थे, जिसकी सारी शक्ति सिमट कर ज़बान पर आ गयी थी। इस प्रकार वह फ़ांस की पुरानी संरक्षण-प्रणाली में तनिक भी हेरफेर को धर्मोल्लंघन घोषित करके उसकी निन्दा करने से कभी नहीं थकता था। जब वह लूईफ़िलिप का मन्त्री था तो रेलवे के खिलाफ़ उसने शोर मचाया कि वह महज़ ख्याली पुलाव है और लूई बोनापार्त के समय में, जब वह विरोध-पक्ष में था, उसने फ़ांस की सड़ी-गली सैन्य-व्यवस्था में सुधार की हर कोशिश को दूषण की संज्ञा दी। अपने लम्बे राजनीतिक जीवन में उसने कभी भी व्यावहारिक रूप से उपयोगी छोटे से छोटा भी क़दम उठाने की ग़लती नहीं की। थियेर ने केवल एक ही चीज़ में बराबर सुसंगतता का परिचय दिया: दौलत इकट्ठा करने के लालच में और उन लोगों के प्रति घृणा में, जो दौलत पैदा करते हैं। लूईफ़िलिप के अन्तर्गत थियेर ने अपनी पहली मिनिस्ट्री में जॉब की दरिद्रावस्था में पदार्पण किया था, किन्तु अपना पद छोड़ते वक़्त वह करोड़पति बन गया था। उसी बादशाह के अन्तर्गत थियेर की आख़िरी (१ मार्च १८४० से लेकर) मिनिस्ट्री ने उसे संसद में ग़बन के सार्वजनिक उपहास का पात्र बनाया, जिसका उत्तर उसने केवल आंसू बहाकर दिया—थियेर के लिए ये घड़ियाली आंसू उतने ही सहज थे, जितने कि वे ज़ूल फ़ाव्र, या और किसी दूसरे घड़ियाल के लिए थे। बोर्दो में आसन्न वित्तीय तबाही से फ़ांस को बचाने के लिए उसने पहला

काम यह किया कि अपने वास्ते तीस लाख फ्रैंक की सालाना राशि पक्की करा ली; यह था "मितव्ययी जनतन्त्र" का पहला और अंतिम शब्द, जिसका सब्ज़बाग़ उसने अपने पेरिस के निर्वाचकों को १८६६ में दिखाया था। १८३० की संसद के उसके एक भूतपूर्व सहकर्मी, श्री बेले ने, जो स्वयं पूंजीपति होने के बावजूद पेरिस कम्यून के वफ़ादार सदस्य थे, एक सार्वजनिक इश्तहार में थियेर को इन शब्दों में सम्बोधित किया था:

"पूंजी द्वारा श्रम को ग़ुलाम बनाये रखना सदा आपकी नीति का मूलमंत्र रहा है, और जिस दिन आपने टाउनहॉल में श्रम के जनतन्त्र को स्थापित होते देखा है, उसी दिन से आप फ़्रांस से चिल्ला चिल्लाकर कह रहे हैं: 'ये लोग मुजरिम हैं!'"

थियेर क्षुद्र राजकीय धूर्तता में निपुण, दरोग़हलफ़ी और देशद्रोह में उस्ताद, सभी क्षुद्र हथकंडों, मक्कारी से भरी तिकड़मों और संसदीय पार्टी-युद्ध की नीचतापूर्ण धोखाधड़ी में माहिर; मिनिस्ट्री से पदच्युत होने पर क्रान्ति की आग भड़काने से भी न हिचकनेवाला, और सरकार की बागडोर हाथ में आने पर ख़ूनी पंजे से क्रान्ति का गला घोंटनेवाला; विचारों के अभाव की पूर्त्ति वर्ग-सम्बन्धी पूर्वाग्रहों से करनेवाला और हृदय के अभाव की पूर्त्ति मिथ्या अहंकार से करनेवाला—इस थियेर का निजी जीवन उतना ही कुत्सित है, जितना घृणित उसका सार्वजनिक जीवन है। आज भी फ़्रांसीसी सुल्ला का पार्ट अदा करते समय वह अपनी काली करतूतों पर हास्यास्पद आडम्बरपूर्ण तमाशेबाज़ी का मुलम्मा चढ़ाने से अपने को नहीं रोक सकता।

पेरिस के आत्मसमर्पण के साथ केवल पेरिस ही नहीं, वरन् पूरे फ़्रांस को प्रशा के हवाले कर देने पर दुश्मन के साथ बहुत अरसे से चलती हुई देशद्रोह की साज़िशों का सिलसिला ख़त्म हुआ, जिसे, स्वयं त्रोशू के कथनानुसार, ४ सितम्बर को सत्ता का अपहरण करनेवालों ने उसी दिन आरम्भ कर दिया था।[४] दूसरी ओर उसके फलस्वरूप गृहयुद्ध का सूत्रपात हुआ, जिसे ये लोग प्रशा की मदद से जनतंत्र और पेरिस के विरुद्ध छेड़नेवाले थे। आत्मसमर्पण की शर्तों में ही इसका जाल बिछा दिया गया था। उस समय देश का एक तिहाई से अधिक भाग दुश्मन के हाथ में था, प्रान्तों के साथ राजधानी का सम्पर्क टूट गया था, यातायात के सभी साधन अस्तव्यस्त थे। ऐसी स्थिति में तैयारी के लिए पर्याप्त समय के बिना निर्वाचन द्वारा फ़्रांस का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त करना असम्भव

था। ऐसी दशा में आत्मसमर्पण की यह शर्त थी कि आठ दिन के अन्दर राष्ट्रीय सभा निर्वाचित हो जानी चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि फ़्रांस के बहुत-से भागों में निर्वाचन की सूचना चुनाव से केवल एक दिन पहले प्राप्त हुई। इसके अलावा, आत्मसमर्पण की एक विशेष धारा के अन्तर्गत इस राष्ट्रीय सभा का निर्वाचन केवल युद्ध अथवा शांति के प्रश्न का निर्णय करने के लिए और अन्ततः प्रशा से शान्ति-सन्धि करने के उद्देश्य से किया जा रहा था। अतः फ़्रांस की जनता यही सोच सकती थी कि युद्ध-विराम की शर्तों ने युद्ध को जारी रखना असम्भव बना दिया है, और यह कि बिस्मार्क द्वारा लादी गयी सन्धि को मंज़ूर करने के लिए फ़्रांस के निकृष्टतम लोग ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं। परन्तु इतनी सावधानी बरतने के बाद भी थियेर को संतोष न हुआ और पेरिस को विराम-सन्धि का भेद मालूम होने से पहले ही थियेर प्रान्तों में चुनाव-सम्बन्धी दौरे पर निकल गया, जहां उसका उद्देश्य लेजिटिमिस्ट पार्टी को पुनः सक्रिय बनाना था, जिसे अब आर्लियानिस्टों से मिलकर मौजूदा परिस्थिति में अशक्य बोनापार्तवादियों का स्थान लेना था। लेजिटिमिस्टों से उसे डर न था। समकालीन फ़्रांस की सरकार के रूप में असम्भव, लिहाज़ा विपक्षियों के रूप में उपेक्षणीय, इस पार्टी से अधिक और कौनसी पार्टी प्रतिक्रान्ति के हथियार के रूप में ग्राह्य हो सकती थी, जिसका कार्य-कलाप, ख़ुद थियेर के शब्दों में (प्रतिनिधियों का सदन, ५ जनवरी १८३३)

"हमेशा तीन साधनों तक सीमित था – विदेशों पर आक्रमण, गृहयुद्ध और अराजकता।"

वे अपने चिर-प्रत्याशित गतानुदर्शी स्वर्णयुग के आगमन में सचमुच विश्वास करते थे। विदेशी आक्रामक के बूट फ़्रांस की धरती को रौंद रहे थे; साम्राज्य का पतन हो चुका था, बोनापार्त बन्दी था; अतः अब बाक़ी बचे थे केवल लेजिटिमिस्ट। लगता था कि इतिहास का चक्र पीछे घूमकर १८१६ के "Chambre introuvable" पर[157] ठहर गया था। जनतन्त्र की राष्ट्रीय सभाओं में, १८४८ से १८५१ तक, उनका प्रतिनिधित्व शिक्षित तथा योग्य संसदीय प्रवक्ताओं द्वारा होता रहा; पर इस बार पार्टी के आम सदस्य – फ़्रांस के सारे के सारे ही पूरसोन्याक – सदन में घुस आये।

जैसे ही यह "देहातियों की सभा"[158] बोर्दो में आयोजित हुई, वैसे ही थियेर ने उनके सामने यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें शान्ति-सन्धि की प्रारंभिक व्यवस्थाओं

को फ़ौरन ही, संसदीय बहस के सम्मान तक के बिना, मंज़ूरी देनी होगी, क्योंकि यही एकमात्र शर्त है, जिस पर प्रशा जनतन्त्र और उसके गढ़ पेरिस के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की इजाज़त दे सकता है। निर्णय के लिए प्रतिक्रान्ति के पास अधिक समय न था। द्वितीय साम्राज्य ने राष्ट्रीय ऋण को दूने से भी अधिक संख्या पर पहुंचा दिया था, सभी बड़े शहर नगरपालिका के क़र्ज़ों में डूब गये थे। युद्ध ने राष्ट्र की देयता को भीषण रूप में स्फीत कर दिया था और राष्ट्रीय साधनों को निर्ममता के साथ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। और जो कुछ तबाही से बचा था उसके वास्ते प्रशारूपी शाइलाक फ़्रांस की भूमि पर प्रशा के ५ लाख सैनिकों को रखने के लिये और अपने ५ अरब के (बक़ाया किश्तों पर ५ फ़ीसदी सूद के साथ) हर्जाने की दस्तावेज़ के साथ मौक़े पर मौजूद था। इसका भुगतान कौन करेगा? जनतन्त्र का बलपूर्वक ख़ात्मा करके ही धन का अपहरण करनेवाले ऐसी लड़ाई के ख़र्च को, जिसे उन्होंने स्वयं आरम्भ किया था, धन पैदा करनेवालों के कन्धों पर लादने की आशा कर सकते थे। अतः फ़्रांस की भीषण तबाही ने भूमि और पूंजी के इन देशभक्त प्रतिनिधियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे आक्रमणकारियों की नज़रों के सामने और उनके संरक्षण में विदेशी युद्ध के ऊपर गृहयुद्ध चसपां कर दें, दास-स्वामियों की बग़ावत लाद दें।

इस षड्यंत्र के मार्ग में एक ही ज़बरदस्त अड़चन थी – वह थी पेरिस। पेरिस को निरस्त्र करना सफलता की पहली शर्त थी। अतः थियेर ने पेरिस को हथियार डाल देने का आदेश दिया। इसके अलावा "देहाती सभा" के उन्मादपूर्ण जनतन्त्र-विरोधी प्रदर्शन, जनतन्त्र की क़ानूनी हैसियत के बारे में ख़ुद थियेर की कूटोक्तियां, पेरिस का शिरोच्छेद करने और उसे राजधानी के दर्जे से वंचित कर देने की धमकी, आर्लियानिस्ट राजदूतों की नियुक्ति, अरसे से बक़ाया हुंडियों और घर-किराये के सम्बन्ध में पेरिस के वाणिज्य और उद्योग को तबाह करनेवाले दूफ़ोर के क़ानून,[159] किसी भी प्रकार के प्रकाशन की प्रत्येक प्रति पर पूये-कर्तिये का दो सांतीम का टैक्स, ब्लांकी और फ़्लूरैं के लिए मृत्युदण्ड की आज्ञा, जनतन्त्र-वादी पत्रों का दमन, राष्ट्रीय सभा को वेर्साई ले जाना, पालिकाओं द्वारा घोषित घेरेबन्दी का (जिसकी अवधि ४ सितम्बर को समाप्त हो गयी थी) फिर से जारी किया जाना, décembriseur[160] विनुआ को पेरिस का गवर्नर, साम्राज्यवादी जेन्दार्म वालांतीन को पुलिस-कमिश्नर और जेजुइट जनरल आरेल दे पालादीन को पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया जाना – इन सब के कारण पेरिस एकदम प्रकोपित हो उठा।

अब एक सवाल हमको श्री थियेर और उनके टहलुओं, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा वालों से पूछना है। यह बात छिपी नहीं है कि थियेर ने अपने वित्त-मंत्री पूये-कर्तिये की मार्फ़त दो अरब का ऋण लिया था। अतः क्या यह सच है कि –

१) यह सौदा इस तरक़ीब से किया गया कि थियेर, जूल फ़ाव्र, एर्नेस्ट पीकार, पूये-कर्तिये और जूल सीमां को इससे कई लाख की निजी आमदनी हुई?

२) पेरिस को "शान्त" कर देने के पहले कोई भी रक़म अदा नहीं की जायेगी? [161]

बात जो भी हो, मसला बहुत ही शदीद रहा होगा, क्योंकि थियेर और जूल फ़ाव्र ने बोर्दो-सभा के बहुमत के नाम पर प्रशा की फ़ौज द्वारा पेरिस पर फ़ौरन अधिकार कर लिये जाने का निहायत बेशर्मी के साथ अनुरोध किया था। मगर बिस्मार्क का ऐसा इरादा न था, जैसा कि जर्मनी वापस लौटने पर उसने फ़्रैंकफ़ुर्ट के अपने प्रशंसक कूपमंडूकों के सामने खिल्ली उड़ाते हुए बयान किया था।

२

प्रतिक्रान्तिकारी षड्‌यंत्र के मार्ग में सशस्त्र पेरिस ही एक बड़ी बाधा थी। अतः पेरिस को निरस्त्र करना आवश्यक था। इस प्रश्न पर बोर्दो-सभा का इरादा बिल्कल साफ़ था। "देहातियों" के गर्जन-तर्जन ने यदि किसी के सुनने-समझने में किसी प्रकार का शक बाक़ी रहा हो, तो थियेर द्वारा पेरिस को décembriseur विनुआ, बोनापार्तवादी जेन्दार्म वालांतीन और जेज़ुइट जनरल आरेल दे पालादीन के त्रिगुट के हवाले कर देने पर शक की आख़िरी गुंजाइश भी ख़त्म हो गयी। लेकिन पेरिस को निःशस्त्र करने के असली उद्देश्य को तिरस्कारपूर्वक प्रदर्शित करते हुए षड्‌यंत्रकारियों ने पेरिस को हथियार डाल देने के लिए जो बहाना पेश किया वह सरासर बेहयाई से भरा साफ़ झूठ था। थियेर ने कहा कि पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड का तोपख़ाना सरकारी है, अतः उसे राज्य को लौटा देना चाहिए। लेकिन असल बात यह थी कि आत्मसमर्पण के पहले ही दिन से, पेरिस का दमन करने के खुले उद्देश्य से एक बहुत बड़ी संख्या में अंग-रक्षकों को अपने लिए रोकते हुए, जब बिस्मार्क के बन्दियों ने फ़्रांस के आत्मसमर्पणपत्र पर हस्ताक्षर किये थे, तभी से पेरिस सजग हो गया था। राष्ट्रीय गार्ड ने अपने को पुनर्गठित किया और अपना सर्वोच्च निर्देशन, कुछ बचे-खुचे पुराने बोनापार्तवादी टुकड़ों को छोड़कर, पूरे दल द्वारा निर्वाचित केन्द्रीय समिति के हाथों में सौंप दिया। प्रशा

की फ़ौज जिस समय पेरिस में प्रवेश करनेवाली थी उस समय केन्द्रीय समिति ने कुछ तोपों और मित्रैयोज़ों को (जिन्हें आत्मसमर्पण करनेवालों ने ग़द्दारी की नीयत से जान-बूझकर ऐसे क्षेत्रों में छोड़ दिया था, जिन पर प्रशा की फ़ौजों का अधिकार होनेवाला था) मोंमार्त्र, बेलवील और ला-विलेत में हटवा देने का प्रबन्ध किया। यह तोपख़ाना राष्ट्रीय गार्ड के चन्दे से ख़रीदा गया था। २८ जनवरी के आत्मसमर्पण के समय, यह तोपख़ाना सरकारी तौर पर राष्ट्रीय गार्ड की सम्पत्ति मान लिया गया था और इसी बिना पर सरकारी हथियारों को विजेताओं के हवाले करने की शर्त से यह बरी रखा गया था। पेरिस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिए थियेर के पास छोटे से छोटे बहाने का भी इतना ज़बरदस्त टोटा था कि उसे इस सफ़ेद झूठ का सहारा लेना पड़ा कि राष्ट्रीय गार्ड का तोपख़ाना राज्य की सम्पत्ति है!

तोपख़ाने पर क़ब्ज़ा कर लेना, साफ़ तौर से, पेरिस के आम निःशस्त्रीकरण, अतएव ४ सितम्बर की क्रान्ति के निःशस्त्रीकरण के लिए प्रारंभिक क़दम था। परन्तु यह क्रान्ति फ़्रांस की वैधानिक स्थिति का रूप धारण कर चुकी थी। उसकी उपलब्धि, जनतन्त्र, को आत्मसमर्पण की शर्तों में विजेता ने मान्यता प्रदान की थी। आत्मसमर्पण के बाद सभी विदेशी राज्यों ने भी जनतन्त्र को मान्यता प्रदान की और उसके नाम पर ही राष्ट्रीय सभा की बैठक बुलायी गयी थी। पेरिस के मज़दूरों की ४ सितम्बर की क्रान्ति ही बोर्दो-स्थित राष्ट्रीय सभा और उसकी कार्यकारिणी का एकमात्र वैधानिक आधार थी। इस क्रान्ति के बग़ैर इस राष्ट्रीय सभा को १८६९ में फ़्रांसीसी – न कि प्रशा के – शासन के अन्तर्गत सर्वमताधिकार द्वारा चुनी हुई और क्रान्ति द्वारा बलपूर्वक विसर्जित विधान सभा के समक्ष तुरंत हट जाना पड़ता। तब थियेर और उसके छुट्टी के टिकट वाले साथियों को कायेन[162] की यात्रा से बचने के हेतु लूई बोनापार्त द्वारा हस्ताक्षरित अभय-पत्र के लिए अपने को समर्पित करना होता। राष्ट्रीय सभा, जिसे प्रशा के साथ शान्ति की शर्तें तय करने के लिए मुख़्तारी अधिकार प्राप्त था, इस क्रान्ति की एक गौण घटना मात्र थी; क्रान्ति का सच्चा साकाररूप अब भी सशस्त्र पेरिस था – वह पेरिस, जिसने इस क्रान्ति का श्रीगणेश किया था, भूख से तड़पते हुए जिसने इस क्रान्ति के लिए ही पांच महीने दुश्मन की घेराबन्दी झेली थी और जिसने, त्रोशू की योजना के बावजूद, लम्बे अर्से तक लड़ाई जारी रखकर प्रांतों को दृढ़ता के साथ प्रतिरक्षात्मक युद्ध चलाने का आधार प्रदान किया था। उसी पेरिस को अब या तो बोर्दो के विद्रोही दास-स्वामियों की अपमानजनक आज्ञा का पालन

करके हथियार डाल देने पर बाध्य होना था और यह मान लेना था कि उसकी ४ सितम्बर की क्रान्ति का अर्थ सीधे-सीधे इसके सिवा और कुछ न था कि उसने लूई बोनापार्त से राज्यसत्ता लेकर उसे उसके शाही प्रतिद्वन्द्वियों को हस्तान्तरित कर दिया था; या पेरिस को अब क़ुर्बानियों के साथ फ़्रांस के आत्म-बलिदानी रक्षक की शक्ल में मैदान में डटना था; क्योंकि उन राजनीतिक और सामाजिक अवस्थाओं को क्रान्तिकारी तरीक़े से ख़त्म किये बग़ैर फ़्रांस का विनाश से निस्तार, उसका पुनरुद्धार असम्भव था, जिन्होंने द्वितीय साम्राज्य को ला खड़ा किया था और जो द्वितीय साम्राज्य के लालन-पालन में परिपक्व होकर अत्यन्त गलितावस्था में पहुंच गयी थीं। पांच महीनों से अकाल पीड़ित होने पर भी पेरिस को फ़ैसला करने में एक क्षण की देर न लगी। उसने फ़्रांसीसी षड्यन्त्रकारियों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की हर कठिनाई को झेलने और लोहा लेने का वीरतापूर्वक दृढ़ संकल्प किया, इसके बावजूद कि उसके अपने ही क़िलों से प्रशा की तोपें उसके ऊपर तनी हुई थीं। तो भी गृहयुद्ध से हार्दिक घृणा रखने के कारण, गोकि पेरिस उसके लिए विवश किया जा रहा था, केन्द्रीय समिति – राष्ट्रीय सभा के उकसावों, कार्यकारिणी के अपहरणों तथा पेरिस में और उसके चारों ओर ख़तरनाक फ़ौजी जमाव के बावजूद – प्रतिरक्षात्मक रुख़ ही बनाये रही।

थियेर ने विनुआ को शहर की पुलिस के एक बहुसंख्याक दल तथा कुछ फ़ौजी रेजीमेंटों के साथ रात को चुपचाप मोंमार्त्र पर चढ़ाई करने और अचानक राष्ट्रीय गार्ड के तोपख़ाने पर क़ब्ज़ा करने के लिए भेजकर गृहयुद्ध का श्रीगणेश किया। सभी जानते हैं कि उसका यह प्रयत्न किस प्रकार राष्ट्रीय गार्ड के प्रतिरोध तथा फ़ौजी सिपाहियों द्वारा जनता के प्रति भाईचारे का व्यवहार बरतने के कारण विफल हुआ। ओरेल दे पालादीन ने पहले ही से जीत की विज्ञप्ति छपवाकर तैयार कर रखी थी और थियेर ने coup d'état सम्बन्धी अपनी कार्रवाइयों के ऐलान के पोस्टर तैयार करा लिये थे। अब इनके बदले थियेर को अपनी अपील जारी करनी पड़ी, जिसमें उसने राष्ट्रीय गार्ड के हथियार उसके ही पास छोड़ देने का अपना उदारतापूर्ण संकल्प प्रगट किया और यह आशा व्यक्त की कि उन हथियारों को लेकर वह विद्रोहियों के ख़िलाफ़ सरकार का साथ देगा। अपने ही ख़िलाफ़ बौने थियेर के साथ हो जाने की इस अपील पर तीन लाख राष्ट्रीय गार्ड वालों में से कुल ३०० ने मंजूरी प्रकट की। १८ मार्च की गौरवमय मज़दूर क्रान्ति का निर्विवाद रूप से पेरिस पर अधिकार क़ायम हो गया। केन्द्रीय समिति उसकी अस्थायी सरकार थी। यूरोप मानो एक क्षण के लिए संशय में पड़ गया कि हाल

की राज्य और युद्ध-सम्बन्धी सनसनीखेज़ घटनाएं वास्तविक थीं अथवा केवल एक गुज़रे हुए ज़माने का सपना।

१८ मार्च से लेकर वेर्साई की सेना के पेरिस में प्रवेश करने तक सर्वहारा क्रान्ति उन हिंसात्मक कृत्यों से, जिनकी "श्रेष्ठतर वर्गों" की क्रान्तियों और इनसे भी अधिक उनकी प्रतिक्रान्तियों में भरमार रहती है, इतनी मुक्त थी कि उसके विरोधियों के पास सिवा जनरल लेकोंत और जनरल क्लेमां थोमा को फांसी देने तथा प्लास वान्दोम की घटना के अतिरिक्त हायतोबा मचाने के लिए कुछ भी न था।

बोनापार्तवादी अफ़सर, जनरल लेकोंत ने, जो मोंमार्त्र के रात्रिकालीन धावे में शरीक था, सेना की ८१ वीं रेजीमेंट को प्लास पिगाल की एक निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने का चार बार हुक्म दिया था। जब फ़ौजियों ने हर बार उसकी आज्ञा मानने से इनकार कर दिया तो उसने उन्हें गन्दी गालियां दीं। औरतों और बच्चों पर गोली चलाने के बदले उसके सिपाहियों ने उसे गोली मार दी। मज़दूर वर्ग के दुश्मनों के प्रशिक्षण में फ़ौजी सिपाही जो सबक़ हासिल कर लेते हैं वे इन सिपाहियों के दूसरे पक्ष में आ जाने के साथ ही नहीं बदल जाते। इन्हीं सिपाहियों ने क्लेमां थोमा को भी मौत के घाट उतार दिया था।

"जनरल" क्लेमां थोमा फ़ौज का एक भूतपूर्व क्वार्टरमास्टर-सार्जेंट था, जिसकी आकांक्षाएं अतृप्त थीं और जो लूईफ़िलिप के शासन-काल के अन्तिम दिनों में जनतन्त्रवादी अख़बार «*National*»[163] के दफ़्तर में नौकर हो गया था। वहां वह दो काम करता था – पहला यह कि वह अख़बार का जिम्मेदार सम्पादक (gérant responsable) था और दूसरा यह कि उस लड़ाके अख़बार का वह दंगली गुंडा बना हुआ था। फ़रवरी क्रान्ति के बाद «*National*» अख़बार वाले जब सत्तारूढ़ हुए तो उन्होंने इस पुराने क्वार्टरमास्टर-सार्जेंट को जून के हत्याकाण्ड के ठीक पहले जनरल बना दिया। इस हत्याकाण्ड की गुप्त साज़िश करनेवालों में जूल फ़ाव्र की भांति थोमा भी था और उसने इस काण्ड में एक सबसे घृणित जल्लाद का काम किया। उस घटना के बाद वह और उसकी जनरैली एक लम्बे अर्से के लिए कहीं ग़ायब हो गयी थी, जो १ नवम्बर १८७० को पुनः अवतरित हुई। इसके एक दिन पहले जब प्रतिरक्षा की सरकार टाउनहॉल में पकड़ ली गयी थी तो उसने ब्लांकी, फ़्लूरैं और मज़दूर वर्ग के अन्य प्रतिनिधियों को बाक़ायदा यह वचन दिया था कि वह नाजायज़ ढंग से दख़ल की हुई अपनी सत्ता पेरिस द्वारा स्वतंत्र रूप में चुने जानेवाले कम्यून को सौंपकर हट जायेगी।[164] वचन का

पालन करना तो दूर रहा, उसके बदले उसने त्रोशू के ब्रेतानी सिपाहियों को पेरिस पर झपटने के लिए छोड़ दिया, जिन्होंने बोनापार्त के कार्सिकन फ़ौजियों का स्थान ग्रहण कर लिया।[165] केवल जनरल तामीसिए ने इस वचन-भंग में सम्मिलित होकर अपने सिर कलंक का टीका लगवाने से इनकार किया था और राष्ट्रीय गार्ड के सेनाध्यक्ष के पद से उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया था। अतः उनके स्थान पर क्लेमां थोमा एक बार फिर जनरल बन गया। जितने दिनों तक वह सेनाध्यक्ष के पद पर रहा, वह प्रशा वालों से न लड़कर पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड से लड़ता रहा। उसने उसकी आम हथियारबन्दी को रोका, पूंजीवादी बटालियनों को मज़दूर-वर्गीय बटालियनों से भिड़ाया, त्रोशू की "योजना" के विरोधी अफ़सरों को चुन-चुनकर निकाल बाहर किया और उन सर्वहारा-वर्गीय बटालियनों को कायर कहकर तोड़ दिया, जिनकी बहादुरी की मिसाल से आज उनके कट्टर से कट्टर दुश्मन भी दंग हैं। क्लेमां थोमा इस बात पर बड़ा गर्व महसूस करता था कि पेरिस के सर्वहारा वर्ग का व्यक्तिगत शत्रु होने का अपना गौरव जून के दिनों के बाद उसने पुनः प्राप्त कर लिया। १८ मार्च के कुछ ही दिनों पहले उसने युद्ध-मंत्री लेफ़्लो के सम्मुख "पेरिस के हज़ारी-बज़ारियों में से चुने हुए लोगों का सफ़ाया करने की" अपनी एक ख़ास योजना रखी थी। विनुआ के मुंह की खाने के बाद वह एक शौक़िया जासूस के रूप में मैदान में आया। केन्द्रीय समिति तथा पेरिस के मज़दूर क्लेमां थोमा और लेकोंत की हत्या के लिए उतने ही ज़िम्मेदार थे, जितना कि अपने लन्दन-प्रवेश के दिन भीड़ से कुचलकर मर जानेवालों की मौत के लिए वेल्स की शाहज़ादी।

प्लास वान्दोम में निहत्थे नागरिकों की हत्या की कहानी एक कपोल-कथा है, जिसकी थियेर और "देहातियों" ने राष्ट्रीय सभा में लगातार उपेक्षा की। उन्होंने इस हत्याकाण्ड की कल्पित कहानी का प्रचार करने का काम सोलहों आना यूरोपीय पत्रकारिता के भाड़े के टट्टुओं के ऊपर छोड़ दिया। "अमन पार्टी के लोग", पेरिस के प्रतिक्रियावादी लोग, १८ मार्च की विजय से थर-थर कांप रहे थे। उनकी निगाह में यह जन-प्रतिशोध का दिन आ पहुंचने का प्रतीक था। जून १८४८ से लेकर २२ जनवरी १८७१ तक[166] उनके हाथों मौत के घाट उतारे गये लोगों की मृतात्माएं भूत बनकर उनकी आंखों के आगे नाच रही थीं। पर उनका यह हौल ही उनकी एकमात्र सज़ा बनकर रह गया। हथियारबन्द पुलिस टोली तक को उनके हथियार रखवा कर बन्दी नहीं बनाया गया, जैसा कि करना चाहिए था, इसके बदले उन्हें सकुशल वेर्साई लौट जाने के लिए पेरिस का द्वार

खोल दिया गया। इतना ही नहीं कि "अमन पार्टी वालों" का बाल तक बांका न हुआ, बल्कि उन्हें जत्थेबन्द होने और पेरिस के ठीक केन्द्र में कई क़िलाबन्द स्थानों पर दख़ल कर लेने दिया गया। केन्द्रीय समिति के इस नरम रवैये को, पेरिस के सशस्त्र मज़दूरों की इस उदारता को – जो अमन पार्टी वालों के व्यवहार से एकदम भिन्न थी – अमन पार्टी वालों ने दुर्बलता का लक्षण मात्र समझा। इसी लिए उन्होंने निःशस्त्र प्रदर्शन की आड़ में वह काम करने की मूर्खतापूर्ण योजना बनायी, जिसे विनुआ अपनी तोपों और मित्रैयोज़ों द्वारा हासिल करने में असफल हुआ था। २२ मार्च को बांके छैलों की एक फ़सादी भीड़ अमीरों के मोहल्लों से रवाना हुई; सभी प्रकार के उठल्लू इस भीड़ में शामिल थे, और इसके आगे-आगे साम्राज्य के कुख्यात और जाने-पहचाने लोग – हीकेरेन, कोयतलोगां, आंरी दे पेन, आदि चल रहे थे। शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने के कायरतापूर्ण बहाने से निकली यह भीड़, जो गुप्त घातक हथियारों से लैस थी, पांत बनाकर चलने लगी। रास्ते में उसे राष्ट्रीय गार्ड के जो संतरी या गश्ती पहरेदार मिले, उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया और उनके हथियार रखवा लिए गये। द-ला-पे मार्ग से बाहर निकलने पर "केन्द्रीय समिति मुर्दाबाद! हत्यारे मुर्दाबाद! राष्ट्रीय सभा ज़िन्दाबाद!" के नारों के साथ वहां खड़े सैनिकों की क़तार को तोड़कर इस भीड़ ने प्लास वान्दोम स्थित राष्ट्रीय गार्ड के सदर दफ़्तर पर सहसा क़ब्ज़ा कर लेने की कोशिश की। इस भीड़ द्वारा पिस्तौल चलाने के जवाब में पहले बाक़ायदा sommations (जिनका फ़्रांस में वही स्थान है जो इंगलैंड में बलवा क़ानून का है) किये गये,[167] और जब इससे काम नहीं चला तो राष्ट्रीय गार्ड के जनरल ने* गोली चलाने का हुक्म दिया। गोलियों की पहली ही बौछार में बांके छैलों का यह गोल, जिसका ख़्याल था कि उसकी "सम्भ्रान्तता" के प्रदर्शन मात्र का पेरिस की क्रान्ति पर वही असर पड़ेगा जो जोशुआ के तूर्यनाद का जेरिको की दीवारों[168] पर पड़ा था, सिर पर पांव रखकर भाग खड़ा हुआ। भगोड़े अपने पीछे राष्ट्रीय गार्ड के दो मृत सैनिक, नौ सख़्त घायल (इनमें केन्द्रीय समिति का एक सदस्य भी था**) और अपने "शान्तिपूर्ण" प्रदर्शन के "शस्त्रहीन" स्वरूप के प्रमाण के रूप में घटना-स्थल में रिवाल्वरों, छुरों और गुप्तियों का एक पूरा अम्बार छोड़ गये। १३ जून १८४९ को जब राष्ट्रीय गार्ड ने फ़्रांसीसी फ़ौजों द्वारा

* बेर्जेरे। – सं०

** मालजुर्नाल। – सं०

रोम पर नीचतापूर्ण आक्रमण के विरोध में सच्चा शान्तिपूर्ण प्रदर्शन किया, तो शांगार्निये की, जो उस समय अमन की पार्टी का एक जनरल था, राष्ट्रीय सभा और ख़ासकर थियेर द्वारा समाज का उद्धारक कहकर इसलिए प्रशंसा की गयी थी कि उसने इन निहत्थे प्रदर्शनकारियों को चारों ओर से फ़ौजियों से घिरवाकर गोलियों से भुनवाया था, गाजर-मूली की तरह तलवार से कटवाया था और घोड़ों की टापों तले रौंदवाया था। इसके बाद पेरिस की घेराबन्दी का ऐलान किया गया। दूफ़ोर ने राष्ट्रीय सभा में जल्दी-जल्दी नये दमनकारी क़ानून पास करवाये। नयी गिरफ़्तारियों और नये निर्वासनों के साथ आतंक का एक नया राज शुरू हो गया था। मगर "निम्न वर्गों" के लोगों का तरीक़ा कुछ और ही होता है। १८७१ की केन्द्रीय समिति ने "शान्तिपूर्ण प्रदर्शन" के सूरमाओं पर ध्यान तक नहीं दिया, इस हद तक कि दो ही दिनों के बाद वे एडमिरल सैसे के नेतृत्व में उस सशस्त्र प्रदर्शन के लिए एकजुट हो सके, जिसकी परिणति—वेर्साई की ओर बेतहाशा भगदड़—मशहूर हो चुकी है। मोंमार्त्र पर थियेर के चोरों जैसे हमले द्वारा आरम्भ किये गये गृहयुद्ध को जारी रखने की अपनी अनिच्छा के कारण केंद्रीय समिति ने इस बार फ़ौरन वेर्साई पर (जो उस समय बिल्कुल निस्सहाय था) धावा न बोलकर, और इस प्रकार थियेर और उसके "देहातियों" के षड्यंत्रों का ख़ात्मा न करके एक गहरी निर्णायक भूल की। ऐसा करने के बजाय उसने अमन की पार्टी को २६ मार्च को कम्यून के चुनाव में मतदान-पेटिका द्वारा एक बार फिर अपने ज़ोर की आज़माइश करने का मौक़ा दिया। और तब अमन पार्टी वालों ने पेरिस के मेयर के दफ़्तरों में आवश्यकता से अधिक उदार अपने विजेताओं के साथ मेल-मिलाप की ख़ूब चिकनी-चुपड़ी बातें कीं, किन्तु मन ही मन वक़्त आने पर उन्हें कच्चा चबा जाने की क़समें भी खाईं।

अब ज़रा तसवीर का दूसरा पहलू देखिये। अप्रैल के आरम्भ में थियेर ने पेरिस के विरुद्ध अपना दूसरा अभियान आरम्भ किया। पेरिस के बन्दियों के पहले जत्थे को, जो वेर्साई लाया गया, भयानक यातनाएं दी गयीं। एर्नेस्ट पीकार पतलून की जेब में हाथ डालकर टहल रहा था और बन्दियों का मखौल उड़ा रहा था और श्रीमती थियेर और श्रीमती फ़ाव्र अपनी संभ्रान्त (?) महिला मंडली में बैठी हुई छज्जों पर से वेर्साई की भीड़ द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के लिए वाहवाही दे रही थीं। बन्दी बनाये हुए फ़ौजी सिपाही सीधे-सीधे मौत के घाट उतार दिये गये। हमारे बहादुर ढलाई-मज़दूर साथी, जनरल दूवाल को, बिना किसी प्रकार के अभियोग के, गोली मार दी गयी। अपनी पत्नी (जो द्वितीय

साम्राज्य की रंगरलियों में अपने निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शनों के लिए मशहूर थी) के रखैल गैलीफ़े ने एक विज्ञप्ति में बड़े घमण्ड के साथ घोषित किया कि उसके सैनिकों द्वारा अचानक गिरफ़्तार और निरस्त्र की हुई राष्ट्रीय गार्ड की एक छोटी-सी टुकड़ी को, उसके कप्तान और लेफ़्टिनेंट समेत, उसने अपनी कमान में क़त्ल करा दिया। भगोड़े विनुआ को थियेर ने ग्रैण्ड-क्रॉस-ऑफ़-दि-लीजन-ऑफ़-ऑनर की उपाधि दी, इसलिए कि उसने फ़ेडरल दल के प्रत्येक गिरफ़्तार किये गये फ़ौजी सिपाही को तुरन्त गोली मार देने का आम हुक्म जारी किया था। जेन्दार्म देमारे को इसलिए तमग़ा मिला था कि उसने ३१ अक्तूबर १८७० को प्रतिरक्षा की सरकार के सदस्यों की जान बचानेवाले उच्चात्मा एवं वीर फ़्लूरें[169] को धोखे से मारकर क़साइयों की तरह उसकी बोटी-बोटी कटवा दी थी। थियेर ने राष्ट्रीय सभा में इस हत्या के "उत्साहप्रद विवरणों" का बड़ी शान के साथ वर्णन किया था। बालिश्त-भर के बौने की उल्लसित संसदीय अहम्मन्यता के साथ तैमूरलंग का पार्ट अदा करने का मौक़ा पाकर थियेर ने, अपनी तुच्छता का इज़हार करते हुए, बग़ावत करनेवालों को युद्ध के सभ्य अधिकारों से वंचित रखा – ऐम्बुलेंस के लिए तटस्थता के अधिकार तक से। जैसा कि वाल्तेयर पहले ही लिख गये हैं* उस बन्दर से अधिक घिनौना दूसरा बन्दर नहीं होता, जिसे कुछ समय के लिए शेर की प्रवृत्तियों का नंगा नाच करने का पूरा अवसर दिया गया हो (देखिये **नोट**, पृष्ठ ३५**)।

७ अप्रैल को जब कम्यून ने प्रतिकार-सम्बन्धी अपना फ़रमान जारी किया और यह ऐलान किया कि "वेर्साई के डाकुओं के मानवभक्षी कृत्यों से पेरिस की रक्षा करना और उनकी ईंट का जवाब ईंट से और पत्थर का जवाब पत्थर से देना" हमारा कर्त्तव्य है,[170] तब भी थियेर ने बन्दियों के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार करना जारी रखा और इतना ही नहीं, बल्कि अपनी विज्ञप्तियों में यह कहकर उनका अपमान किया – "एक पतित जनवाद के इतने अधिक पतित चेहरे देखने का दुर्भाग्य ईमानदार आदमियों को" – थियेर और उसके छुट्टी के टिकट वाले मंत्रियों जैसे ईमानदार आदमियों को! – "कभी नहीं प्राप्त हुआ था।" फिर भी बन्दियों का गोली से उड़ाया जाना कुछ समय के लिए रुक गया। परन्तु जैसे ही थियेर और उसके दिसम्बरवादी जनरलों को यह मालूम हुआ कि कम्यून

---

* वाल्तेयर, 'कान्दीद', अध्याय २२। – **सं०**

** प्रस्तुत खंड, पृष्ठ ३१७ – ३१८। – **सं०**

का प्रतिकार-सम्बन्धी फ़रमान कोरी धमकी है और राष्ट्रीय गार्ड के छद्मभेष में पकड़े जानेवाले उनके जेन्दार्म-जासूस, और यहां तक कि दाहक हथगोलों के साथ पकड़े गये नगर पुलिसमैन भी यों ही बख़्श दिये जा रहे हैं, वैसे ही बन्दियों को अन्धाधुन्ध गोलियों का निशाना बनाना फिर तुरन्त जारी कर दिया गया और अंत तक जारी रहा। जिन घरों में राष्ट्रीय गार्ड के सैनिक जा छिपे थे, उन्हें जेन्दार्मों ने घेरकर और उन पर पेट्रोल छिड़ककर (यह इस युद्ध में पहले-पहल हुआ था) आग लगा दी। बाद में प्रेस के ऐम्बुलेंस द्वारा तेर्न मोहल्ले में जली हुई लाशें निकाली गयीं। २५ अप्रैल को बेल-एपीन में चार राष्ट्रीय गार्ड वालों ने घुड़सवार सैनिकों की एक टुकड़ी को आत्मसमर्पण किया था। बाद में उस टुकड़ी के कप्तान, गैलीफ़े के एक योग्य चाटुकार ने एक-एक कर चारों को गोली मार दी। इन चारों में से शेफ़र नामक एक व्यक्ति, जिसे वे मरा समझकर छोड़ गये थे, रेंगता हुआ पेरिस की एक चौकी तक पहुंचा और उसने कम्यून के एक आयोग के समक्ष सारी घटना बयान की। जब तोलें ने राष्ट्रीय सभा में आयोग की रिपोर्ट के बारे में युद्ध-मंत्री से प्रश्न किया तो "देहातियों" ने अपने शोरग़ुल से तोलें की आवाज़ दबा दी और लेफ़्लो को इस सवाल का जवाब देने से रोक दिया। उनका तर्क यह था कि हमारी "शानदार" सेना के कारनामों के बारे में वाद-विवाद करना उसका अपमान करना होगा। थियेर की विज्ञप्तियों में मूलैंसाके में सोते हुए अचानक पकड़े गये कम्यूनार्डों को संगीन भोंककर ख़त्म कर देने तथा क्लामार में अन्धाधुन्ध गोलियों की बौछार करने की ख़बरें जिस ग़ैरसंजीदा अंदाज़ से प्रकाशित की गयी थीं उसने लन्दन के «*Times*»[171] के अन्तःकरण तक को, जो इतना संवेदनशील नहीं था, स्तम्भित कर दिया। लेकिन विदेशी आक्रमण के संरक्षण में पेरिस पर गोलाबारी करनेवालों और दास-स्वामियों का विद्रोह उकसानेवालों की केवल प्रारम्भिक बर्बरताओं को गिनाना आज असंगत होगा। इन सारे भयंकर कृत्यों के मध्य थियेर, यह भूलकर कि संसद में उसने कहा था कि उसके बौने कंधे ज़िम्मेदारी के ज़बरदस्त बोझ से टूट रहे हैं, अपनी विज्ञप्तियों में गर्वपूर्वक दावा करता है कि e 'Assemblée *s*iège paisiblement (सभा की बैठकें शान्तिपूर्ण ढंग से चल रही हैं) और कभी दिसम्बरवादी जनरलों के साथ तथा कभी जर्मन शाहज़ादों के साथ पीने-पिलाने का सिलसिला जारी रखकर वह सिद्ध कर रहा है कि उसकी पाचन शक्ति में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ा है—लेकोंत और क्लेमां थोमा की मृतात्माएं भी उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकी हैं।

३

१८ मार्च १८७१ की सुबह "Vive la Commune!"* के गगनभेदी नारों के साथ पेरिस की नींद खुली। यह कम्यून, पूंजीवादी दिमाग में खलबली मचा देनेवाला यह नृसिंह, क्या चीज़ है?

केन्द्रीय समिति ने १८ मार्च के अपने घोषणापत्र में कहा –

"शासक वर्गों की विफलताओं और गद्दारियों के मध्य, पेरिस के सर्वहाराओं ने समझ लिया है कि सार्वजनिक कार्यों का निर्देशन अपने हाथ में लेकर स्थिति को संभालने की घड़ी आ गयी है ... उन्होंने समझ लिया है कि सरकारी सत्ता हस्तगत करके, अपने भाग्य का सूत्रधार आप बनना उनका अनुल्लंघनीय कर्त्तव्य एवं परम अधिकार है।"

किन्तु मज़दूर वर्ग बनी-बनाई राज्य-मशीनरी पर केवल क़ब्ज़ा करके उसे अपने उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।

केन्द्रीकृत राज्य-सत्ता अपनी स्थायी सेना, पुलिस, नौकरशाही, पादरी, अदालत, आदि सर्वव्यापी अंगों सहित – क्रमबद्ध और श्रेणीबद्ध श्रम-विभाजन की योजना के अनुसार निर्मित अंगों सहित – निरंकुश राजतन्त्र के दिनों में, नवजात पूंजीवादी समाज को सामन्तशाही के खिलाफ़ उसके संघर्ष में शक्तिशाली अस्त्र के रूप में मदद पहुंचाती हुई, उद्भूत हुई। फिर भी उसका विकास नाना प्रकार के मध्ययुगीन कूड़े-कचड़े – जागीरदाराना अधिकारों, स्थानीय विशेषाधिकारों, म्युनिसिपल एवं गिल्ड इजारेदारियों और प्रान्तीय विधानों – द्वारा अवरुद्ध रहा। अठारहवीं शताब्दी की फ़्रांसीसी क्रांति के विराट् झाड़ू ने अतीतकाल के इन सारे अवशेषों को झाड़-बुहारकर फेंक दिया, और इस प्रकार साथ ही साथ सामाजिक भूमि से प्रथम साम्राज्य के अन्तर्गत खड़े किये गये (जो स्वयं आधुनिक फ़्रांस के खिलाफ़ पुराने अर्द्ध-सामन्ती यूरोप के सम्मिलित युद्धों का शिशु था) आधुनिक राज्य की इमारत के ऊपरी ढांचे के रास्ते में अन्तिम बाधाओं को साफ़ कर दिया। इसके बाद के शासनों में संसदीय नियन्त्रण में – अर्थात् मिलकियत वाले वर्गों के सीधे नियन्त्रण में – स्थापित सरकार भारी राष्ट्रीय क़र्ज़ों और कमर तोड़ देनेवाले करों का घर ही नहीं बनी; पदों, पैसों और संरक्षकत्व के अरोध्य प्रलोभनों

* "कम्यून ज़िंदाबाद!" – सं०

के कारण, शासक वर्गों के प्रतिद्वन्द्वी गुटों और दुःसाहसियों के बीच झगड़े की जड़ ही नहीं बनी; उसका तो समाज की बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के साथ राजनीतिक स्वरूप भी बदल गया। जिस तेज़ी के साथ उद्योग की प्रगति ने पूंजी और श्रम के वर्ग-विग्रह को विकसित, विस्तृत और तीव्र किया, उसी गति से राज्य-सत्ता ने अधिकाधिक मात्रा में श्रम के ऊपर पूंजी की राष्ट्रीय ताक़त का, श्रम के सामाजिक दासकरण के लिए संगठित सामाजिक शक्ति का और वर्गीय निरंकुश शासन की मशीन का स्वरूप धारण किया। वर्ग-संघर्ष की प्रगति की सूचक प्रत्येक क्रान्ति के बाद राज्य-सत्ता का विशुद्ध दमनकारी स्वरूप अधिकाधिक खुलकर सामने आता है। १८३० की क्रान्ति के फलस्वरूप ज़मींदारों के हाथ से निकलकर सरकार पूंजीपतियों के हाथ में आयी – मज़दूरों के दूर के बैरियों के हाथ से निकलकर उनके और पास के बैरियों के हाथ में आयी। पूंजीवादी जनतन्त्रवादियों ने, जिन्होंने फ़रवरी क्रान्ति के नाम पर राज्य-सत्ता अपने हाथ में ली थी, राज्य-सत्ता का उपयोग जून का हत्याकाण्ड रचाने के लिए किया, जिसका उद्देश्य मज़दूर वर्ग को भली प्रकार यह समझा देना था कि "सामाजिक" जनतन्त्र का अर्थ मज़दूर वर्ग की सामाजिक अधीनता को सुनिश्चित बनाना है; और पूंजीपति एवं ज़मींदार वर्ग के राजपरस्त समुदाय को अच्छी तरह इस बात का यक़ीन दिलाना था कि वह सरकार का दायित्व और उसके फ़ायदों को पूंजीवादी "जनतन्त्रवादियों" के हाथों में छोड़कर निश्चिंत रह सकता है। पर जून के अपने इस बहादुराना कारनामे के बाद पूंजीवादी जनतन्त्रवादियों को आगे की पांत से हटकर अमन की पार्टी की आड़ में चला जाना पड़ा – एक ऐसी पार्टी की आड़ में, जिसमें लुटेरे वर्ग के सभी प्रतिद्वन्द्वी अंशक और गुट उत्पादक वर्गों के ख़िलाफ़ अब अपने खुल्लमखुल्ला घोषित विरोध में एकजुट हुए थे। उनकी ज्वाइन्ट-स्टाक सरकार का असली रूप लूई बोनापार्त के राष्ट्रपतित्व के अन्तर्गत **संसदीय जनतन्त्र** था। उनकी यह हुकूमत खुले तौर से वर्ग-आतंक और "निकृष्ट जनसमूह" के जाने-बूझे अपमान की हुकूमत थी। संसदीय जनतंत्र, थियेर के शब्दों में, "उन्हें" (अर्थात् शासक वर्ग के विभिन्न गुटों को) "न्यूनतम रूप में विभाजित करता था", लेकिन उसने इस वर्ग और इस वर्ग की थोड़ी-सी जमात के बाहर समाज के पूरे निकाय के बीच एक गहरी खाई पैदा कर दी। पहले की हुकूमतों में उनकी अपनी फूटों द्वारा राज्य-सत्ता पर जो अंकुश अब तक लगता रहा, वह उनकी एकता के कारण हट गया, और सर्वहारा-वर्गीय विप्लव के ख़तरे को दृष्टिगत रखकर उन्होंने अब राज्य-सत्ता का निर्ममतापूर्वक और खुले

रूप में श्रम के ख़िलाफ़, पूंजी की राष्ट्रीय युद्ध-मशीनरी की तरह प्रयोग किया। लेकिन उत्पादक जनता के विरुद्ध लगातार जिहाद के कारण वे न केवल कार्यकारी सत्ता को दमन के अधिकाधिक अधिकार प्रदान करने के लिए मजबूर थे, बल्कि साथ-साथ उन्हें अपने संसदीय गढ़ – राष्ट्रीय सभा – को कार्यकारी सत्ता के समक्ष एक-एक करके अपने तमाम बचाव के साधनों से भी वंचित करना पड़ा। अन्त में लूई बोनापार्त के रूप में कार्यकारी सत्ता ने उन्हें निकाल बाहर किया। अमन की पार्टी के जनतन्त्र का स्वाभाविक शिशु द्वितीय साम्राज्य था।

यह साम्राज्य, जिसे coup d'état के रूप में जन्म का प्रमाणपत्र प्राप्त था, सर्वमताधिकार जिसकी अनुज्ञप्ति थी और खड्ग ही जिसका राजदण्ड था, किसानों पर, उत्पादकों के इस बहुत बड़े समुदाय पर, जो श्रम और पूंजी के संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं था, आधारित होने का दम भरता था। इस बिना पर कि संसद-पद्धति का ख़ात्मा किया है और इसके साथ-साथ मिलकियत वाले वर्गों के प्रति सरकार की अधीनता का भी अन्त कर दिया है, यह साम्राज्य मज़दूरों की रक्षा करने का दावा करता था। मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग के आर्थिक प्रभुत्व की हिमायत करके उसने मिलकियत वाले वर्गों की रक्षा करने की, और अन्ततः राष्ट्रीय गौरव की कल्पना को पुनर्जीवित करके उसने सभी वर्गों को संयुक्त करने की शेख़ी बघारी। असल में ऐसे समय जबकि पूंजीपति राष्ट्र पर शासन करने की क्षमता खो बैठे थे और मज़दूर वर्ग ने अभी वह क्षमता प्राप्त नहीं की थी, साम्राज्य सरकार का एकमात्र सम्भव रूप था। सारे विश्व में समाज के उद्धारकर्ता के रूप में उसका अभिनन्दन किया गया। अपने प्रभुत्वकाल में राजनीतिक चिन्ताओं से मुक्त होकर पूंजीवादी समाज ने ऐसा विकास प्राप्त किया, जिसकी उसने स्वयं आशा न की थी। उसके उद्योग और वाणिज्य का विपुल विस्तार हुआ; वित्तीय धोखाधड़ी ने विश्व पैमाने पर आमोद-प्रमोद का रास रचाया; आम जनता की दीनावस्था तड़कभड़कदार, अश्लील, चरित्रभ्रष्ट भोगासक्ति के निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शनों के कारण और भी निखरकर प्रकट हुई। राज्य-सत्ता जो बाह्यतः समाज से बहुत ऊपर बुलन्द थी, स्वयं ही उस समाज का सबसे बड़ा कलंक और उसके समस्त भ्रष्टाचार का उर्वर क्षेत्र बन गयी। इस राज्य-सत्ता का सर्वोच्च केन्द्र पेरिस के बदले बर्लिन को बनाने पर तुली हुई प्रशा की संगीनों द्वारा इस राज्य-सत्ता तथा उसके द्वारा उद्धार किये हुए समाज की गंदगी उघड़कर सामने आ गई। साम्राज्यवाद उस राज्य-सत्ता का सबसे भ्रष्ट और साथ ही साथ सबसे चरम रूप है, जिसे नवजात पूंजीवादी समाज ने

सामन्तवाद से अपनी मुक्ति के साधन के रूप में खड़ा करना शुरू किया था और जिसे प्रौढ़ पूंजीवादी समाज ने अंततः पूंजी द्वारा श्रम के अधीनीकरण के साधन में रूपान्तरित कर दिया।

साम्राज्य का सीधा प्रतिवाद कम्यून था। "सामाजिक जनतन्त्र" का नारा, जिसके साथ पेरिस के सर्वहारा वर्ग ने फ़रवरी क्रांति की अगवानी की थी, केवल एक ऐसे जनतन्त्र के लिए अस्पष्ट आकांक्षा का व्यंजक था, जो वर्ग-शासन के राजतांत्रिक रूप को ही नहीं, वरन् स्वयं वर्ग-शासन को ख़त्म कर सके। कम्यून इसी जनतन्त्र का ठोस रूप थी।

पुरानी सरकारी सत्ता का शासन-केन्द्र किन्तु साथ ही फ़्रांस के मज़दूर वर्ग का सामाजिक गढ़ पेरिस, साम्राज्य द्वारा विरासत में मिली हुई पुरानी सरकारी सत्ता को पुनःस्थापित करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने की थियेर और "देहातियों" की चेष्टा के विरुद्ध हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ था। पेरिस मुक़ाबला करने में समर्थ केवल इसलिए हुआ कि घेरे के परिणामस्वरूप वह सरकारी सेना से छुटकारा पा गया था और उसकी जगह उसने राष्ट्रीय गार्ड क़ायम कर लिया था, जिसमें अधिकांश संख्या मजदूरों की थी। इसी चीज़ को अब ज़ाब्ते का रूप देना था। अतः कम्यून के पहले ही फ़रमान ने स्थायी सेना का अंत कर दिया और उसकी जगह सशस्त्र जनता को प्रतिष्ठित किया।

कम्यून नगर-सभासदों को लेकर गठित हुई थी, जो नगर के विभिन्न वार्डों से सर्वमताधिकार द्वारा निर्वाचित हुए थे, जो उत्तरदायी थे और किसी भी समय हटाये जा सकते थे। कम्यून के अधिकांश सदस्य स्वभावतः मज़दूर अथवा मज़दूर वर्ग के जाने-माने प्रतिनिधि थे। कम्यून संसदीय नहीं, बल्कि एक कार्यशील संगठन थी, जो कार्यकारी और विधिकारी दोनों कार्य साथ-साथ करता था। पुलिस को केन्द्रीय सरकार का अभिकर्त्ता बनाये रखने के बदले उसका समस्त राजनीतिक चरित्र फ़ौरन ख़त्म कर दिया गया और उसे कम्यून का उत्तरदायी और किसी भी समय मंसूख़ किया जा सकनेवाला अभिकर्त्ता बना दिया गया। यही प्रशासन की सभी अन्य शाखाओं के अधिकारियों के साथ किया गया। कम्यून के सदस्यों से लेकर नीचे के लोगों तक जन-सेवा कार्य के लिए **वही मजदूरी निर्धारित की गयी जो मजदूरों को मिलती थी**। राज्य के ऊंचे ओहदेदारों के साथ उनके निहित स्वार्थ और प्रतिनिधित्व-संबंधी भत्तों का भी अन्त हो गया। सार्वजनिक क्रियाकलाप पर केन्द्रीय सरकार के उपांगों का निजी अधिकार समाप्त हो गया। केवल

म्युनिसिपल-प्रशासन ही नहीं, वरन् वह पूरी उपक्रम-क्षमता, जो अब तक राज्य के हाथों में थी, कम्यून के हाथों में आ गयी।

पुरानी सरकार की भौतिक शक्ति के मुख्य अवयव स्थायी सेना और पुलिस से छुटकारा पाने के बाद कम्यून दमन की आध्यात्मिक शक्ति, यानी "पादरी-शक्ति" को – राज्य से चर्चों का सम्बन्ध ख़त्म करके, उन्हें राज्य से मिलनेवाले अनुदान से वंचित करके, उनका सम्पत्तिधारी निकाय का रूप समाप्त करके – मिटा देने की इच्छुक थी। पादरियों को सार्वजनिक जीवन से हटाकर व्यक्तिगत रूप से सादा जीवन बिताने के लिए बाध्य किया गया, ताकि वे अपने पूर्ववर्ती संत-महात्माओं की तरह धर्मावलम्बियों के दान के सहारे जीवनयापन करें। सभी शिक्षा-संस्थाएं आम जनता के लिए मुफ़्त कर दी गयीं, उसके लिए खोल दी गयीं, साथ ही उन्हें चर्च और राज्य के हर प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त किया गया। इस प्रकार न केवल स्कूली शिक्षा सब के लिए सुलभ बना दी गयी, बल्कि विज्ञान को उन सभी बन्धनों से मुक्त कर दिया गया, जिनमें वर्ग-पूर्वाग्रह एवं सरकारी दबाव ने उसे बांध रखा था।

न्याय-विभाग के पदाधिकारी उस झूठी स्वतंत्रता से मुक्त किये गये, जिसकी आड़ में वे हर आनेवाली नई सरकार की चाकरी बजाते थे और जिनके प्रति भक्ति की शपथ लेना और बाद में तोड़ना उनका काम बन गया था। अन्य सरकारी कर्मचारियों की तरह मजिस्ट्रेट और जज भी निर्वाचित तथा उत्तरदायी बनाये गये, जिन्हें किसी भी समय हटाया जा सकता था।

कहने की ज़रूरत नहीं कि पेरिस कम्यून को फ्रांस के सभी बड़े औद्योगिक केन्द्रों के लिए उदाहरण बनना था। पेरिस तथा गौण केन्द्रों में सामुदायिक शासन-व्यवस्था की एक बार स्थापना हो जाने के बाद प्रांतों में भी पुरानी केन्द्रीभूत सरकार को हटाकर वहां उत्पादकों का स्वशासन क़ायम किया जाता। राष्ट्रीय संगठन के एक प्राथमिक ख़ाके में, जिसे विशद बनाने का कम्यून को समय नहीं मिल सका, कम्यून ने स्पष्ट रूप से कहा है कि छोटे से छोटे गांव का भी राजनीतिक ढांचा कम्यून होगा और देहाती इलाक़ों में स्थायी सेना का स्थान राष्ट्रीय मिलीशिया लेगी, जिसकी सेवा-अवधि अल्पकालिक होगी। प्रत्येक ज़िले की ग्रामीण कम्यूनें अपने केन्द्रीय नगर में प्रतिनिधियों की एक सभा द्वारा अपने सम्मिलित मामलों का प्रबन्ध करेंगी। ये ज़िला सभाएं पेरिस-स्थित राष्ट्रीय प्रतिनिधि-सभा में अपने प्रतिनिधि भेजेंगी। प्रत्येक प्रतिनिधि किसी समय भी हटाया जा सकेगा और वह अपने निर्वाचकों की आज्ञापक हिदायतों (mandat impératif)

से बद्ध होगा। वे थोड़ी-सी किन्तु महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारियां, जो अब भी केन्द्रीय सरकार के हाथ में रह जायेंगी, समाप्त नहीं की जायेंगी, जैसा कि जानबूझकर ग़लत धारणा फैलायी गयी है, बल्कि उन्हें कम्यून के अभिकर्त्ताओं द्वारा – कठोरतम रूप में उत्तरदायी अभिकर्त्ताओं द्वारा – सम्पन्न कराया जायेगा। कम्यून के शासन में राष्ट्र की एकता भंग नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत, कम्यून के संविधान द्वारा वह संगठित की जाती और उस राज्य-सत्ता के विनाश द्वारा, जो अपने को स्वयं राष्ट्र से स्वाधीन और श्रेष्ठ समझती हुई राष्ट्रीय एकता का मूर्तिमान रूप होने का दावा करती है, किन्तु जो वास्तव में उसके शरीर पर परजीवी अपवृद्धि के अलावा और कुछ नहीं है, – वह एक वास्तविकता बन जाती और पुरानी शासन-सत्ता के वे अंग, जो केवल दमनकारी थे, काटकर अलग कर दिये जाते, पर उसके जायज़ काम एक ऐसी सत्ता के हाथ से छीनकर, जो समाज से भी अधिक शक्तिशाली होने का दावा करती है, समाज के उत्तरदायी अभिकर्त्ताओं के हाथों में सौंप दिये जाते। तीन या छः साल में एक बार यह तय करने के बजाय कि शासक वर्ग का कौन सदस्य संसद में जनता का झूठा प्रतिनिधित्व करेगा, सर्वमताधिकार अब कम्यूनों में संगठित जनता के उसी प्रकार काम में आता, जिस प्रकार अपने व्यवसाय के लिए मज़दूर तथा मैनेजर तलाश करनेवाले हर एक मालिक के लिए व्यक्तिगत मताधिकार काम में आता है। सभी जानते हैं कि व्यक्तियों की भांति कम्पनियां असल व्यवसाय के मामलों में आम तौर से यह जानती हैं कि किस प्रकार सही आदमी को सही काम पर लगाया जाये, और अगर कभी ग़लती हो जाये तो उसे किस प्रकार फ़ौरन ठीक किया जाये। दूसरी ओर, कम्यून के लिए पदसोपान-क्रम [hierarchic investiture][172] द्वारा सर्वमताधिकार का स्थान लेने से अधिक अरुचिकर दूसरी वस्तु नहीं हो सकती थी।

इतिहास द्वारा निर्मित बिल्कुल ही नई व्यवस्थाओं का प्रायः ऐसा दुर्भाग्य होता है कि लोगों को उन्हें सामाजिक जीवन की पुरानी और यहां तक कि निर्जीव व्यवस्थाओं की, जिनके साथ उनका कुछ सादृश्य होता है, प्रतिमूर्ति समझ लेने का भ्रम हो जाता है। अतः यह नयी कम्यून भी, जिसने आधुनिक राज्य-सत्ता को चूर कर दिया है, उन मध्ययुगीन कम्यूनों का प्रतिरूप समझ ली गयी, जो इस राज्य-सत्ता के पहले घटित हुई थीं और बाद में विद्यमान राज्य-सत्ता का आधार बन गयीं। कम्यून के संविधान को लोगों ने ग़लती से यह समझा कि वह मान्तेस्क्युओं और जीरांदवालों[173] द्वारा परिकल्पित रूप में बड़े-बड़े राष्ट्रों की उस

एकता को भंग कर छोटे-छोटे राज्यों का संघ क़ायम करने का प्रयत्न है, जो यदि मूलतः राजनीतिक बलप्रयोग द्वारा क़ायम हुई है, तो आज सामाजिक उत्पादन का एक प्रबल कारक बन गयी है। राज्य-सत्ता के प्रति कम्यून के विरोध को पुराने अतिकेन्द्रीकरण-विरोधी संघर्ष का एक अतिरंजित रूप समझा गया। इतिहास की विशेष परिस्थितियां शासन के पूंजीवादी रूप के क्लासिकीय विकास में, जो फ़ांस में हुआ था, बाधा डाल सकती थीं; या, जैसा कि इंगलैंड में हुआ, केन्द्रीय राजकीय निकायों को भ्रष्टाचारी वेस्ट्रियों*, स्वार्थ-साधक कौंसलरों, शहरों में मुहताज-क़ानून के खूंखार संरक्षकों और काउंटियों में वस्तुतः मौरूसी मजिस्ट्रेटों से पूरा कर सकती थीं। कम्यून का संविधान समाजरूपी शरीर को उन सब शक्तियों से फिर संपन्न कर देता, जिन पर अभी तक राज्यरूपी परजीवी जन्तु समाज की स्वच्छन्द गति को रोकता हुआ पलता आ रहा था। इसी एक कार्य से उसने फ़ांस के पुनरुत्थान का शुभारम्भ कर दिया होता। प्रांतवासी फ़ांसीसी पूंजीपति वर्ग ने कम्यून को लूईफ़िलिप के शासन के समय में देहात में अपने प्रभुत्व को पुनःस्थापित करने का एक प्रयास समझा, जिसका स्थान लूई नेपोलियन के समय में नगर पर देहात के दिखावटी शासन ने ले लिया था। असल में कम्यून का संविधान देहात के उत्पादकों को उनके ज़िलों के केन्द्रीय नगरों के बौद्धिक नेतृत्व में लाता और इस प्रकार उन्हें उनके हितों के स्वाभाविक ट्रस्टियों – मज़दूरों – का संरक्षण प्राप्त कराता। कम्यून का अस्तित्व ही, सामान्य क्रम में, म्युनिसिपल स्वातंत्र्य का व्यंजक था, परंतु अब निरस्त की हुई राज्य-सत्ता पर एक अंकुश के रूप में नहीं। १७९१ के पुराने फ़ांसीसी म्युनिसिपल संगठन की एक भद्दी नक़ल, प्रशा के उस म्युनिसिपल विधान की आकांक्षाओं को पेरिस कम्यून पर थोपने का विचार, जो नगर-प्रशासन को प्रशियाई राज्य की पुलिस-मशीन के मामूली पुर्ज़ों की पतनावस्था में पहुंचा देता है, बिस्मार्क के ही दिमाग़ में आ सकता था, जो अपनी ख़ून और तलवार की साज़िशों से जब कभी फ़ुरसत पाता, हमेशा «*Kladderadatsch*»[174] (बर्लिन के «*Punch*»[175]) में लेख लिखने के अपने पुराने धंधे में मसरूफ़ हो जाता था, जो उस मस्तिष्क के दायरे के लिये बहुत ही उपयुक्त था; केवल ऐसे ही दिमाग़ में यह बात धंस सकती थी।

कम्यून ने राजकीय व्यय के दो बड़े ज़रियों, स्थायी सेना और नौकरशाही को ख़त्म करके पूंजीवादी क्रान्ति के नारे – सस्ती सरकार! – को चरितार्थ कर

---

* वेस्ट्री (Vestry) – करदाताओं की सभा। – सं०

दिया। उसके अस्तित्व में ही राजतंत्र का अनस्तित्व अग्रकल्पित था, जो कम से कम यूरोप में वर्ग-शासन का एक सामान्य पुच्छल्ला और अनिवार्य आवरण है। उसने जनतन्त्र को वास्तविक जनवादी संस्थाओं का आधार प्रदान किया। पर सस्ती सरकार और "सच्चा जनतन्त्र" उसके अन्तिम लक्ष्य नहीं थे; ये तो उसके मात्र सहवर्ती थे।

कम्यून की नाना प्रकार की व्याख्याएं की गयी हैं, और नाना प्रकार के हितों ने उसका अपने अनुकूल अर्थ निकाला है। यह इस बात का प्रमाण है कि वह एक पूर्णतः विस्तारशील राजनीतिक रूप था, जबकि सरकार के पहले के सभी रूप निश्चित रूप में दमनमूलक थे। उसका असली रहस्य यह था: कम्यून मूलतः मज़दूर वर्ग का शासन था, हस्तगतकारी वर्ग के विरुद्ध उत्पादक वर्ग के संघर्ष की उपज था, अन्ततः अन्वेषित वह राजनीतिक रूप था, जिसमें श्रम की आर्थिक मुक्ति निष्पन्न की जा सकती थी।

इस अन्तिम शर्त के बिना कम्यून का संविधान एक असम्भव वस्तु होता, एक भुलावा मात्र होता। उत्पादक वर्ग का राजनीतिक शासन उसकी सामाजिक दासता के चिरस्थायित्व के साथ-साथ नहीं क़ायम रह सकता। अतः कम्यून को उन आर्थिक बुनियादों को ख़त्म करने के साधन का काम देना था, जिन पर वर्गों का अस्तित्व और इसलिए वर्ग-शासन का भी अस्तित्व टिका हुआ है। श्रम के मुक्त हो जाने से प्रत्येक जन श्रमशील जन बन जाता है और उत्पादनशील श्रम का वर्ग-विशेषण मिट जाता है।

यह एक विचित्र तथ्य है। साठ वर्षों से श्रम की मुक्ति के सम्बन्ध में लम्बी-चौड़ी बातें की गयी हैं, बहुत-सा साहित्य लिखा गया है, पर ज्यों ही मज़दूर कहीं पर भी इस मुक्ति के कार्य को दृढ़ता से अपने हाथों में ले लेते हैं, त्यों ही परस्पर-विरोधी दो ध्रुवों, पूंजी और उजरती श्रम वाले (ज़मींदार अब पूंजीपति का उदासीन भागीदार मात्र रह गया है) मौजूदा समाज के भोंपू गरज-गरज कर हर प्रकार की पक्ष-समर्थक लफ़्फ़ाज़ी उगलने लगते हैं, मानो पूंजीवादी समाज अभी तक अपने विशुद्धतम कुमारीत्व के भोलेपन की अवस्था में है, उसके अन्तर्विरोध अभी तक अविकसित हैं, उसकी भ्रान्तियां अभी तक अविस्फुटित हैं और उसकी अश्लील वास्तविकता अभी तक अप्रत्यक्ष है। कम्यून—वे चिल्लाकर कहते हैं—सम्पत्ति का, समस्त सभ्यता के आधार का ही उन्मूलन करना चाहती है! जी हां, सज्जनो! कम्यून उस वर्ग-सम्पत्ति का उन्मूलन कर देना चाहती थी, जो बहुतों के श्रम को केवल कुछ लोगों की दौलत बना देती है। वह अपहरणकर्त्ताओं

का अपहरण करना चाहती थी। वह उत्पादन के साधनों, भूमि और पूंजी को, जो इस समय मुख्यत: श्रम की गुलामी एवं शोषण के साधन बने हुए हैं, स्वतंत्र और संघबद्ध श्रम के साधनों में परिवर्तित करके वैयक्तिक सम्पत्ति को एक वास्तविक सत्य का रूप देना चाहती थी। पर यह तो कम्युनिज़्म है, "असम्भव" कम्युनिज़्म है! किन्तु शासक वर्गों के वे ही सदस्य, जिनमें वर्तमान व्यवस्था को जारी रखने की असम्भवता को देखने की समझ है – और ऐसे सदस्य काफ़ी संख्या में हैं – हाथ हिला-हिलाकर और चिल्ला-चिल्लाकर सहकारी उत्पादन के ओजपूर्ण प्रचारक बन गये हैं। यह सहकारी उत्पादन अगर सिर्फ़ एक तमाशा और धोखा न हो, यदि वह पूंजीवादी व्यवस्था की जगह ले ले, यदि संयुक्त सहकारी समितियां समान योजना के आधार पर राष्ट्रीय उत्पादन का नियमन करें और इस प्रकार उसे अपने नियंत्रण में ले लें तथा उस स्थायी अराजकता एवं समय-समय पर आनेवाले उन आर्थिक प्रकम्पनों का अंत करें, जो पूंजीवादी उत्पादन की नियति हैं, तो सज्जनो! यह कम्युनिज़्म, "संभवनीय" कम्युनिज़्म के सिवा और क्या होगा?

मज़दूर वर्ग कम्यून से किसी चमत्कार की आशा नहीं करता था। उसके पास किसी बने-बनाये काल्पनिक स्वर्ग-लोक के दरवाज़े की कुंजी नहीं है, जिसे वह par décret du peuple* घुमा देता। मजदूर वर्ग जानता है कि अपनी मुक्ति उपलब्ध करने के लिए और उसके साथ उस ऊंची मंज़िल पर पहुंचने के लिए, जिसकी दिशा में वर्तमान समाज अपने ही आर्थिक विकास के कारण ख़ुद-ब-ख़ुद अनिवार्यत: बढ़ता जा रहा है, उसे लम्बे संघर्षों से, परिस्थितियों तथा मानवों को बदल देनेवाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के एक सिलसिले से गुज़रना होगा। उसे आदर्श चरितार्थ करने नहीं हैं, उसे तो केवल नये समाज के उन तत्त्वों को मुक्त कर देना है, जो पुराने, लड़खड़ाते हुए पूंजीवादी समाज के गर्भ में पहले से ही विद्यमान हैं। अपने इतिहासनिर्दिष्ट मिशन की पूरी चेतना और उस मिशन को सम्पन्न करने के वीरत्वपूर्ण संकल्प के साथ मज़दूर वर्ग लेखनी और मसिपात्रधारी भद्रलोगों की गन्दी गालियों पर और उन पूंजीवादी सिद्धान्तशास्त्रियों की आश्रयदाताओं जैसी उपदेशात्मकता पर मजे से हंस सकता है, जो देववाक्यतुल्य वैज्ञानिक निभ्रान्ति के स्वर में अपना अज्ञानतापूर्ण लचरपन तथा संकीर्णतापूर्ण सनक व्यक्त किया करते हैं।

---

* जनगण के आदेश पर। – सं०

जब पेरिस कम्यून ने क्रांति का नेतृत्व अपने हाथ में लिया; जब साधारण मज़दूरों ने अपने से "स्वभावतः बड़ों" के सरकारी विशेषाधिकारों का अतिक्रमण करने का साहस दिखाया और अभूतपूर्व कठिनाइयों की स्थिति में विनयशीलता' ईमानदारी और कार्य-क्षमता के साथ अपना कार्य किया, और वह भी इतना कम वेतन लेकर, जो अधिकतम होने पर, एक उच्च वैज्ञानिक अधिकारी विद्वान के कथनानुसार, लंदन के स्कूलबोर्ड के सेक्रेटरी की न्यूनतम तनख्वाह के केवल १/५ भाग के बराबर था, तब पुरानी दुनिया पेरिस के टाउनहॉल पर लाल झंडे, अर्थात् श्रम के जनतन्त्र के चिह्न को लहराते देखकर आगबबूला हो उठी।

फिर भी यह पहली क्रान्ति थी, जिसमें केवल मालदार पूंजीपतियों को छोड़कर पेरिस के मध्यम वर्ग—दूकानदारों, दस्तकारों, व्यापारियों, आदि—के अधिकांश भाग ने भी मज़दूर वर्ग को खुले रूप में सामाजिक पहलक़दमी की क्षमता रखनेवाला एकमात्र वर्ग माना था। कम्यून ने ख़ुद मध्यम वर्ग के भीतर बार-बार उठनेवाले आपसी ऋणियों और ऋणदाताओं के हिसाब-किताब के झगड़ों का अत्यन्त बुद्धिमानी के साथ निबटारा करके मध्यम वर्ग की रक्षा की थी।[176] यह वही मध्यम वर्ग का जुज़ था, जिसने जून १८४८ में मज़दूरों का विद्रोह कुचलने में सहायता की थी और बाद में जिसे उस समय की संविधान सभा द्वारा कान पकड़कर ऋणदाताओं के हवाले कर दिया गया था।[177] किन्तु केवल इसी चीज़ ने उन्हें मज़दूर वर्ग के साथ आने के लिए उत्प्रेरित नहीं किया था। वे यह महसूस करते थे कि दो ही विकल्प हैं—कम्यून या साम्राज्य—यह साम्राज्य चाहे जिस नाम से भी आये। साम्राज्य ने सार्वजनिक धन का भीषण अपव्यय करके, बड़े पैमाने पर वित्तीय ठगी का बाज़ार गर्म करके और कृत्रिम गतिवर्धन द्वारा पूंजी के केन्द्रीकरण में सहायता पहुंचाकर और साथ ही साथ मध्यम वर्ग का स्वामित्वहरण करके उन्हें तबाह कर दिया था। साम्राज्य ने उनका राजनीतिक रूप से दमन किया था, अपनी रंगरेलियों द्वारा उन्हें नैतिक रूप से स्तंभित किया था, उनके बच्चों की शिक्षा fréres ignorantins[178] के हवाले करके उनकी वाल्तेयरवादी भावनाओं का अपमान किया था और उन्हें युद्ध में ढकेलकर फ़्रांसीसी होने की हैसियत से उनकी राष्ट्रीय भावनाओं पर आघात किया था, क्योंकि इस युद्ध ने जो तबाही पैदा की उसका तुल्यार्थक परिणाम केवल एक था—साम्राज्य की विलुप्ति। दरअसल पेरिस से उच्च बोनापार्तवादी और पूंजीवादी अक्खड़ों के विदा हो जाने के बाद कम्यून के झंडे के नीचे संगठित होकर, थियेर के दुराग्रहपूर्ण मिथ्या-व्याख्याओं के विरोध में कम्यून के लिए लड़ती हुई, मध्यम वर्ग की असली

श्रमन की पार्टी "जनतंत्रीय संघ"[179] की शक्ल में सामने आयी। समय ही बतायेगा कि मध्यम वर्ग के इस बड़े जनसमुदाय की कृतज्ञता-भावना वर्तमान कठिन परीक्षा में टिकी रह सकेगी या नहीं।

कम्यून का किसानों से यह कहना कि "हमारी विजय में ही तुम्हारी एकमात्र आशा निहित है", बिल्कुल ठीक था। वेर्साई में गढ़ी गयी और यूरोप में हमारे तीनकौड़ी के पत्रकारों द्वारा प्रतिध्वनित, तमाम झूठों में सबसे जबर्दस्त झूठ यह था कि "देहाती" फ्रांसीसी किसानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आप सोच सकते हैं कि किसानों के हृदय में उन आदमियों के प्रति कितना प्रेम रहा होगा, जिनको उन्हें १८१५ के बाद एक अरब फ्रैंक का हर्जाना अदा करना पड़ा था![180] एक फ्रांसीसी किसान की दृष्टि में बड़े भूस्वामी का अस्तित्व ही १७८९ की उसकी विजयों का अतिक्रमण है। १८४८ में पूंजीपतियों ने उसकी जोत पर ४५ सांतीम प्रति फ्रैंक का अतिरिक्त कर-भार लादा था, पर उस समय यह कार्य उन्होंने क्रांति के नाम पर किया था; अब उन्होंने क्रांति के विरुद्ध एक गृहयुद्ध इसलिए छेड़ा था कि प्रशा को दिये जानेवाले पांच अरब फ्रैंक के हर्जाने का मुख्य बोझ किसानों के ऊपर डाला जा सके। इसके विपरीत कम्यून अपनी एक आरम्भिक घोषणा में यह कह चुकी थी कि युद्ध का खर्च उन लोगों से वसूला जायेगा, जिन्होंने वास्तव में युद्ध का सूत्रपात किया है। कम्यून किसानों को रक्त-कर से छुटकारा दिलाती, उन्हें सस्ती सरकार देती, उनके वर्तमान खून चूसनेवालों—लेख्य-प्रमाणकों, वकीलों, निष्पादकों तथा अन्य अदालती जोंकों—के स्थान पर कम्यून के वेतनभोगी तथा किसानों ही द्वारा निर्वाचित और उन्हीं के प्रति उत्तरदायी कर्मचारी नियुक्त करती। वह उन्हें ग्रामीण पुलिस, जेन्दार्म और प्रीफ़ेक्त की धांधली से छुटकारा दिलाती; पादरियों द्वारा मूर्ख बनाये जाने के बदले स्कूल के शिक्षकों द्वारा ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कराती। और फ्रांसीसी किसान में सबसे बड़ी बात यह है कि वह बड़ा हिसाबी होता है। उसे सबसे उपयुक्त बात यह लगती कि पादरी का वेतन करदाता की जेब से उगाहे जाने के बदले चर्च के अनुयायियों की धर्म-भावनाओं पर आधारित कर दिया जाये। ये सब बड़े-बड़े तात्कालिक लाभ थे, जो कम्यून का शासन—और केवल कम्यून का ही शासन—फ्रांसीसी किसानों को प्रदान करता था। अतः यहां उन अन्य जटिल किन्तु जीवंत समस्याओं की विस्तारपूर्वक चर्चा करना फ़िज़ूल है, जिन्हें कम्यून ही हल कर सकती थी और जिन्हें, किसानों के हक़ में हल करने के लिए वह बाध्य थी, जैसे किसान की छोटी-सी जोत पर दुःस्वप्न के रूप में मंडरानेवाला बंधक-ऋण,

निरंतर बढ़नेवाली देहाती सर्वहाराओं की संख्या और आधुनिक कृषि के विकास तथा पूंजीवादी तरीक़े से की जानेवाली खेती की होड़ के कारण किसान का उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गति से अपनी भूमि से बेदख़ल होना।

फ़्रांसीसी किसान ने लूई बोनापार्त को जनतन्त्र का राष्ट्रपति निर्वाचित किया था, पर अमन की पार्टी ने साम्राज्य को जन्म दिया। फ़्रांसीसी किसान वास्तव में क्या चाहता है वह उसने १८४९ और १८५० में सरकार के प्रीफ़ेक्ट की जगह अपने मेयर को, सरकार के पादरी की जगह अपने स्कूली शिक्षक को और सरकारी जेन्दार्म के ख़िलाफ़ अपने आप को रखकर जताना शुरू किया था। अमन की पार्टी द्वारा जनवरी और फ़रवरी १८५० में पास किये गये सभी क़ानून किसानों के विरुद्ध साफ़-साफ़ दमनकारी क़ानून थे। किसान बोनापार्तवादी था क्योंकि उसकी दृष्टि में नेपोलियन उस महान् क्रान्ति का, जिससे किसानों को इतने अधिक लाभ प्राप्त हुए थे, मूर्त रूप था। किसानों का यह भ्रम, जो द्वितीय साम्राज्य के समय में तेजी से टूट रहा था (और जो स्वभावतः "देहातियों" के विरुद्ध था), अतीत का यह पूर्वाग्रह, किसानों के जीवंत हितों और आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं के प्रति कम्यून के आह्वान के सामने भला किस प्रकार टिक सकता था?

"देहाती" जानते थे—वस्तुतः यही उनका मुख्य भय था—कि यदि कम्यून के पेरिस का, तीन महीने तक, प्रांतों के साथ अबाध संचार-सम्बन्ध बना रहा तो किसानों में आम बग़ावत हो जायेगी। इसी लिए वे पेरिस के चारों ओर एक पुलिस-घेरा डालने के लिए इतने व्यग्र थे, जिससे कि महामारी बाहर न फैलने पाये।

इस प्रकार कम्यून जहां फ़्रांसीसी समाज के सभी स्वस्थ तत्त्वों का सच्चा प्रतिनिधि और इसलिए सच्ची राष्ट्रीय सरकार थी, वहां मज़दूरों की सरकार होने के कारण, श्रम की मुक्ति का निर्भीक हिमायती होने की हैसियत से वह प्रबल रूप में अन्तर्राष्ट्रीय भी थी। दो फ़्रांसीसी प्रांतों को जर्मनी के वशीभूत करनेवाली प्रशा की सेना की आंखों के सामने ही कम्यून ने सारी दुनिया के मज़दूरों को फ़्रांस के वशीभूत कर लिया।

द्वितीय साम्राज्य सार्वभौमिक बदकारों का महोत्सव था, उसकी पुकार पर सभी देशों के लम्पट उसकी रंगरलियों और फ़्रांसीसी जनता की लूट में शरीक होने के लिए आ इकट्ठे हुए थे। आज भी थियेर का दाहिना हाथ गानेस्कू नामक वालाशियावासी नीच, और उसका बायां हाथ मार्कोव्स्की नामक रूसी जासूस है। कम्यून ने सभी विदेशवासियों को एक अमर ध्येय के लिए अपने प्राण उत्सर्ग करने

के सम्मान का भागीदार बनाया। दूसरी ओर अपनी ग़द्दारी के कारण हारे हुए विदेशी युद्ध और विदेशी आक्रमणकारियों के साथ षड्यंत्र करके आरम्भ किये गये गृहयुद्ध के बीच के काल में पूंजीपतियों ने फ़्रांस में बसे जर्मनों के पीछे पुलिस लगाकर अपनी देशभक्ति का प्रदर्शन किया था। कम्यून ने एक जर्मन मज़दूर को* अपना श्रम-मंत्री बनाया था। थियेर, पूंजीपतियों और द्वितीय साम्राज्य ने पोलैण्ड के साथ हमदर्दी का ढिंढोरा पीटकर उसको निरंतर भुलावे में रखा था, जबकि वास्तव में वे उसे धोखा देकर रूस से मिले हुए थे और रूस के गंदे कामों को अंजाम दे रहे थे। कम्यून ने पोलैंड के वीर सपूतों को पेरिस के रक्षकों के नेता बनाकर उनका सम्मान किया**। और इतिहास के जिस नवीन युग का वह चेतन रूप से शुभारंभ कर रही थी, उसके सम्मान में कम्यून ने एक ओर विजयी प्रशावालों की और दूसरी ओर बोनापार्तवादी जनरलों की कमान में बोनापार्ती सेना की आंखों के सामने सामरिक गौरव के विशाल स्मारक – वांदोम स्तम्भ – को गिरवा दिया।[181]

कम्यून की महत्वपूर्ण सामाजिक कार्रवाई यह थी कि वह काम करते हुए जी रही थी। उसकी विशेष कार्रवाइयां जनता द्वारा जनता की सरकार की प्रवृत्ति की ही द्योतक हो सकती थीं। नानबाई की दूकानों के मज़दूर-कारीगरों से रात का काम लेने की मनाही; दण्ड का विधान करके मालिकों द्वारा हर प्रकार के बहानों द्वारा जुर्माने लगाकर अपने कर्मचारियों की तनख़्वाह घटा देने के दस्तूर पर प्रतिबन्ध (कारख़ाने का मालिक ख़ुद ही विधायक, जज और कार्यसाधक बनकर मज़दूर के पैसे मार लिया करता था) – ऐसी थीं ये कार्रवाइयां। इस वर्ग की एक और कार्रवाई थी सभी बन्द वर्कशॉपों और फ़ैक्टरियों को – जिनके मालिक चाहे भाग गये हों या काम बन्द कर दिया हो – मुआवज़े की शर्त के साथ मज़दूर-संघों के हवाले कर देना।

कम्यून की वित्तीय कार्रवाइयां, जो असाधारण रूप से बुद्धिमत्तापूर्ण और मितव्ययितापूर्ण थीं, शत्रु द्वारा घिरे हुए नगर की अवस्था के अनुरूप ही हो सकती थीं। बड़ी वित्तीय कम्पनियों और ठेकेदारों ने ओस्मान*** के संरक्षण में पेरिस में

---

* लेओ फ़्रांकेल। – **सं०**

** यारोस्लाव दोम्ब्रोव्स्की और वालेरी व्रुबलेव्स्की। – **सं०**

*** द्वितीय साम्राज्य के ज़माने में बैरन ओस्मान (Haussmann) सेन के इलाक़े का, अर्थात् पेरिस नगर का प्रीफ़ेक्त था। उसने मज़दूरों की बग़ावतों को कुचलने की सुगमता की दृष्टि से नगर के नक़्शे में अनेक परिवर्तन कराये। **(व्ला० इ० लेनिन द्वारा सम्पादित १६०५ के रूसी संस्करण के लिए नोट।)**

जो भीषण लूट-खसोट मचायी थी, उसे देखते हुए यदि कम्यून ने उनकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली होती, तो ऐसा करना लूई बोनापार्त द्वारा आर्लियां-परिवार की जायदादज़ब्ती से कहीं अधिक न्यायसम्मत होता। बेशक होहेनज़ालर्न तथा अंग्रेज़ उच्चकुलतन्त्री, जिन्होंने अपनी जायदादों का काफ़ी बड़ा भाग चर्चों की लूट द्वारा अर्जित किया है, इस बात से स्तम्भित हो गये कि कम्यून ने चर्चों की सम्पत्ति ज़ब्त करके केवल ८,००० फ़्रैंक प्राप्त किये।

जैसे ही वेर्साई सरकार में ज़रा-सी जान और ताक़त का पुनःसंचार हुआ, वैसे ही कम्यून के विरुद्ध उसने अत्यधिक हिंसापूर्ण साधनों से काम लिया – जबकि उसने पूरे फ़्रांस में मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता छीन ली, यहां तक कि बड़े नगरों के प्रतिनिधियों की बैठकों पर भी प्रतिबंध लगा दिया; जब उसने वेर्साई तथा शेष फ़्रांस में जासूसी का जाल बिछाकर द्वितीय साम्राज्य को भी मात कर दिया; जब उसने अपने जेन्दार्म के आततायी गुर्गों द्वारा पेरिस में छपे हुए सभी अख़बार जलवा दिये और पेरिस आने-जानेवाली डाक पर सेन्सर बिठा दिया; जबकि राष्ट्रीय सभा में डरते-डरते भी यदि कोई पेरिस के पक्ष में एक शब्द कहने की हिम्मत करता था तो १८१६ की अतुल सभा से भी ज़्यादा हंगामा मचाकर उसका मुंह बन्द कर दिया जाता था; जब वेर्साई सरकार एक ओर बाहर से बर्बरतापूर्ण युद्ध चला रही थी और दूसरी ओर पेरिस के भीतर भ्रष्टाचार फैलाने और षड्यन्त्र रचने की चेष्टायें कर रही थी, तब ऐसे समय कम्यून क्या शान्ति काल की सभी मर्यादाओं और उदारता के दिखावों को क़ायम रखकर अपने कर्तव्य के प्रति शर्मनाक विश्वासघात नहीं करती? यदि कम्यून की सरकार श्री थियेर की सरकार जैसी होती, तो पेरिस में अमन की पार्टी के अख़बारों के दमन के लिए वे ही कारण होते जो कम्यून के अख़बारों के दमन के लिए वेर्साई में थे।

"देहातियों" के लिए यह अवश्य ही ताव खाने की बात थी कि जब वे घोषणा कर रहे थे कि चर्च को पुनः अपना लेने से ही फ़्रांस का उद्धार होगा, उसी समय धर्मविरोधी कम्यून ने पिक्पुस के भिक्षुणी-मठ और सेंत लोरां चर्च के अनोखे रहस्यों का भण्डाफोड़ कर दिया।[182] थियेर पर यह गहरा व्यंग्य था कि जबकि वह बोनापार्तपंथी जनरलों को युद्ध हारने, आत्मसमर्पणपत्रों पर हस्ताक्षर करने और विल्हेल्म्सहोये में बैठे-बैठे सिगरेट लपेटने[183] के उनके बहादुराना कारनामों के लिए उन्हें ग्रैंड-क्रॉस के तमग़े बांट रहा था, उस समय कम्यून अपने जनरलों को, जब भी उनके बारे में यह सन्देह होता कि वे अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना

कर रहे हैं, बर्खास्त और गिरफ़्तार कर रही थी। कम्यून ने अपने एक सदस्य को*, जो नक़ली नाम से घुस आया था और जिसे लियां में साधारण दिवालियेपन के लिए छः दिन की जेल काटनी पड़ी थी, निकाल बाहर किया और उसे गिरफ़्तार कर लिया। क्या यह उस जालिये जूल फ़ाव्र का, जो अब भी फ़्रांस का विदेश-मंत्री बना हुआ था, जो अब भी फ़्रांस को बिस्मार्क के हाथ बेच रहा था और जो अब भी बेल्जियम की आदर्श सरकार पर हुक्म चला रहा था, गहरा अपमान न था? पर कम्यून ने कभी यह दावा नहीं किया था – जो पुरानी क़िस्म की सभी सरकारें किया करती थीं – कि वह ग़लती नहीं कर सकती। वह अपनी करनी और कथनी को प्रकाशित कर देती थी, वह अपनी सारी त्रुटियां जनता को बता देती थी।

हर क्रांति में उसके सच्चे अभिकर्त्ताओं के साथ कुछ दूसरे क़िस्म के लोग भी प्रायः घुस आते हैं। इनमें से कुछ तो अतीत काल की क्रांतियों के अवशेष एवं भक्त होते हैं, जिन्हें वर्तमान आन्दोलन की समझ नहीं होती, पर जो अपनी सुविदित ईमानदारी और दिलेरी के कारण, अथवा केवल परम्परावश जनता में प्रभाव रखते हैं; दूसरे लोग कोरे चिल्लानेवाले होते हैं, जो विद्यमान सरकार को लगातार, वर्षों से घिसे-पिटे मुहावरों में कोसते कोसते अव्वल दर्जे के क्रान्तिवादी होने की ख्याति हासिल कर लेते हैं। १८ मार्च के बाद कम्यून मे इस तरह के कुछ लोग आ गये थे और कुछ ने तो काफ़ी प्रमुख भूमिकाएं भी अदा कीं। जहां तक उनमें शक्ति थी, उन्होंने मज़दूर वर्ग के वास्तविक कार्यों में विघ्न डाला, ठीक उसी तरह जैसा कि इस तरह के लोग पहले की प्रत्येक क्रान्ति के पूर्ण विकास में डालते रहे हैं। ऐसे लोग एक प्रकार की अनिवार्य व्याधि हैं, जिनसे समय पाकर निस्तार मिल जाता है, पर कम्यून को समय मिला ही कहां।

कम्यून ने पेरिस में चमत्कारपूर्ण परिवर्तन कर दिया! द्वितीय साम्राज्य के समय के भ्रष्ट आडम्बरयुक्त पेरिस का अब कहीं पता न था। पेरिस अब अंग्रेज़ ज़मींदारों, आयरलैंड के ऐब्सेंटिस्टों[184], अमरीका के भूतपूर्व दास-स्वामियों और दूसरे नाकारों का, रूस के भूतपूर्व भूदास-स्वामियों और वालाशिया के बोयारी अभिजातों का अड्डा नहीं रह गया था। मुर्दाख़ानों में लाशें न थीं, रात को चोरियों का होना बन्द हो गया था, राहज़नी की शिकायत शायद ही सुनी जाती थी। वस्तुतः फ़रवरी १८४८ के बाद से पेरिस की सड़कें पहली बार निरापद

* ब्लांशे। – सं०

हुई थीं, और वह भी बिना किसी प्रकार की पुलिस के। कम्यून के एक सदस्य ने कहा –

"हत्याओं, चोरियों और व्यक्तियों पर हमलों की घटनाएं अब नहीं सुनी जातीं; दरअसल ऐसा लगता है कि पुलिस अपने साथ अपने पुश्तैनी दोस्तों को भी वेर्साई घसीट ले गयी है।"

पेरिस की वेश्याएं परिवार, धर्म और, सबसे अधिक, सम्पत्ति का दम भरनेवाले अपने भगोड़े संरक्षकों का सुराग़ पाकर उनके पीछे-पीछे चलती बनीं। उनकी जगह पेरिस की असली नारियां – उदात्त और निष्ठापूर्ण वीरांगनायें जैसी कि प्राचीन काल की नारियां होती थीं – मैदान में आ गयीं। कार्यरत, चिन्तनरत, संघर्षरत एवं ख़ून से लथपथ पेरिस एक नये समाज के बीजपोषण में संलग्न होकर द्वार पर खड़े आदमख़ोरों की उपस्थिति को प्रायः भूला हुआ पेरिस अपनी ऐतिहासिक पेशक़दमी के उत्साह से दीप्त था!

पेरिस की इस नयी दुनिया के मुक़ाबले में वेर्साई की पुरानी दुनिया का अवलोकन कीजिये – राष्ट्र की लाश पर महोत्सव मनाने के लिए तैयार, सभी मृत हुकूमतों के शवभोजी प्रेतों, लेजिटिमिस्टों और आर्लियानिस्टों का जमघट; और उनके पुच्छल्ले की तरह लगे हुए दक़ियानूसी जनतन्त्रवादी, जिन्होंने राष्ट्रीय सभा में अपनी उपस्थिति द्वारा दास-स्वामियों के विद्रोह को मान्यता दे रखी थी, जिन्होंने अपने संसदीय जनतन्त्र को क़ायम रखने के लिए अपने जराग्रस्त बाजारू लीडर के मिथ्या अहंकार का भरोसा कर रखा था और जो जे-दे-पोम* में अपनी हौलनाक बैठकें करके १७८९ की नक़ल उतारने की हास्यास्पद चेष्टा करते थे। यह वह सभा थी, जो फ़्रांस की उन सब चीजों का प्रतिनिधित्व करती थी, जो निर्जीव अथवा गतप्राण हो चुकी थीं। उसमें जीवन का यदि कुछ सादृश्य था तो वह केवल लूई बोनापार्त के जनरलों की तलवारों की बदौलत था। पेरिस सचाई की प्रतिमूर्ति था और वेर्साई झूठ की; और यह झूठ थियेर के मुख से मुखरित होता था।

थियेर सेन और वाज़ के मेयरों के एक शिष्टमण्डल से कहता है –

---

*वह टेनिसकोर्ट, जहां १७८९ की राष्ट्रीय सभा ने अपने प्रसिद्ध निर्णय किये थे।[185] **(१८७१ के जर्मन संस्करण के लिये एंगेल्स का नोट।)**

"आप मेरे वचनों पर पूरा भरोसा कर सकते हैं, मैं अपने वचन से आज तक कभी विमुख नहीं हुआ।"

स्वयं राष्ट्रीय सभा से उसने कहा: "फ्रांस में इस जैसी स्वतंत्र रूप से निर्वाचित एवं उदार राष्ट्रीय सभा कभी भी नहीं थी"; अपनी बेढंगी, गड्डमड्ड सेना से उसने कहा कि यह सेना "सारी दुनिया की प्रशंसा की पात्र है; इतनी श्रेष्ठ सेना फ़्रांस ने कभी नहीं देखी है"। प्रांतों से उसने कहा कि यह ख़बर बिल्कुल झूठी है कि उसने पेरिस पर गोलाबारी कराई है–

"अगर कुछ गोले छोड़े गये तो यह वेर्साई की सेना का काम नहीं है, बल्कि यह कुछ ऐसे बाग़ियों का काम है, जो यह दिखाने की कोशिश कर रहे हैं कि वे लड़ रहे हैं, पर दरअसल सामने आने की हिम्मत नहीं रखते।"

दूसरी बार उसने प्रांतों को बताया–

"वेर्साई का तोपख़ाना पेरिस पर गोलाबारी नहीं करता, केवल तोपबाज़ी करता है।"

पेरिस के लाट-पादरी से उसने कहा कि वेर्साई के फ़ौजियों द्वारा लोगों को गोली से उड़ाये जाने और बदला लेने (!) की जो बातें कही जा रही हैं, वे बिल्कुल झूठी हैं। पेरिस से उसने कहा कि वह केवल नगर को "उत्पीड़ित करनेवाले बीभत्स अत्याचारियों से उसका उद्धार करने को व्यग्र है" और पेरिस कम्यून केवल "मुट्ठी-भर मुजरिमों की जमात" है।

थियेर का पेरिस "कमीने अवाम" का असली पेरिस नहीं था, बल्कि वह एक मायानगर था – वह francs-fileurs[186] का पेरिस था; बुलवार के औरत-मर्दों का पेरिस था; अमीरों और पूंजीपतियों का सुनहरा, आलस्यपूर्ण पेरिस था, जो इस समय अपने चाकरों, गुंडों, अपने उच्छृंखल साहित्यकारों और अपनी वेश्याओं के साथ वेर्साई, सेंत-देनी, रुएय और सेंत-जेर्मे में जाकर इकट्ठा हुए थे और वहां से गृहयुद्ध को इस दृष्टि से देख रहे थे मानो वह एक मनोरंजक तमाशा हो। वे दूरबीनों द्वारा लड़ाई का निरीक्षण करते थे, गोलाबारी के राउंड गिनते थे, और अपनी तथा अपनी रण्डियों की इज्ज़त की क़समें खा-खाकर कहते थे – यह तमाशा पोर्ट-सेंट-मार्तें के तमाशों से कहीं ज्यादा शानदार है। इसमें धराशायी

होनेवाले लोग सचमुच मर रहे हैं, आहतों की चीखें असली चीखें हैं; और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह सब कुछ दारुण रूप से ऐतिहासिक है।

यह है थियेर का पेरिस, जिस तरह उत्प्रवासियों का कोब्लेंज़ नगर श्री दे कैलॉन का फ्रांस था।[187]

४

प्रशा के सैनिकों द्वारा क़ब्ज़ा कराकर पेरिस को कुचल देने का दास-स्वामियों का पहला प्रयत्न बिस्मार्क की अस्वीकृति के कारण विफल हुआ। दूसरी, यानी १८ मार्च की, कोशिश में उनकी सेना परास्त हुई और सरकार, पूरे प्रशासन को वहां से हटकर अपने पीछे-पीछे वेर्साई भाग आने का आदेश देकर, वेर्साई भाग निकली। थियेर ने पेरिस के साथ सन्धि की बातचीत का दिखावा करके उसके विरुद्ध युद्ध की तैयारियां करने का मौक़ा हासिल किया। लेकिन सेना कहां से आये? फ़ौजी रेजीमेंटों के जो अवशेष थे, वे संख्या में थोड़े और अविश्वसनीय थे। प्रांतों को उसने वेर्साई की मदद के लिए राष्ट्रीय गार्ड और स्वयंसेवक भेजने की जो आग्रहपूर्ण अपीलें भेजीं उनके जवाब में उसे कोरा इनकार प्राप्त हुआ। केवल ब्रेतानप्रदेश ने मुट्ठी-भर शुआं[188] भेजे; इनका झण्डा सफ़ेद था और इसमें से हर एक ने अपने सीने पर सफ़ेद कपड़े का ईसा के हृदय का निशान लगा रखा था और ये ""Vive le Roi!" (बादशाह ज़िन्दाबाद!) के नारे लगाते थे। अतः जल्दबाज़ी में थियेर तरह-तरह के लोगों की एक गड्डमड्ड भीड़ जमा करने को विवश हुआ। इसमें जहाज़ी, नौसेना के सिपाही, पोप के गार्ड, वालांतीन के जेन्दार्म और पियेत्री की पुलिस तथा उसके जासूस सम्मिलित थे। यह फ़ौज दयनीय रूप से प्रभावहीन होती, यदि इसमें साम्राज्य की सेना के युद्धबन्दी रिहा होकर न आ मिलते। इन सिपाहियों को बिस्मार्क ऐसी क़िस्तों में रिहा कर रहा था कि एक ओर गृहयुद्ध चलता रहे और दूसरी ओर वेर्साई सरकार दीनतापूर्वक प्रशा का मुंह जोहने को भी विवश बनी रहे इस युद्ध के समय में वेर्साई की पुलिस को वेर्साई की फ़ौज की देखभाल करनी पड़ी थी और ख़तरे की जगहों में जेन्दार्म ख़ुद ख़तरा झेलकर उसे किसी प्रकार खींचे ले चल रहे थे। जो क़िले हाथ लगे वे युद्ध में जीते नहीं गये थे, वरन् ख़रीदे गये थे। कम्यूनार्डों की वीरता को देखकर थियेर को विश्वास हो गया कि पेरिस के प्रतिरोध को चूर करना उसकी सामरिक प्रतिभा और सैन्य-बल के बूते की बात नहीं है।

इस बीच में प्रांतों के साथ उसके सम्बन्ध अधिकाधिक कठिन होते जा रहे थे। कहीं से अनुमोदन की एक भी चिट्ठी नहीं आ रही थी, जिससे थियेर और उसके "देहातियों" के दिलों को तसकीन होती। बल्कि बात उलटी थी। चारों ओर से शिष्टमण्डल और चिट्ठियां असम्माननीय शब्दों में मांग कर रही थीं – जनतंत्र को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की जाये, कम्यून की स्वतंत्रताएं स्वीकार की जायें और राष्ट्रीय सभा, जिसका आदेशकाल समाप्त हो चुका है, भंग कर दी जाये और इस आधार पर पेरिस के साथ सुलह की जाये। इन शिष्टमण्डलों और चिट्ठियों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि थियेर के न्याय-मंत्री दूफ़ोर ने राजकीय प्राभियोक्ताओं के नाम २३ अप्रैल की अपनी गश्ती चिट्ठी में यह आदेश दिया कि "सुलह के नारे" को अपराध माना जाये! अपने अभियान की निराशाजनक विफलता को देखते हुए थियेर ने थोड़ा-सा पैंतरा बदला और ख़ुद उसके आदेश पर राष्ट्रीय सभा द्वारा पास किये गये नये नगरपालिका-क़ानून के आधार पर पूरे देश में ३० अप्रैल को नगरपालिकाओं का चुनाव कराने का आदेश दिया। अपने प्रीफ़ेक्टों की साज़िशों और पुलिस की धौंस के जोर पर उसे पूरी आशा थी कि प्रांतों के मत-निर्णय द्वारा वह राष्ट्रीय सभा को नैतिक बल दिला देगा, जो उसे कभी भी प्राप्त न था, और अंततः पेरिस को जीतने के लिए वह प्रांतों से आवश्यक सैन्य-बल प्राप्त कर सकेगा।

आरम्भ से ही थियेर पेरिस के ख़िलाफ़ अपने दस्यु-युद्ध (जिसकी वह अपनी विज्ञप्तियों में ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर तारीफ़ किया करता था) तथा अपने मंत्रियों की पूरे फ़्रांस पर आतंक का राज्य लाद देने की कोशिशों के साथ थोड़ा-सा मेल-मिलाप का नाटक जोड़ देने के लिए व्यग्र था, जिससे कई काम सिद्ध होते। इसका मक़सद प्रांतों को उल्लू बनाना तथा पेरिस के मध्यमवर्गीय तत्त्वों को फांसना, और सबसे मुख्य उसका उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय सभा में जनतन्त्रवादी होने का दम भरनेवाले सदस्यों को पेरिस के प्रति अपनी ग़द्दारी को थियेर में अपनी आस्था का नक़ाब पहनाने का मौक़ा दिया जाये। २१ मार्च को, जब उसकी सेना नहीं बन पाई थी, थियेर ने राष्ट्रीय सभा में घोषणा की थी –

"चाहे कुछ हो जाये, मैं पेरिस के विरुद्ध सेना नहीं भेजूंगा।"

२७ मार्च को उसने फिर ऐलान किया –

"जब मैं इस पद पर नियुक्त किया गया था, जनतन्त्र एक यथार्थ तथ्य था, और मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि मैं उसे क़ायम रखूंगा।"

वस्तुत: लियां और मार्सेई की क्रान्तियों[189] को उसने जनतन्त्र के नाम पर ही कुचला, जबकि वेर्साई में "जनतन्त्र" का नाम लेने से ही उसके "देहाती" जामे से बाहर हो जाते थे। इस कारनामे के बाद "यथार्थ" तथ्य को उसने परिकल्पित तथ्य बना दिया। आर्लियांवंशीय शाहज़ादों को, जिन्हें उसने सावधानी बरतते हुए चेतावनी देकर बोर्दो में क़दम रखने से मना कर दिया था, अब द्रिश्रो में क़ानून की खुली अवहेलना करके साजिशें करने दिया जा रहा था। पेरिस और प्रांतों के प्रतिनिधियों के साथ अपनी अनगिनत मुलाक़ातों के सिलसिले में रियायतें देने का थियेर ने प्रस्ताव किया, गोकि समय और परिस्थिति के अनुसार वे वज़न और अन्दाज़ में बदलती रहीं, वे वास्तव में यहीं तक सीमित थीं कि

"लेकोंत और क्लेमां थोमा की हत्या से सम्बन्धित मुट्ठी-भर मुजरिमों"

के ही ख़िलाफ़ प्रतिशोध की कार्रवाई की जानी चाहिये, और यह स्वयंसिद्ध था कि पेरिस और फ़्रांस निर्विवाद रूप से ख़ुद थियेर को सम्भाव्य जनतन्त्रों में सर्वोत्तम जनतन्त्र मान लें, जैसा कि थियेर ने १८३० में लूई-फ़िलिप के साथ किया था। थियेर ने इन रियायतों को भी, अपने मंत्रियों द्वारा राष्ट्रीय सभा में उनकी आधिकारिक व्याख्या कराकर, संदिग्ध बना देने की केवल सावधानी ही नहीं बरती थी, बल्कि उसने दूफ़ोर से असली कार्रवाई भी करवाई। पुराना आर्लियानिस्ट वकील दूफ़ोर ने हमेशा घेरे की स्थिति में न्याय-व्यवस्थापक का पार्ट अदा किया था—जैसे आज १८७१ में थियेर के साथ, वैसे ही १८३९ में लूईफ़िलिप के साथ, और १८४९ में उसी प्रकार लूई बोनापार्त के राष्ट्रपतित्व के समय में। उन दिनों में जब वह सरकार में नहीं था, उसने पेरिस के पूंजी-पतियों की वकालत कर दौलत इकट्ठी की, और अपने ही बनाये क़ानूनों के ख़िलाफ़ वकालत करके उसने राजनीतिक महत्त्व प्राप्त किया। उसने राष्ट्रीय सभा में अनेक एक ही प्रकार के दमनकारी क़ानूनों को ही जल्दी-जल्दी पास नहीं कराया, जो पेरिस की पराजय के बाद फ़्रांस में जनतांत्रिक स्वातंत्र्य के अंतिम अवशेषों का सफ़ाया करनेवाले थे, बल्कि उसने फ़ौजी अदालत की कार्रवाई को, जो उसके विचार में बहुत सुस्त थी, और भी संक्षिप्त बनाकर[190] तथा देश-निर्वासन का एक बिल्कुल ही नये तरीक़े का डंडा-क़ानून जारी करके पेरिस पर जो बीतनेवाला था उसका पूर्वाभास दिया। १८४८ की क्रांति ने राजनीतिक अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान ख़त्म कर दिया था और उसकी जगह देश-निर्वासन का विधान

किया था। लूई बोनापार्त की हिम्मत नहीं हुई—कम से कम खुलेआम तो नहीं—कि वह गिलोटिन का राज फिर से क़ायम करता। "देहाती सभा" को, जिसकी अभी तक इतनी हिम्मत न हुई थी कि वह इशारतन भी कह सके कि पेरिस वाले विद्रोही नहीं, हत्यारे हैं, पेरिस के प्रति अपने भावी प्रतिशोध को दूफ़ोर के नये देश-निर्वासन क़ानून तक ही सीमित रखना पड़ा। इन सारी परिस्थितियों में स्वयं थियेर मेल-मिलाप का यह नाटक हरगिज़ न खेल पाता यदि "देहाती", जिनके पागुर करनेवाले दिमाग़ों में न तो यह नाटक और न इस नाटक की धूर्त्तता तथा उसके वाक्छल और टालमटोल की आवश्यकता समझने का माद्दा था, बौखलाकर इतनी ज्यादा चीख़-पुकार न मचाते। उसने यह नाटक खेला ही इस इरादे से था कि वे चीख़-पुकार मचायें।

३० अप्रैल का नगरपालिकाओं का निर्वाचन जब शुरू ही होनेवाला था, तब २७ अप्रैल को थियेर ने अपने मेल-मिलाप के नाटक का एक भव्य दृश्य अभिनीत किया। भावुकतापूर्ण वक्तृत्व की धारा प्रवाहित करते हुए उसने राष्ट्रीय सभा के मंच से घोषणा की—

"जनतंत्र के विरुद्ध कहीं कोई षड्यंत्र नहीं है, हां, पेरिस को छोड़कर, जो हमें फ़्रांसीसियों का रक्त बहाने के लिए विवश कर रहा है। मैं बारम्बार कहता हूं—उन अपवित्र हथियारों के उन हाथों से, जिन्होंने उन्हें धारण कर रखा है, छूटते ही शान्ति स्थापित होगी और दंड देने की कार्रवाई तुरंत रोक दी जायेगी—कुछ मुजरिमों को छोड़कर, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी है।"

इस पर "देहातियों" द्वारा जोर से गुल-गपाड़ा मचाये जाने पर थियेर ने फिर कहा—

"सज्जनो, मैं आपसे प्रार्थना करता हूं, बताइये, मैंने कौनसी ग़लत बात कही है? क्या आपको वास्तव में इस बात का खेद है कि मैंने सच-सच कह दिया कि मुजरिमों की संख्या इतनी थोड़ी है? क्या हमारे दुर्भाग्य के बीच यह सौभाग्य की बात नहीं है कि ऐसे लोग, जिन्होंने क्लेमां थोमा और जनरल लेकोंत का ख़ून बहाया है, इने-गिने ही हैं?"

किन्तु थियेर ने आत्मश्लाघा का अनुभव करते हुए जिस भाषण को संसदीय मोहिनी-राग समझा था, उसे फ़्रांस ने अनसुना कर दिया। फ़्रांस में बचे हुए ३५,००० कम्यूनों ने जो ७ लाख नगर-सभासद चुने, उनमें लेजिटिमिस्टों,

आर्लियानिस्टों और बोनापार्तवादियों की मिली-जुली संख्या ८,००० भी न थी। इसके बाद होनेवाले पूरक चुनावों का नतीजा और भी निर्णायक रूप से उनके ख़िलाफ़ निकला। अतः प्रांतों से सैन्य-बल मिलना तो दूर रहा, जिसकी सख़्त ज़रूरत थी, बदले में राष्ट्रीय सभा ने नैतिक बल का, देश के सर्वमताधिकार की अभिव्यक्ति होने का आख़िरी दावा भी खो दिया। यह पराजय तब और भी पूर्ण हो गयी, जब फ़्रांस के सभी नगरों की नवनिर्वाचित नगरपालिकाओं ने नाजायज़ तौर पर सत्तारूढ़ वेर्साई की राष्ट्रीय सभा को यह खुली धमकी दी कि बोर्दो में एक जवाबी राष्ट्रीय सभा क़ायम की जायेगी।

तब बिस्मार्क की निर्णायक कार्रवाई का दीर्घकाल से प्रत्याशित अवसर अन्ततः आ पहुंचा। उसने थियेर को आदेशात्मक संदेश भेजा कि शांति की शर्तें पक्की तौर पर निश्चित करने के लिए वह अपने दूत फ़्रैंकफ़ुर्ट भेजे। अपने मालिक का हुक्म सर आंखों पर रखकर थियेर ने फ़ौरन अपने विश्वस्त जूल फ़ाव्र को पूये-कर्तिये के साथ रवाना किया। पूये-कर्तिये रूआं नगर का एक "प्रमुख" कताई-कारख़ानेदार और द्वितीय साम्राज्य का उत्साही ही नहीं, बल्कि चाटुकार समर्थक भी था। द्वितीय साम्राज्य के प्रति सिवा एक मौक़े को छोड़कर उसे कोई शिक़ायत नहीं हुई थी। यह शिक़ायत भी तब हुई थी, जब साम्राज्य ने इंगलैंड के साथ एक ऐसी वाणिज्य-संधि[191] की थी, जिससे पूये-कर्तिये की दूकानदारी के स्वार्थों पर आंच आई थी। बोर्दो नगर में थियेर के वित्त-मंत्री की कुर्सी पर बैठते ही उसने उस "अपावन" संधि की निंदा की और इस बात का संकेत किया कि उसको शीघ्र ही रद्द कर दिया जायेगा। उसने अल्सास के विरुद्ध, जहां उसके कथनानुसार पहले की कोई अन्तर्राष्ट्रीय संधि बाधक न थी, पुराने संरक्षण-शुल्क को तत्काल लागू करने की कोशिश की; किन्तु उसकी यह धृष्टतापूर्ण कार्रवाई बेकार रही (क्योंकि अपने हिसाब में उसने बिस्मार्क को नहीं लिया था)। इस आदमी से—जो प्रतिक्रांति को रूआं में मज़ूदरी घटाने, और फ़्रांस के प्रान्त शत्रु के हवाले किये जाने को देश में अपने माल के दाम बढ़ाने का साधन समझता था—जूल फ़ाव्र के देशद्रोह के अन्तिम और सबसे भीषण कारनामे में थियेर द्वारा सहायक चुने जाने के लिए अधिक उपयुक्त भला दूसरा कौन हो सकता था?

राजदूतों की यह शानदार जोड़ी ज्यों ही फ़्रैंकफ़ुर्ट पहुंची, त्यों ही उद्धत बिस्मार्क ने इन्हें दो चीज़ों में से कोई एक फ़ौरन चुन लेने का आदेश दिया— "या तो साम्राज्य की पुनःस्थापना करो, या शान्ति-सम्बन्धी मेरी शर्तों को

चुपचाप स्वीकार करो!" इन शर्तों में एक यह भी थी कि युद्ध का हर्जाना चुकाने की अवधियां घटा दी जायेंगी और पेरिस के क़िलों पर प्रशा की फ़ौजों का उस समय तक अधिकार रहेगा जब तक बिस्मार्क को फ़्रांस के अन्दर की स्थिति के बारे में इतमीनान नहीं हो जायेगा – अर्थात् प्रशा फ़्रांस की आंतरिक राजनीति का निर्णायक मान लिया जाये! इसके बदले में पेरिस का सफ़ाया करने के लिए बिस्मार्क ने बोनापार्ती फ़ौजों को रिहा करने तथा उन्हें सम्राट विल्हेल्म की सेना की प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करने का आश्वासन दिया। अपनी नेकनीयती का उसने यह कहकर सबूत दिया कि हर्जाने की पहली किश्त पेरिस को "शांत कर लेने के बाद" चुकाई जा सकती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि थियेर और उसके दूतों ने बड़ी उत्सुकता के साथ कांटे में रखे इस चारे को निगल लिया। १० मई को उन्होंने शांति-संधि पर हस्ताक्षर कर दिये और १८ मई को वेर्साई की सभा द्वारा उसका अनुमोदन करवा लिया।

शांति-संधि होने और बोनापार्ती बंदियों के आने के बीच की अवधि में थियेर ने मेल-मिलाप का अपना नाटक फिर जारी करना और भी आवश्यक समझा, क्योंकि उसकी जनतन्त्रवादी कठपुतलियों को पेरिस के क़त्लेआम की तैयारियों की ओर से आंखें फेर लेने के लिए बहाने की सख़्त ज़रूरत थी। ८ मई को भी मेल-मिलाप चाहनेवाले एक मध्यमवर्गीय शिष्टमण्डल से उसने कहा –

"बाग़ी जब भी आत्मसमर्पण करने के बारे में निश्चित तौर पर फ़ैसला कर लेंगे, जनरल क्लेमां थोमा और जनरल लेकोंत के हत्यारों को छोड़कर पेरिस के फाटक सभी के वास्ते एक हफ़्ते तक के लिए खोल दिये जायेंगे।"

इसके कुछ दिनों बाद जब "देहातियों" ने इस वादे के सम्बन्ध में क्रुद्ध होकर सवाल पर सवाल किये, तो थियेर ने उन्हें कैफ़ियत देने से इनकार कर दिया, पर यह अर्थभरा संकेत ज़रूर दे दिया –

"मैं कहता हूं कि आप लोगों में बहुत-से बेसब्र लोग हैं, ऐसे लोग जो ज़रूरत से ज्यादा जल्दबाज़ी दिखा रहे हैं। उन्हें आठ दिनों का समय और चाहिए; इन आठ दिनों के अंत में ख़तरा नहीं रह जायेगा, और तब कार्य उनकी दिलेरी और बूते के मुआफ़िक़ हो जायेगा।"

ज्यों ही मैक-मेहन उसे यह आश्वासन देने की स्थिति में हो गया कि वह जल्द ही पेरिस में प्रवेश कर सकता है, थियेर ने राष्ट्रीय सभा में घोषणा की –

"मैं **क़ानून** अपने हाथ में लेकर पेरिस में प्रवेश करूंगा और उन कमबख़्तों से, जिन्होंने सैनिकों के प्राणों की बलि दी है और सार्वजनिक स्मारक नष्ट किये हैं, पूर्ण प्रायश्चित्त की मांग करूंगा।"

निर्णय की घड़ी जब नज़दीक आ गयी तो राष्ट्रीय सभा से उसने कहा—"मैं निष्ठुरता से पेश आऊंगा", और पेरिस से उसने कहा—"तुम्हारा अंत आ गया है"। अपने बोनापार्तवादी दस्युदल से उसने कहा कि उसे पेरिस से दिल खोलकर बदला लेने की सरकार की ओर से छूट दी जाती है। अंततः जब २१ मई को विश्वासघात के परिणामस्वरूप पेरिस के फाटक जनरल दूए के लिए खुल गये, तो २२ मई को थियेर ने मेल-मिलाप के अपने नाटक का "लक्ष्य" "देहातियों" के सामने प्रकट कर दिया, जिसे पहले समझने से उन्होंने दुराग्रहपूर्वक इनकार किया था। उसने कहा—

"कुछ दिन पूर्व मैंने आपसे कहा था कि हम **अपने लक्ष्य** पर पहुंच रहे हैं; आज मैं आपको यह सूचना देने आया हूं कि हम **लक्ष्य** पर पहुंच गये हैं। व्यवस्था, न्याय और सभ्यता की आख़िरकार जीत हुई!"

ऐसा ही हुआ था। पूंजीवादी व्यवस्था की सभ्यता और न्याय अपना भयावह रूप तभी प्रकट करता है, जब उसके गुलाम और उत्पीड़ित अपने मालिकों के ख़िलाफ़ सिर उठाते हैं। और तब यह सभ्यता और न्याय नग्न बर्बरता और क़ानूनहीन प्रतिशोध के अपने असली रूप में प्रकट होते हैं। हड़पनेवालों और उत्पादकों के वर्ग संघर्ष के प्रत्येक नये संकट में यह तथ्य और अधिक नग्न रूप में सामने आता है। पूंजीपतियों के जून १८४८ के ज़ालिमाना कारनामे भी १८७१ के अमिट कलंक के आगे फीके पड़ जाते हैं। जिस आत्मत्यागयुक्त शौर्य के साथ पेरिसवासी नर-नारी और बालक वेर्साईपंथियों के प्रवेश के बाद आठ दिनों तक लड़े, वह उनके ध्येय की उदात्तता को उसी तरह प्रतिबिम्बित करता है, जिस प्रकार फ़ौजियों के नारकीय कृत्य उस सभ्यता की आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं, जिसके वे, रुपयों पर बिके हुए, कार्यवाहक हैं। बेशक वह बड़ी ही शानदार सभ्यता है, जिसकी एक बड़ी समस्या यह है कि लाशों के उन ढेरों को कैसे हटाया जाये, जिसका उसने युद्ध ख़त्म होने पर अंबार लगा दिया है!

थियेर और उसके ख़ूनी कुत्तों के कारनामों की मिसाल ढूंढ़ने के लिए हमें सुल्ला और रोम के दो ट्रायमविरेटों के युग में[192] वापस जाना होगा। उसी प्रकार

का भीषण क़त्लेआम—उसी उपेक्षा के साथ चाहे कोई बूढ़ा हो या जवान, मर्द हो या औरत। बन्दियों को शारीरिक यातना देने के वही वहशियाना तरीक़े; उसी प्रकार के मनमाने न्यायनिषेध, परन्तु इस बार एक पूरे के पूरे वर्ग के ख़िलाफ़। ख़ूंख़्वार तरीक़े से फ़रार नेताओं का पीछा, ताकि कोई भाग कर निकल न सके; उसी प्रकार राजनीतिक और वैयक्तिक शत्रुओं पर दोषारोपण; उसी प्रकार बेगुनाह लोगों का, जिनका झगड़े से कोई संबंध न था, अन्धाधुन्ध वध। फ़र्क़ केवल इतना था कि बाग़ियों की पूरी की पूरी टोलियों का एक ही बार में सफ़ाया करनेवाला मित्रैयोज़ जैसा हथियार रोमनों के पास न था। इसके अलावा रोमनों ने "क़ानून अपने हाथ में" नहीं लिया था और न "सभ्यता" की दुहाई ही दी थी।

इन तमाम भयानक कृत्यों के बाद ज़रा इस पूंजीवादी सभ्यता के उस दूसरे और भी भयंकर चेहरे को उस रूप में देखिये, जिसमें उसके अपने ही अख़बारों ने उसका वर्णन किया है!

लंदन के एक टोरी पत्र के पेरिस संवाददाता ने लिखा है—

"ऐसे समय जब गोलियों की आवाज़ें अब भी कहीं दूर गूंज रही हैं; घायल अभागे, जिनकी कोई देखभाल करनेवाला नहीं है, पेयर-ला-शेज़ की क़ब्रों के बीच पड़े दम तोड़ रहे हैं; ६,००० आतंकग्रस्त बाग़ी, निराशा से बदहवास होकर, तहख़ानों की भूलभुलैयों में घूम रहे हैं और पकड़े गये अभागे मित्रैयोज़ की गोलियों से एकसाथ बीसियों की संख्या में उड़ा दिये जाने के लिए जल्दी-जल्दी सड़कों से ले जाये जाते हैं, शराब, बिलियर्ड और डोमिनो के शौक़ीनों की भीड़, बुलवारों पर बिचरती हुई दुराचारिणी नारियां, फ़ैशनेबुल रेस्तोरांओं के अंतःकक्ष से गूंजती हुई और रात्रि की शान्ति को भंग करती हुई विलासोल्लास की ध्वनि घृणोत्पादक जान पड़ती हैं।"

«*Journal de Paris*»[193] नामक वेर्साईपंथी अख़बार में, जिसे कम्यून ने बंद कर दिया था, श्री एदुअर्द एर्वे लिखते हैं—

"पेरिस की जनता (!) ने कल जिस ढंग से अपनी संतुष्टि अभिव्यक्त की, उसमें ओछेपन का आवश्यकता से अधिक आभास था और हमें डर है कि समय बीतने के साथ यह और बढ़ता जायेगा। पेरिस में जो इस समय उत्सव के दिनों जैसी तड़कभड़क है, वह नितांत अनुपयुक्त है; यह चीज़ निश्चय ही ख़त्म होनी चाहिए, वरना लोग हमें पतनोन्मुख पेरिसवासी कहकर पुकारेंगे।"

इसके बाद उन्होंने तासितुस की निम्नलिखित उक्ति उद्धृत की—

"पर उस भीषण संघर्ष की अगली सुबह को ही, जबकि संघर्ष पूरी तरह समाप्त भी नहीं हुआ था, रोम – पतित और भ्रष्टाचारी रोम – एक बार फिर व्यभिचार के उस पंक में लोटने लगा, जो उसके शरीर को नष्ट एवं उसकी आत्मा को भ्रष्ट कर रहा था – alibi proelia et vulnera, alibi balneae popinaeque।" *

श्री एर्वे सिर्फ़ इतना कहना भूल गये कि जिस "पेरिस की जनता" की बात उन्होंने कही है, वह थियेर की, वेर्साई, सेंत-देनी, रुएय और सेंत-जेर्मे से झुंड के झुंड लौट रहे धूर्तों की, **वस्तुतः** पतनोन्मुख पेरिस की जनता है।

मेहनत की गुलामी पर आधारित यह जघन्य सभ्यता जब-जब नवीन और श्रेष्ठतर समाज के आत्मत्यागी समर्थकों पर रक्तरंजित विजय प्राप्त करती है, वह पराजितों की कराह को कुत्सा-प्रचार की एक बाढ़ में डुबो देती है, और यह कुत्सा-प्रचार पूरी दुनिया में प्रतिध्वनित कराया जाता है। मज़दूरों का प्रशांत पेरिस, जहां कम्यून का राज था, "व्यवस्था" के ख़ूनी कुत्तों द्वारा सहसा अव्यवस्था और हिंसा की अन्धेर-नगरी बना दिया जाता है। और संसार के सभी देशों में पूंजीवादी दिमाग़ के लिए यह ज़बरदस्त परिवर्तन क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यून ने सभ्यता के विरुद्ध षड्यंत्र किया है! पेरिस की जनता कम्यून के लिए इतनी बड़ी संख्या में उत्साहपूर्वक अपने प्राणों की बलि देती है, जिसकी इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं। इससे क्या सिद्ध होता है? यही कि कम्यून जनता की सरकार न थी, बल्कि मुट्ठी-भर मुजरिमों की नाजायज़ हुकूमत थी! पेरिस की नारियां ख़ुशी-ख़ुशी सड़क-मोर्चों और फांसी के तख़्तों पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाती हैं। यह क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यूनरूपी राक्षस ने उन्हें मेगेरायें और हेकेटाएं बना दिया है! जितनी वीरता के साथ कम्यून ने अपनी रक्षा के लिए युद्ध किया उतनी ही उसने दो महीने के एकछत्र शासन में नरमी भी बरती। यह क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यून दो महीनों तक कोमलता और मानवीयता के छद्म आवरण में अपनी रक्तलोलुप राक्षसी हिंस्रवृत्ति को छिपाये था, जिसे उसने अब अपने कठिन क्लेश की घड़ी में प्रकट किया है!

मज़दूरों के पेरिस ने जब वीरतापूर्वक अपने को होम करना आरम्भ किया, तो उन्होंने इमारतों और स्मारकों को भी इस आग की लपट में भस्म हो जाने

---

* यहां पर लड़ाई और घाव, वहां स्नानागार और भोज। –सं०

दिया। सर्वहाराओं के जीवित शरीर को बोटी बोटी काटते समय उसके शासकों को आगे से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि जीत कर घर लौटने पर वे अपनी इमारतें सहीसलामत खड़ी पायेंगे। वेर्साई की सरकार "आतशज़नी!" का शोर मचाती है, और दूरवर्ती गांवों तक में अपने गुर्गों को संकेत करती है कि वे उसके शत्रुओं को पेशेवर आतशज़न बताकर पकड़ें। सारी दुनिया के पूंजीपति, जो युद्धोपरांत होनेवाले सामूहिक हत्याकाण्ड पर चूं तक नहीं करते, ईंट और गारे की पवित्रता नष्ट होने पर कांप उठते हैं!

जब सरकारें अपनी नौसेनाओं को "मारने, **आग लगाने** और नष्ट करने" की सरकारी छूट प्रदान करती हैं तो क्या यह आतशज़नी की छूट है? जब ब्रिटिश फ़ौजियों ने वाशिंगटन-स्थित कैपिटल और चीनी सम्राट के ग्रीष्मप्रासाद में निरंकुश होकर आग लगाई थी[194] तो क्या वह आतशज़नी थी? जब प्रशा के सैनिकों ने सैनिक कारणों से नहीं, वरन् केवल बदले की भावना से प्रेरित होकर, शातोदें जैसे क़स्बों और अनगिनत गांवों में पेट्रोल छिड़ककर आग लगाई थी तो क्या वह आतशज़नी थी? जब थियेर ने छः हफ़्तों के दौरान पेरिस पर यह कहते हुए गोलाबारी की थी कि हम उन्हीं मकानों को जलाना चाहते हैं, जिनमें लोग हैं, तो क्या यह आतशज़नी थी? युद्ध में अग्नि का प्रयोग वस्तुतः एक वैसा ही जायज़ हथियार है, जैसा कोई भी हथियार हो सकता है। उन इमारतों पर, जिन पर दुश्मन का क़ब्ज़ा है, आग लगाने के लिए गोलाबारी की जाती है। यदि रक्षकों को पीछे हटना पड़ता है तो वे स्वयं उनमें आग देते हैं ताकि आक्रमण के लिए उन्हें इस्तेमाल न किया जा सके। सारी दुनिया में नियमित सेनाओं के युद्ध-मोर्चों के क्षेत्र में अवस्थित मकानों का यह दुर्निवार भाग्य रहा है कि वे जलाये जायें। लेकिन दास-उत्पीड़कों के विरुद्ध दासों के युद्ध में, जो इतिहास का एकमात्र न्याय्य युद्ध है, यह कहा जा रहा है कि यहां यह नियम लागू नहीं होता! कम्यून ने आग का इस्तेमाल सोलहों आना प्रतिरक्षात्मक साधन के रूप में किया। उसने इसका इस्तेमाल वेर्साई की फ़ौजों के लिए उन लम्बे, सीधे मार्गों को बंद करने के लिए किया, जिन्हें ओस्मान ने ऐलानिया तौर पर तोपख़ाने की मार के लिए खुला रखा था। वे पीछे हटते समय अपने बचाव के लिए उसी प्रकार उसका इस्तेमाल कर रहे थे, जिस प्रकार वेर्साई के सिपाही आगे बढ़ने के लिए तोप के गोलों का इस्तेमाल कर रहे थे, जिनसे उतने ही मकान नष्ट हुए, जितने कम्यून द्वारा आग लगाये जाने से। आज भी यह विवादास्पद प्रश्न है कि किन मकानों को प्रतिरक्षकों ने और किन को आक्रमणकारियों ने जलाया। और

प्रतिरक्षकों ने आग का इस्तेमाल तभी किया, जब वेर्साई के फ़ौजियों ने बन्दियों को अंधाधुंध क़त्ल करना शुरू किया। इसके अलावा कम्यून ने बहुत पहले ही, सार्वजनिक रूप में, इस बात की घोषणा की थी कि अगर उसे आख़िरी हद तक मजबूर किया गया तो वह अपने को पेरिस के खण्डहरों में दफ़न करेगी, पेरिस को दूसरा मास्को बना देगी,[195] जैसा कि प्रतिरक्षा की सरकार ने भी एक समय ऐलान किया था यद्यपि केवल अपनी ग़द्दारी पर पर्दा डालने के लिए। इस काम के लिए त्रोशू ने पेट्रोल मुहैया कर दिया था। कम्यून जानती थी कि उसके विरोधियों को पेरिस की जनता के प्राणों की चिंता नहीं है, लेकिन उन्हें पेरिस की अपनी इमारतों की फ़िक्र जरूर है। दूसरी ओर थियेर यह सूचना दे चुका था कि वह निर्मम होकर बदला लेगा। ज्यों ही एक तरफ़ उसकी सेना सज्जित हो गई और दूसरी तरफ़ प्रशियाइयों ने पिंजड़े का दरवाज़ा बन्द किया, त्यों ही उसने ऐलान किया – "मैं निष्ठुरता से पेश आऊंगा! उन्हें पाप का पूरा प्रायश्चित्त करना होगा, न्याय निर्मम होकर अपना काम करेगा!" यदि पेरिस के मजदूरों का काम एक बर्बर कृत्य था तो यह हताश प्रतिरक्षा की बर्बरता थी न कि विजय की, न ही वह वैसी बर्बरता थी, जैसी ईसाइयों ने प्राचीन काल के मूर्तिपूजकों की अमूल्य कला-निधियों को ध्वंस करके दिखाई थी, और जिसे इतिहास-लेखक ने यह कहकर उचित ठहराया है कि उदित हो रहे नये समाज और पतनशील पुराने समाज के प्रकाण्ड संघर्ष की यह अनिवार्य एवं अपेक्षाकृत तुच्छ उपघटना मात्र थी। वह बर्बरता और भी कम मात्रा में ओस्मान की बर्बरता जैसी थी, जिसने ऐतिहासिक पेरिस को ढहाकर उसे तमाशबीनों का पेरिस बना दिया!

पर इसका क्या जवाब है कि कम्यून ने पेरिस के लाट-पादरी के साथ चौसठ अन्य ओलों को गोली मार दी! पूंजीपतियों और उनकी सेना ने एक पुराना रिवाज, जिसका प्रचलन युद्ध में बहुत पहले उठ चुका था, जून १८४८ में फिर से जारी किया था – निहत्थे बन्दियों को गोली मार देने का रिवाज। तब से यूरोप और भारत में सभी जन-आन्दोलनों को कुचलनेवालों ने इस पाशविक प्रथा का कमोबेश पूरी वफ़ादारी के साथ पालन किया है, और ऐसा करके सिद्ध किया है कि यह वास्तव में "सभ्यता की प्रगति" है! दूसरी ओर प्रशावालों ने फ़्रांस में ओल बनाने की प्रथा, निर्दोष लोगों को बन्दी बनाने की प्रथा फिर से चालू की, जिन्हें अपनी ज़िन्दगी देकर दूसरों के किए का मोल चुकाना पड़ता था। जैसा कि हम देख चुके हैं, जब थियेर ने संघर्ष के आरम्भ से ही कम्यून के

बंदियों को गोलियों से उड़ा देने की मानवीय प्रथा को लागू किया, तब कम्यून को इन बंदियों के प्राण बचाने के लिए ओल बनाने की प्रशावालों की प्रथा का सहारा लेना पड़ा। ओल जीवन का अधिकार कई बार खो चुके थे, क्योंकि वेर्साई-पंथियों ने बन्दियों को गोलियों से उड़ाना जारी रखा था। उस क़त्लेआम के बाद, जिसके साथ मैक-मेहन के प्रीटोरियनों[196] ने अपने पेरिस-प्रवेश का समारोह मनाया था, इनकी जानें अब किस प्रकार बख़्शी जा सकती थीं? पूंजीवादी सरकार की हिंस्रवृत्ति पर अंकुश रखने का अन्तिम साधन—ओल रखना—भी क्या केवल एक स्वांग बनाकर छोड़ दिया जाता? लाट-पादरी दार्बोआ का असली हत्यारा थियेर है। कम्यून ने थियेर के हाथों में केवल एक बन्दी, ब्लांकी, के बदले लाट-पादरी और बहुत-से अन्य पादरियों को लौटाने का बारम्बार प्रस्ताव रखा था। पर थियेर इन प्रस्तावों को दुराग्रहपूर्वक ठुकराता गया। वह जानता था कि ब्लांकी को कम्यून के हाथों में सौंपना उसे एक मस्तक प्रदान करना होगा, जबकि लाट-पादरी लाश के ही रूप में उसके लिए सबसे अधिक उपयोगी होगा। उसने कैवेन्याक का अनुसरण किया। कैवेन्याक और उसके "अमन के लोगों" ने जून १८४८ में बाग़ियों के ख़िलाफ़ लाट-पादरी आफ़्र का हत्यारे होने का आरोप लगाकर रोषपूर्वक ख़ूब शोरग़ुल मचाया था! वे अच्छी तरह जानते थे कि लाट-पादरी को "अमन" के सैनिकों ने मारा था। लाट-पादरी के प्रधान वीकर श्री जाक्मे ने, जो मौक़े पर मौजूद थे, घटना के बाद फ़ौरन इस आशय का बयान दिया था।

ख़ून की होली खेलते समय अपने शिकार के विरुद्ध इस तरह कुत्सा-प्रचार की धुन बांध देना, जिसमें अमन पार्टी कभी नहीं चूकती, केवल यही सिद्ध करता है कि हमारे युग का पूंजीपति अपने को पुराने जमाने के उन सामंतों का क़ानूनी वारिस मानता है, जो समझते थे कि आम जनता के विरुद्ध अपने प्रत्येक हथियार का उपयोग जायज़ है, किन्तु आम जनता के हाथ में किसी प्रकार का हथियार होना जुर्म है।

विदेशी आक्रमणकारी की सरपरस्ती में चलाये गये गृहयुद्ध द्वारा क्रांति को कुचलने के शासक वर्ग के इस षड्यंत्र की परिणति—जिसका पूरा ब्यौरा हमने (४ सितम्बर से लेकर मैक-मेहन के प्रीटोरियनों के सेंत-क्लू के फाटक में प्रवेश करने तक) ऊपर दिया है—पेरिस के भीषण हत्याकाण्ड में हुई। पेरिस के खंडहरों को देखकर बिस्मार्क फूला नहीं समा रहा है। यह विध्वंस उसके लिए सम्भवतः बड़े नगरों के उस आम विध्वंस की पहली किस्त है जिसकी ,कामना उसने १८४९ में ही की थी, जब वह प्रशा की chambre introuvable[197] का एक साधारण

"देहाती" सदस्य था। पेरिस के सर्वहाराओं की लाशें देखकर वह फूला नहीं समा रहा है। उसके लिए यह केवल क्रांति का ही मूलोच्छेदन नहीं, बल्कि फ़्रांस का भी विनाश है, जिसका वास्तव में सिर काटा जा चुका है और अपनी ही सरकार के हाथों से। सफल राजनीतिज्ञ के छिछले दृष्टिकोण के अनुसार, जो प्रायः ऐसे राजनीतिज्ञों की ख़ासियत होती है, बिस्मार्क इस ज़बरदस्त ऐतिहासिक घटना की केवल ऊपरी सतह देख रहा है। इसके पहले इतिहास ने भला कब ऐसा नज़ारा प्रदर्शित किया कि विजेता की विजय की परिणति इस रूप में हुई कि वह विजित सरकार का सिपाही ही नहीं, बल्कि भाड़े का गुंडा भी बन गया? प्रशा और पेरिस कम्यून के बीच युद्ध नहीं हो रहा था; प्रत्युत कम्यून शांति की प्रारम्भिक शर्तें मान चुकी थी और प्रशा ने तटस्थता घोषित कर रखी थी। इसलिए प्रशा युद्धकारी पक्ष न था। उसने बुज़दिल गुंडे का काम किया, क्योंकि उसने अपने को जोखिम में नहीं डाला था; उसने भाड़े के गुंडे का काम किया, क्योंकि उसने अपने लिए पहले से ही पेरिस का पतन हो जाने पर ५० करोड़ की ख़ून की उजरत मनवा रखी थी। इस प्रकार अन्ततोगत्वा उस युद्ध का असली स्वरूप प्रगट हो गया, जिसके लिए कहा गया कि वह निरीश्वरवादी एवं व्यभिचारी फ़्रांस का धार्मिक एवं नैतिक प्रशा के हाथों दैवी दण्ड था! किन्तु जिस कारनामे को पुराने ख़्याल के वकील भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का घोर उल्लंघन कहेंगे, वह यूरोप की "सभ्य" सरकारों को इसके लिए उत्प्रेरित नहीं करता कि वे प्रशा की अपराधी सरकार को—पीटर्सबर्ग-मंत्रिमण्डल के इस गुर्गे को—न्यायबाह्य घोषित कर दें। इसके बजाय वे केवल इसी सोच-विचार में पड़ी हैं कि उन थोड़े-से लोगों को, जो पेरिस के दोहरे घेरे से बचकर भाग निकले हैं, वेर्साई के जल्लादों के हवाले कर देना चाहिए या नहीं!

आधुनिक युग के सबसे बड़े युद्ध के बाद विजयी और विजित सेनाएं दोनों मिलकर सर्वहाराओं का क़त्लेआम करने के लिए भाईचारा क़ायम करें—यह अभूतपूर्व घटना उभरते हुए नये समाज के अंतिम रूप से कुचल दिये जाने का द्योतक नहीं है, जैसा कि बिस्मार्क सोचता है। वास्तव में यह पूंजीवादी समाज के धूल में मिल जाने का परिचायक है। सबसे प्रबल बहादुराना उद्यम, जिसके लिए पुराना समाज अब भी सशक्त है, राष्ट्रीय युद्ध है; और अब यह राष्ट्रीय युद्ध सरकारी चालबाज़ी सिद्ध हो चुका है, जिसका अभिप्राय वर्ग संघर्ष की रोक-थाम है, परन्तु जैसे ही वर्ग संघर्ष गृहयुद्ध की शक्ल अख़्तियार कर लेता है, वैसे ही राष्ट्रीयता की नक़ाब उतार दी जाती है। वर्ग-शासन राष्ट्रीयता के जामे में

अब अपने को छिपाने में असमर्थ है; सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध सभी राष्ट्रीय सरकारें एक हैं!

१८७१ के ईस्टरोत्तर-इतवार के बाद फ्रांस के मज़दूरों और उनके उत्पादन को हड़प लेनेवालों के बीच शांति या युद्ध-विराम नहीं हो सकता। हो सकता है कि भाड़े की फ़ौज का फ़ौलादी हाथ दोनों वर्गों को कुछ समय के लिए सामान्य उत्पीड़न की जंजीरों में जकड़ रखे। पर संघर्ष बार-बार और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर अनिवार्य रूप में छिड़ेगा और इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं कि अन्त में विजय किसकी होगी – मुट्ठी-भर लुटेरों की या बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग की। और फ्रांस का मज़दूर वर्ग आधुनिक सर्वहारा वर्ग का हरावल ही है।

जबकि यूरोप की सरकारें पेरिस के सम्बन्ध में वर्ग-शासन के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का प्रमाण दे रही हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ – पूंजीपति वर्ग की सार्वभौमी साजिश के विरुद्ध मज़दूरों के जवाबी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन – को इन सभी आपदाओं की जड़ बताकर उसके ख़िलाफ़ शोर-गुल मचाती हैं। थियेर ने कहा कि संघ श्रम का मुक्तिदाता होने का दम भरता है, लेकिन वास्तव में वह उसका तानाशाह है। पीकार ने हुक्म जारी किया कि फ्रांस और बाहर के इन्टरनेशनल-पंथियों के बीच हर प्रकार का संचार-संबंध बन्द कर दिया जाये। थियेर के १८३५ के मोमियानुमा साथी काउंट जोबेर का कहना है कि इंटरनेशनल को उखाड़ फेंकना सभी सभ्य सरकारों का महान लक्ष्य है। "देहाती" इसके विरुद्ध गर्जन-तर्जन करते हैं और यूरोप के सभी अख़बार उनकी ताल में सुर मिलाकर चलते हैं। एक माननीय फ्रांसीसी लेखक* का, जिसका हमारे संघ से कोई सम्बन्ध नहीं है, कहना है –

"राष्ट्रीय गार्ड की केन्द्रीय समिति के सदस्य और कम्यून के सदस्यों की अधिकांश संख्या अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सबसे सक्रिय, तेज़ और ओजवान् मस्तिष्क हैं ... वे सर्वथा ईमानदार, सच्चे, तीक्ष्णबुद्धि, निष्ठावान्, निष्कलंक और दीवाने ("दीवाने" शब्द के भले अर्थ में) लोग हैं।"

पुलिस मनोवृत्ति द्वारा प्रभावित पूंजीवादी मस्तिष्क स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ को इस रूप में चित्रित करता है कि मानो वह गुप्त षड्यंत्र रचने के ढंग से काम करता है और उसकी केन्द्रीय समिति समय-समय पर आदेश

---

*संभवतः रोबिने। –सं०

भेजकर विभिन्न देशों में विस्फोट करवाती है। वस्तुतः हमारा संघ सभ्य जगत् के विभिन्न देशों के अग्रतम मज़दूरों को एक सूत्र में बांधनेवाला अंतर्राष्ट्रीय संगठन मात्र है। जहां कहीं, जिस किसी रूप में, और जैसी भी अवस्था में वर्ग संघर्ष कुछ दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, वहां, ज़ाहिर है, हमारे संघ के सदस्य मैदान में सबसे आगे होते हैं। जिस धरती से उसका जन्म हुआ है वह स्वयं आधुनिक समाज है। कितना भी ख़ून बहाया जाये उसकी हस्ती मिटाई नहीं जा सकती। उसे मिटाने के लिए सरकारों को श्रम पर पूंजी के स्वेच्छाचारी शासन को मिटाना होगा, अर्थात् अपने ही परजीवी अस्तित्व के आधार को।

मज़दूरों का पेरिस और उसकी कम्यून नये समाज के शानदार अग्रदूत के रूप में सदा यशस्वी रहेंगे। उसके शहीदों ने मज़दूर वर्ग के विशाल हृदय में अपना स्थान बना लिया है। उसे मिटानेवालों को इतिहास ने चिरकाल के लिए मुजरिम के उस कठघरे में बन्द कर दिया है, जिससे उनके पादरियों की सारी प्रार्थनाएं भी उन्हें छुड़ा न सकेंगी।

२५६, हाई हालबर्न, लंदन,
वेस्टर्न सेंट्रल, ३० मई १८७१।

नोट

१

"बन्दियों की क़तार ऐवन्यू ऊहरीश में रुकी, और बन्दी सड़क के सामने की पटरी पर चार-चार या पांच-पांच की क़तारों में खड़े कर दिये गये। जनरल मारक्विस दे गैलीफ़े और उसके अफ़सरान अपने घोड़ों से उतरे और उन्होंने पंक्ति का बायीं ओर से निरीक्षण करना आरम्भ किया। धीरे-धीरे चलते हुए और पंक्तियों पर निगाह दौड़ाते हुए जनरल कहीं-कहीं रुक जाता था और किसी बन्दी के कन्धे पर हलकी-सी थपकी लगाता था या उसे पंक्ति से बाहर आ जाने को कहता था। प्रायः होता यह था कि इस प्रकार चुने हुए व्यक्ति, बिना और किसी बातचीत के, सड़क के बीच में खड़े कर दिये जाते थे, जहां शीघ्र ही इन चुने हुए आदमियों की एक नई क़तार बन जाती थी ... स्पष्ट था कि इसमें ग़लती होने की बड़ी गुंजाइश थी। एक घुड़सवार अफ़सर ने किसी ख़ास अपराध के कारण किसी मर्द और औरत की ओर जनरल गैलीफ़े को इशारा किया। औरत पंक्ति से निकलकर जनरल के पैरों पर गिर पड़ी और दोनों हाथ फैलाकर बड़े ही आवेगयुक्त स्वर में कहने लगी कि मैं निर्दोष हूं। जनरल ने ज़रा देर उसके रुकने का इंतज़ार किया, फिर संवेदनाशून्य तथा अविचलित भाव से कहने लगा— 'मदाम! मैं पेरिस के सभी थियेटर देख चुका हूं, आपके इस अभिनय का मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ सकता' (ce n'est pas la peine de jouer la comédie)... उस दिन अपनी बग़ल के लोगों की अपेक्षा ज़्यादा लम्बा, ज़्यादा साफ़ या ज़्यादा गंदा, ज़्यादा उम्रवाला या ज़्यादा बदसूरत होना अशुभ था। एक आदमी मुझे ऐसा दिखाई पड़ा जिसे, मेरे ख़्याल से, दुनिया के बखेड़ों से जल्दी मुक्ति सिर्फ़ इस कारण मिली कि उसकी नाक टूटी हुई थी ... सौ से अधिक आदमी जब इस तरह चुने जा चुके तो गोली चलानेवालों की एक टोली बना दी गयी, और इन्हें छोड़कर क़तार आगे बढ़ गयी। कुछ मिनटों के बाद हमारे पीछे गोलियों की बौछार शुरू हुई और पन्द्रह मिनट से अधिक तक जारी रही। यह इन सरसरी तौर पर मुजरिम करार दिये गये अभागों का मृत्युदंड था।" (*«Daily News»*[198] का पेरिस सम्वाददाता, ८ जून।)

यह गैलीफ़े, "द्वितीय साम्राज्य की रंगरलियों में अपने निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शनों के लिए मशहूर अपनी पत्नी का रखैल", युद्ध के समय फ़्रांस का "एंसाइन पिस्टल" कहलाता था।

"*«Temps»*[199] ने, जो एक ज़िम्मेदार अखबार है और जो सनसनीखेज़ ख़बरें छापना नहीं पसंद करता, यह हौलनाक ख़बर छापी है कि किस तरह लोगों को ठीक से गोली नहीं मारी गई और उन्हें जान निकलने के पहले ही ज़िन्दा दफ़ना दिया गया। बहुत-से लोग सेंत-जाक-ला-बूशियेर के पास के मैदान में दफ़नाये गये थे, जिनमें कुछ की तो क़ब्रें भी ठीक से खोदी नहीं गयी थीं। दिन के समय चालू सड़कों के शोरगुल की वजह से किसी को कुछ पता न चला; पर रात की निस्तब्धता में पड़ोस के घरों के लोग कहीं दूर से आती हुई कराह की आवाज़ सुनकर जग पड़े। और सबेरे किसी का मुट्ठी बंधा हाथ ज़मीन से बाहर निकल दिखायी दिया। फलस्वरूप, क़ब्रों को फिर से खोदकर लाशें निकालने का हुक्म हुआ ... मुझे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि बहुत-से घायलों को जीवित ही दफ़ना दिया गया है। एक वाक़या तो मैं ख़ुद जानता हूं। जब ब्रूनेल को उसकी प्रेयसी के साथ २४ तारीख़ को प्लास वांदोम के एक मकान के आंगन में गोली मारी गयी तो उनकी लाशें २७ तारीख़ के तीसरे पहर तक वहीं पड़ी रहीं। जब दफ़न करनेवालों की टोली लाश हटाने के लिए आई तो उसने औरत को जीवित पाया और उसे ऐम्बुलेन्स में पहुंचा दिया। यद्यपि उसे चार गोलियां लगी थीं, तथापि अब वह ख़तरे के बाहर है।" ((*«Evening Standard»*)[200] का पेरिस सम्वाददाता, ८. जून।)

२

निम्नांकित पत्र[201] १३ जून के लन्दन के *«Times»* में प्रकाशित हुआ था:
«Times» के सम्पादक को

महोदय, ६ जून १८७१ को श्री जूल फ़ाव्र ने सभी यूरोपीय सरकारों के नाम एक गश्ती चिट्ठी जारी की है, जिसमें उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के पीछे इस तरह पड़ने का आग्रह किया है कि उसे निकलने का मार्ग न मिले। उनकी इस दस्तावेज़ का सच्चा स्वरूप जाहिर करने के लिए यहां पर कुछ शब्द काफ़ी होंगे।

हमारी नियमावली की प्रस्तावना में ही कहा गया है कि इंटरनेशनल की स्थापना "२८ सितम्बर १८६४ को सेंट-मार्टिंस हॉल, लांग-एकर, लंदन, की

एक जन-सभा में" हुई। किन्तु जूल फ़ाव्र ने अपने किसी मतलब से उसकी स्थापना की तारीख़ १८६२ से भी पहले कर दी है।

हमारे सिद्धांतों को समझाने के लिए वह, "उसके" (अर्थात् इंटरनेशनल के) "२५ मार्च १८६९ के रिसाले का" हवाला देने का दावा करते हैं। लेकिन उन्होंने हवाला दिया है किसका?—इंटरनेशनल का नहीं, वरन् किसी और ही समिति के रिसाले का! इस तरह का हथकण्डा वह पहले भी खेल चुके हैं, जब वह अपेक्षाकृत एक नये वकील थे और काबे द्वारा «*National*» नामक पत्र के ख़िलाफ़ दायर किये गये मानहानि के मुक़दमे में सफ़ाई के वकील थे। उस समय यह कहकर कि वह काबे की पुस्तिकाओं के उद्धरण पढ़ रहे हैं, वह दरअसल अपने क्षेपक पढ़ने लगे थे। इस चाल का अदालत के सामने ही पर्दाफ़ाश हो गया, और यदि काबे ने रियायत न की होती तो जूल फ़ाव्र पेरिस के वकील-मण्डल से निकाल बाहर किये गये होते। जिन दस्तावेज़ों का उन्होंने इंटरनेशनल की दस्तावेज़ें कहकर हवाला दिया है, उनमें से एक भी इंटरनेशनल का नहीं है। उदाहरणार्थ, उन्होंने कहा है—

"जुलाई १८६९ में लंदन में संस्थापित जनरल कौंसिल का कहना है कि संघ अपने को अनीश्वरवादी घोषित करता है।"

जनरल कौंसिल ने ऐसी कोई दस्तावेज़ जारी नहीं की है। इसके विपरीत उसने एक दूसरी दस्तावेज़* जारी की थी, जिसमें जूल फ़ाव्र द्वारा कहे गये "संघ"—जेनेवा के L'Alliance de la Démocratie Socialiste**—की मूल नियमावली को मंसूख़ कर दिया गया था।

अपनी पूरी गश्ती चिट्ठी में, जो अंशतः साम्राज्य के विरुद्ध होने का भी दिखावा करती है, जूल फ़ाव्र ने इंटरनेशनल के विरुद्ध साम्राज्य के सरकारी वकीलों द्वारा गढ़े तमाम पुलिस-सबूतों को ही दुहराया है, जिनकी उसी साम्राज्य की अदालतों तक में धज्जियां उड़ गयी थीं।

यह सर्वविदित है कि गत युद्ध-सम्बन्धी अपनी दो (गत जुलाई और सितम्बर की) चिट्ठियों में*** इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल ने प्रशा की फ़्रांस-विजय की

---

*देखें, कार्ल मार्क्स, 'अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ तथा समाजवादी-जनवादी संघ'।—**सं०**

समाजवादी-जनवादी संघ।—सं०**

***प्रस्तुत खंड, पृष्ठ १२०–१२५, १२६–१३५।—**सं०**

योजनाओं की निन्दा की थी। इसके बाद जूल फ़ाव्र के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री रेतलेंजर ने जनरल कौंसिल के कुछ सदस्यों से यह दरख़ास्त की, गोकि उनकी चेष्टा निष्फल हुई, कि बिस्मार्क के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार के पक्ष में एक प्रदर्शन किया जाये; उनसे ख़ास तौर से अनुरोध किया गया था कि वे जनतन्त्र का नाम न लें। जूल फ़ाव्र के प्रत्याशित लन्दन आगमन के सम्बन्ध में प्रदर्शन की जो तैयारियां हुई थीं – बेशक ये तैयारियां नेक इरादे से की गई थीं – वे जनरल कौंसिल की सम्मति के बावजूद की गयी थीं। जनरल कौंसिल ने ६ सितम्बर की अपनी चिट्ठी में पेरिस के मज़दूरों को जूल फ़ाव्र तथा उनके सहकर्मियों से होशियार हो जाने की स्पष्ट चेतावनी दी थी।

यदि इंटरनेशनल भी यूरोप के सभी मंत्रिमण्डलों के नाम जूल फ़ाव्र के सम्बन्ध में एक गश्ती चिट्ठी जारी करके उनका ध्यान स्वर्गीय मिल्येर द्वारा पेरिस में प्रकाशित दस्तावेज़ों की ओर आकर्षित करे, तो जूल फ़ाव्र महोदय क्या कहेंगे?

आपका आज्ञाकारी सेवक,
जॉन हेल्स,
सेक्रेटरी, जनरल कौंसिल, अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ।

२५६, हाई हॉलबर्न, लंदन,
वेस्टर्न सेंट्रल, १२ जून।

हमारे धर्मभीरु मुखबिर ने, लंदन के *«Spectator»* ने (२४ जून) 'अन्तर्राष्ट्रीय संघ और उसके लक्ष्य' शीर्षक एक लेख में – *«Times»* में इस प्रतिवाद के छपने के ग्यारह दिन बाद – इसी प्रकार की और भी तिकड़मबाज़ी के साथ उपरोक्त दस्तावेज़ को इंटरनेशनल की कृति बताते हुए उसमें से जूल फ़ाव्र से भी अधिक उद्धरण प्रकाशित किया है। हमें इस पर आश्चर्य नहीं है। फ़्रेडरिक महान् कहा करता था कि जेजुइटों में सबसे बुरे प्रोटेस्टेन्ट जेजुइट हैं।

कार्ल मार्क्स द्वारा अप्रैल –
मई १८७१ में लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

जून १८७१ के मध्य में लंदन में अलग पुस्तिका के रूप में मुद्रित तथा १८७१–१८७२ के दौरान यूरोप के विभिन्न देशों तथा संयुक्त राज्य अमरीका में प्रकाशित।

टिप्पणियां

[1] २८ सितम्बर १८६४ को लन्दन के सेंट मार्टिन्स हाल में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की स्थापना हुई (जो आगे चलकर पहला इंटरनेशनल के नाम से प्रसिद्ध हुआ) और उसकी अस्थायी समिति का चुनाव हुआ। कार्ल मार्क्स उस समिति के सदस्य बने तथा उन्हें संघ के कार्यक्रम-सम्बन्धी दस्तावेज़ें तैयार करने के लिए समिति द्वारा ५ अक्तूबर को अपनी पहली बैठक में नियुक्त एक आयोग का सदस्य निर्वाचित किया गया। २० अक्तूबर को आयोग ने मार्क्स को वह दस्तावेज़ सम्पादित करने का आदेश दिया, जिसे उसने मार्क्स की बीमारी के समय तैयार किया था। माज़्ज़िनी तथा ओवेन के विचारों की भावना में लिखित यह दस्तावेज़ मार्क्स ने वस्तुतः अस्वीकृत कर दी। इसके स्थान पर उन्होंने दो नयी दस्तावेज़ें लिखीं – '**अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की उद्‌घाटन-घोषणा**' तथा '**संघ की अस्थायी नियमावली**'। आयोग ने २७ अक्तूबर को अपनी बैठक में उन्हें अनुमोदित कर दिया। १ नवम्बर १८६४ को 'उद्‌घाटन-घोषणा' तथा 'नियमावली' को अस्थायी समिति ने भी अनुमोदित कर दिया, जिसने अपने को अन्तर्राष्ट्रीय संघ के अग्रणी निकाय के रूप में गठित किया। यह निकाय साधारणतया १८६६ के अन्त तक केन्द्रीय परिषद के नाम से पुकारा जाता था और १८६६ के अन्त से वह जनरल कौंसिल के नाम से पुकारा जाने लगा। मार्क्स इसके वास्तविक संगठनकर्त्ता तथा नेता थे। वह नाना सन्देशों, वक्तव्यों, प्रस्तावों तथा अन्य दस्तावेज़ों के लेखक थे।

पहली कार्यक्रम-दस्तावेज़ में, 'उद्‌घाटन-घोषणा' में मार्क्स मज़दूर जनसाधारण के सामने इस विचार पर ज़ोर देते हैं कि उन्हें राजनीतिक सत्ता हासिल

करनी चाहिए, स्वतंत्र सर्वहारा पार्टी की स्थापना करनी चाहिए तथा अन्य देशों के मज़दूरों के साथ भ्रातृत्वपूर्ण संघ स्थापित करना चाहिए। सन्देश सबसे पहले १८६४ में प्रकाशित हुआ तथा पहले इंटरनेशनल की, जिसका अस्तित्व १८७६ को समाप्त हो गया, पूरी अवधि में बार-बार प्रकाशित होता रहा।—पृ० ६।

[2] **"गला घोंटनेवाले"** (Garroters) —१६ वीं शताब्दी के सातवें दशक में डाकुओं को यह नाम दिया गया था। जो कोई उनके हाथ लग जाता था, उसका वे गला घोंट देते थे।—पृ० १०।

[3] यहां इशारा 'निर्वासन तथा कठोर श्रम कारावास-सम्बन्धी क़ानूनों के अमल की जांच के लिए नियुक्त आयुक्तों की रिपोर्ट' (खंड १, लन्दन, १८६३) की ओर है जिसका नाम नीले आवरण से रखा गया था।—पृ० १०।

[4] **अमरीका में गृहयुद्ध** (१८६१—१८६५) उत्तर के औद्योगिक राज्यों तथा दक्षिण के दास-स्वामी विद्रोही राज्यों के बीच हुआ था। इंगलैंड के मज़दूर वर्ग ने अपने पूंजीपति वर्ग की, जो दास-स्वामियों का समर्थन कर रहा था, नीति का विरोध किया तथा गृहयुद्ध में इंगलैंड को हस्तक्षेप करने से रोका।—पृ० १०।

[5] **चार्टिज़्म**—१६ वीं शताब्दी के चौथे तथा पांचवें दशक में ब्रिटिश मज़दूरों का आम क्रान्तिकारी आन्दोलन। १८३८ में चार्टिस्टों ने संसद के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक अर्ज़ी (पीपुल्स चार्टर) तैयार की, जिसमें २१ वर्ष से ऊपर के पुरुषों के लिए गुप्त मतदान के ज़रिए सर्वमताधिकार की, संसद के चुनाव में खड़े होनेवालों के लिए सम्पत्ति की शर्त के ख़ात्मे, आदि की मांग की गयी। यह आन्दोलन बड़ी-बड़ी सभाओं के आयोजन के साथ शुरू हुआ। पीपुल्स चार्टर के क्रियान्वयन के लिए संघर्ष—यह उसका नारा था। २ मई १८४२ को चार्टिस्टों ने संसद को दूसरी अर्ज़ी भेजी। इस बार इसमें कई सामाजिक स्वरूप की मांगें थीं (कार्य-दिवस छोटा हो, वेतन अधिक हो, आदि)। संसद ने अर्ज़ी ठुकरा दी। इसके उत्तर में चार्टिस्टों ने एक आम हड़ताल संगठित की। १८४८ में उन्होंने एक तीसरी अर्ज़ी लेकर संसद की ओर बहुत बड़ा जलूस ले जाने की योजना बनायी। परन्तु सरकार ने सैनिक बुला लिये तथा जलूस रोक दिया। अर्ज़ी को ठुकरा दिया गया। १८४८ के बाद चार्टिस्ट आन्दोलन का ह्रास होने लगा।

चार्टिस्ट आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण था स्पष्ट कार्यक्रम तथा कार्यनीति एवं अडिग क्रान्तिकारी सर्वहारा नेतृत्व का अभाव। फिर भी चार्टिस्टों का ब्रिटेन के राजनीतिक इतिहास तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग आन्दोलन पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। – पृ० १५।

[6] कार्य-दिवस को सरकारी तौर पर दस घंटे तक सीमित करने के लिए मज़दूर वर्ग का आन्दोलन १८वीं शताब्दी के अन्त में शुरू हुआ था तथा १६वीं शताब्दी के चौथे दशक में सर्वहारा जनसाधारण उसके लिए संघर्ष करने लगा था।

संसद ने सिर्फ़ बालकों तथा स्त्रियों के लिए दस घंटे के कार्य-दिवस का विधेयक ८ जून १८४७ को पास किया था, परन्तु अनेक कारख़ाना-मालिकों ने उस पर भी अमल नहीं किया। – पृ० १५।

[7] **'आम नियमावली'** अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के लन्दन सम्मेलन में सितम्बर १८७१ में अनुमोदित की गयी थी। वह मार्क्स द्वारा १८६४ में, जब पहले इंटरनेशनल की स्थापना हुई थी, तैयार अस्थायी नियमावली पर आधारित थी (देखें टिप्पणी १)। सितम्बर १८७२ में हेग कांग्रेस ने 'नियमावली' में धारा ७ के बाद एक अतिरिक्त धारा ७ क सम्मिलित करने के बारे में मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा तैयार प्रस्ताव मंजूर किया था, जिसमें मज़दूर वग के राजनीतिक कार्यकलाप के बारे में लन्दन कांफ़्रेंस के सितम्बर १८७१ के नवें प्रस्ताव की अन्तर्वस्तु शामिल की गयी थी। 'नियमावली' में धारा ७ क को शामिल करने के बारे में हेग कांग्रेस का प्रस्ताव खंड २, भाग २ में देखें। – पृ० १६।

[8] संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के दुबारा राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के उपलक्ष्य में उनके नाम अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ का सन्देश जनरल कौंसिल के निर्णयानुसार मार्क्स ने लिखा था। – पृ० २३।

[9] यहां इशारा **'स्वातंत्र्य घोषणापत्र'** की ओर है, जिसे उत्तरी अमरीका के १३ ब्रिटिश उपनिवेशों के डेलीगेटों ने फ़िलडेलफ़िया में हुई कांग्रेस में ४ जुलाई १७७६ को पास किया था। घोषणापत्र ने इन उपनिवेशों की ब्रिटेन से पृथकता तथा एक स्वतंत्र गणराज्य की, संयुक्त राज्य अमरीका की स्थापना की

उद्घोषणा की। उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता, क़ानून के समक्ष नागरिकों की समता, जनता की प्रभुसत्ता तथा अन्य पूंजीवादी-जनवादी सिद्धान्तों की भी उद्घोषणा की थी। परन्तु अमरीकी पूंजीपति वर्ग तथा बड़े ज़मींदारों ने शुरू से ही घोषणापत्र में निरूपित जनवादी अधिकारों का उल्लंघन किया, जनसाधारण को देश के राजनीतिक जीवन में भाग लेने से रोका तथा दासत्व को बरक़रार रखा, जिसने नीग्रो लोगों को, देश की आबादी के एक काफ़ी बड़े भाग को मूल मानव-अधिकारों से वंचित रखा। – पृ० २३।

[10] **कपास संकट** संयुक्त राज्य अमरीका से कपास का निर्यात बन्द होने के कारण पैदा हुआ था। इसकी वजह यह थी कि गृहयुद्ध के ज़माने में उत्तरवासियों के जहाज़ी बेड़े ने दक्षिण के दास-स्वामी राज्यों की नाक़ाबन्दी कर दी थी। इस कपास संकट के कारण यूरोप के अधिकांश कपास उद्योग ठप्प हो गये, जिससे मज़दूरों की हालत और बिगड़ गयी। परन्तु सारी मुसीबतों के बावजूद यूरोपीय मज़दूरों ने उत्तरी राज्यों का सक्रिय समर्थन किया। – पृ० २४।

[11] **ब्रिटेन के उत्तरी अमरीकी उपनिवेशों का** ब्रिटिश राज के विरुद्ध **स्वातंत्र्य-संग्राम** स्वतंत्रता-प्राप्ति की तथा पूंजीवादी विकास की राह से अड़चनें हटाने की नवोदित अमरीकी पूंजीवादी राष्ट्र की इच्छा का फल था। उनकी विजय के फलस्वरूप एक स्वतंत्र पूंजीवादी राज्य – संयुक्त राज्य अमरीका – का जन्म हुआ। – पृ० २४।

[12] **'प्रूदों के विषय में'** लेख मार्क्स ने प्रूदों की मृत्यु के सिलसिले में *«Social Demokrat»* अख़बार के सम्पादक के अनुरोध पर लिखा था। मार्क्स ने प्रूदों के दार्शनिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचारों की अपनी कृति 'दर्शन की दरिद्रता' तथा अपनी अन्य कृतियों में जो आलोचना की थी, उसका एक तरह सार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने प्रूदोंवाद के खोखलेपन का पर्दाफ़ाश किया। "सामाजिक प्रश्न के समाधान" के लिए प्रूदों की व्यावहारिक परियोजनाओं की चर्चा करते हुए मार्क्स ने "मुफ़्त उधार" और इस पर आधारित "जन बैंक" के प्रूदों के विचार की, मार्क्स के शब्दों में प्रूदोंवादी पंथ द्वारा बड़े ज़ोरशोर से विज्ञापित "सरासर **कूपमंडूकतावादी** कल्पनाविलास" की धज्जियां उड़ा दीं। मार्क्स उनका निम्नपूंजीपति वर्ग के विशिष्ट सिद्धान्तकार के रूप में चित्रण करते हैं। – पृ० २५।

[13] *«Social Demokrat»* – लासालपंथी ग्राम जर्मन मज़दूर संघ का मुखपत्र, जो बर्लिन में इस नाम से १५ दिसम्बर १८६४ से लेकर १८७१ तक प्रकाशित होता रहा। १८६४–१८६७ में उसके सम्पादक श्वीट्ज़र थे।–पृ० २५।

[14] यहां इशारा प्रूदों की कृति *«Essai de grammaire générale»* ('ग्राम व्याकरण पर निबंध') की ओर है, जो इस पुस्तक में प्रकाशित हुई – Bergier, *«Les éléments primitifs des langues»*. Besançon, 1837 (बेर्जिये। 'भाषाओं के प्राथमिक आधार'। बेज़ांसोन, १८३७)।–पृ० २५।

[15] यहां इशारा जां पियेर ब्रिस्सो द वारविल की कृति *«Recherches philosophiques. Sur le droit de propriété et sur le vol, considérés dans la nature et dans la société»* (दार्शनिक खोज। प्रकृति और समाज में स्वामित्व और चोरी के संबंध में) की ओर है।–पृ० २७।

[16] Ch. Dunoyer. *«De la liberté du travail, ou Simple exposé des conditions dans lesquelles les forces humaines s'exercent avec le plus de puissance»*. T. I—III, Paris, 1845 (शार्ल दुनुअइये। 'श्रम की स्वतंत्रता के संबंध में, या उन परिस्थितियों की सरल चर्चा, जिनमें मानवीय शक्ति अधिक से अधिक कारगरता से व्यक्त होती है'। खंड १– ३, पेरिस, १८४५)।–पृ० ३१।

[17] यहां इशारा फ़्रांस में १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति की ओर है।–पृ० ३१।

[18] यहां इशारा ३१ जुलाई १८४८ को फ़्रांसीसी राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन में प्रूदों के एक भाषण की ओर है, जिसमें उन्होंने निम्न-पूंजीवादी कल्पनाविलासप्रधान सिद्धान्तों की भावना में कुछ प्रस्ताव (कर्ज़ पर ब्याज का उन्मूलन, आदि) प्रस्तुत किये और साथ ही २३–२६ जून १८४८ को पेरिस सर्वहारा आन्दोलन में भाग लेनेवालों के विरुद्ध दमनात्मक कार्रवाइयों को हिंसा तथा स्वेच्छाचारिता की अभिव्यक्ति बताया।–पृ० ३१।

[19] **जून-विप्लव** – २३–२६ जून १८४८ में पेरिस के मज़दूरों का वीरतापूर्ण विद्रोह, जिसे फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने निर्ममतापूर्वक कुचल दिया। यह संसार में सर्वहारा तथा पूंजीपति वर्ग के बीच पहला महान गृहयुद्ध था।–पृ० ३१।

[20] यहां इशारा फ़ांसीसी राष्ट्रीय सभा के वित्त आयोग के समक्ष प्रस्तुत प्रूदों के प्रस्तावों के विरुद्ध २६ जुलाई १८४८ को थियेर के भाषण की ओर है।– पृ० ३२।

[21] «*Gratuité du crédit. Discussion entre m. Fr. Bastiat et m. Proudhon*». Paris, 1850 ('मुफ़्त उधार। श्रीमान बास्तिआ और श्रीमान प्रूदों के बीच बहस'। पेरिस, १८५०)।–पृ० ३२।

[22] देखें P. J. Proudhon. «*Si les traités de 1815 ont cessé d'exister? Actes du futur congrès*». Paris, 1863 (पियेर जोजेफ़ प्रूदों। 'क्या १८१५ के समझौते अब भी मौजूद हैं? भावी कांग्रेस के कार्य'। पेरिस, १८६३)। इस कृति में प्रूदों पोलैंड के संबंध में वियेना कांग्रेस (१८१५) के निर्णयों को संशोधित करने का तथा यूरोपीय जनवाद द्वारा पोलिश राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का समर्थन किये जाने का विरोध करते हैं और इस तरह रूसी ज़ारशाही की दमन-नीति को न्यायोचित ठहराते हैं।–पृ० ३३।

[23] यह जून १८६५ में पहले इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल की बैठकों में मार्क्स द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट का पाठ है। इस रिपोर्ट में मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त के आधार को पहली बार प्रकाश में लाये थे। यह रिपोर्ट वैसे तो जॉन वेस्टन नामक इंटरनेशनल के एक सदस्य के ग़लत दृष्टिकोण के विरुद्ध लक्षित थी, जिसका यह मत था कि ज़्यादा वेतन मज़दूरों की हालत नहीं सुधार सकता तथा ट्रेड यूनियनों की गतिविधियों को अहितकर माना जाना चाहिए। रिपोर्ट ने प्रूदोंवादियों तथा लासालपंथियों पर भी कड़ी चोट की, जिनका मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष तथा ट्रेड यूनियनों के प्रति नकारात्मक रुख़ था। मार्क्स ने पूंजीवादी शोषकों के आगे सर्वहाराओं की निष्क्रियता और दीनता की भावना का घोर विरोध किया। उन्होंने मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष की भूमिका तथा महत्व को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया और इसे सर्वहारा के अन्तिम ध्येय के, उजरती दासता के उन्मूलन के ध्येय के अन्तर्गत रखने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। रिपोर्ट की पांडुलिपि सुरक्षित रखी गयी है। रिपोर्ट पहले-पहल १८९८ में मार्क्स की बेटी एल्योनोरा ने लन्दन में «*Value, Price and Profit*» ('मूल्य, दाम और मुनाफ़ा') शीर्षक के साथ प्रकाशित की थी, जिसकी प्रस्तावना उनके पति एडवर्ड एवेलिंग ने लिखी

थी। एवेलिंग ने ही भूमिका तथा पहले ६ अध्यायों के लिए, जिनके पांडुलिपि में कोई शीर्षक नहीं थे, शीर्षक लिखे। प्रस्तुत संस्करण में मुख्य शीर्षक के अलावा बाक़ी सब शीर्षक मौजूद हैं।–पृ० ३५।

[24] 'अस्थायी नियमावली' के अनुसार १८६५ में ब्रसेल्स में आयोजित होनेवाली कांग्रेस की जगह इससे पहले लन्दन में कांफ़्रेंस हुई। (देखें टिप्पणी ३६)।–पृ० ३५।

[25] फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के दौरान १७६३ और १७६४ में जैकोबिन कन्वेन्शन ने कुछ चीज़ों की क़ीमतों के लिए एक हद बांध दी और उच्चतम मज़दूरी स्थापित की।–पृ० ४४।

[26] **अंग्रेज़ विज्ञानोन्नति समाज** १८३१ में क़ायम किया गया था और वह आज भी मौजूद है। यहां मार्क्स का इशारा डब्ल्यू० न्यूमार्च (मार्क्स ने इस नाम को ग़लत लिखा है) के उस भाषण की ओर है, जो उन्होंने सितम्बर १८६१ में समाज की आर्थिक शाखा की एक सभा में दिया था।–पृ० ४४।

[27] R. Owen. «*Observations on the Effect of the Manufacturing System*». London, 1817, p. 76 (आर ओवेन, 'मैनुफ़ेक्चर प्रणाली के प्रभाव पर विचार'। लन्दन, १८१७, पृ० ७६)।–पृ० ४४।

[28] यहां इशारा १८५३–१८५६ के क्रीमिया युद्ध की ओर है जिसे रूस ने इंगलैंड, फ़्रांस, तुर्की और सार्डीनिया के सहबंध के विरुद्ध निकट पूर्व में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए शुरू किया। इस युद्ध में रूस की पराजय हुई।–पृ० ४५।

[29] १६ वीं शताब्दी के मध्य में देहाती इलाक़ों में रिहायशी मकानों के बड़े पैमाने पर गिराये जाने का कारण एक हद तक यह था कि ग़रीबों की सहायता के लिये ज़मींदारों द्वारा देय कर की मात्रा मुख्यतः उनकी ज़मीनों पर आबाद ग़रीबों की तादाद पर निर्भर थी। ज़मींदारों ने जानबूझ कर उन मकानों को गिरा दिया, जिनकी उन्हें ज़रूरत न थी, लेकिन फिर भी जहां "अतिरिक्त" खेतिहर आबादी आश्रय ले सकती थी।–पृ० ४५।

[30] **कला-सोसाइटी** (Society of Arts)—एक पूंजीवादी लोकोपकारी शिक्षा समाज, जिसकी स्थापना लंदन में १७५४ में हुई थी। यहां जिस लेख का ज़िक्र है, वह जॉन मॉर्टन के पुत्र जॉन चाल्मर्स मॉर्टन ने समाज की एक सभा में पढ़ा था।—पृ० ४६।

[31] इंगलैंड में **अनाज क़ानून**, जिनका उद्देश्य विदेशों से अन्न के आयात को सीमित करना या रोक देना था, बड़े-बड़े ज़मींदारों के हितों की हिफ़ाज़त के लिए लागू किये गये थे। १८३८ में मैंचेस्टर के कारख़ानेदार, काबडेन और ब्राइट ने अनाज क़ानून विरोधी संस्था की स्थापना की, जिसने मुक्त व्यापार की मांग को पेश किया। संस्था ने मज़दूरों की मज़दूरी घटाने और सामंती अभिजात वर्ग की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति को कमज़ोर करने की ग़रज़ से अनाज क़ानून के उन्मूलन के लिए संघर्ष किया। इस संघर्ष के फलस्वरूप १८४६ में अनाज क़ानून रद्द कर दिये गये; इसका अर्थ यह था कि औद्योगिक पूंजीपति वर्ग ने सामन्ती अभिजात वर्ग पर विजय पाई।—पृ० ४६।

[32] A. Smith. *«An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations»*. vol. I,Edinburgh,1814, p. 93('राष्ट्रों की सम्पदा के स्वरूप तथा कारणों की जांच'। खण्ड १, एडिनबुर्ग, १८१४, पृ० ९३)।—पृ० ६३।

[33] यहां इशारा उन युद्धों की ओर है, जिन्हें १८ वीं **शताब्दी** के अन्त में, फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के दौरान, इंगलैंड ने फ़्रांस के ख़िलाफ़ चलाया। उस समय इंगलैंड में वहां की सरकार ने जनता का दमन करने के लिए आतंक राज्य स्थापित किया, उदाहरण के लिए कई विद्रोह कुचल डाले गये और ट्रेड यूनियनों पर रोक लगानेवाले क़ानूनों को लागू किया गया।—पृ० ८१।

[34] यहां कार्ल मार्क्स का इशारा माल्थस की एक पुस्तिका की ओर है, जिसका शीर्षक है: *«An Inquiry into the Nature and Progress of Rent, and the Principles by which it is regulated»*. London, 1815 ('किराये के स्वरूप तथा प्रगति और उन सिद्धांतों की जांच, जिन द्वारा उसका नियमन किया जाता है'। लन्दन, १८१५)।—पृ० ८१।

[35] इंगलैंड में १७ वीं शताब्दी में मोहताजों के लिये श्रमालय खोले गये। १८३४ में **ग़रीब-क़ानूनों** के लागू होने के बाद ये श्रमालय ग़रीबों की सहायता का

एकमात्र रूप रह गये। ये अपने जेलख़ाने जैसे कठोर अनुशासन के लिए बदनाम थे और लोग उन्हें "ग़रीबों की कालकोठरी" कहकर पुकारते थे। – पृ० ८१।

[36] इंगलैंड में १६ वीं शताब्दी से प्रचलित **ग़रीब क़ानूनों के मुताबिक़** हर पैरिश को ग़रीबों की सहायता के लिए एक विशेष कर देना पड़ता था। पैरिश के जो निवासी अपने पैरों पर खड़े न हो सकते थे उन्हें दरिद्र सहायता संस्थाओं की ओर से अनुदान मिलते थे। – पृ० ८६।

[37] D. Ricardo. «*On the Principles of Political Economy, and Taxation*». London, 1821, p. 479 ('राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा कर-प्रणाली के सिद्धांतों के विषय में'। लन्दन, १८२१, पृ० ४७९)। – पृ० ८८।

[38] ये **निर्देश** मार्क्स ने अस्थायी केन्द्रीय परिषद (जिसका आगे चलकर जनरल कौंसिल नाम रखा गया) के डेलिगेटों के लिए तैयार किये थे तथा ये अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जेनेवा में ३–८ सितम्बर १८६६ को हुई पहली कांग्रेस को भेजे गये थे। इन निर्देशों ने उन प्रश्नों के उत्तर मुहैया किये, जिन पर कांग्रेस में बहस होनी थी। उनमें मज़दूर जनसाधारण को एकजुट करने, उनकी वर्ग-चेतना का स्तर ऊपर उठाने और उन्हें मज़दूर वर्ग द्वारा किये जानेवाले आम संघर्ष की ओर आकृष्ट करने के लिए लक्षित कई पग उठाने का सुझाव दिया गया था। निर्देशों में मार्क्स द्वारा सूत्रबद्ध नौ मुद्दों में से ६ कांग्रेस के प्रस्तावों के रूप में अनुमोदित किये गये थे। ये अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त कार्रवाई, कार्य-दिवस घटाने, बाल तथा नारी श्रम, सहकारी श्रम, ट्रेड यूनियनों तथा स्थायी सेनाओं के बारे में थे। – पृ० ९२।

[39] यहां इशारा २५–२९ सितम्बर १८६५ को हुई **लन्दन कांफ़्रेंस** की ओर है, जिसमें जनरल कौंसिल के सदस्य तथा अलग-अलग शाखाओं के नेता शामिल हुए। कांफ़्रेंस ने जनरल कौंसिल की रिपोर्ट सुनी तथा उसकी वित्तीय रिपोर्ट और अगली कांग्रेस की कार्यविषयसूची अनुमोदित की। मार्क्स ने लन्दन कांफ़्रेंस की, जिसने इंटरनेशनल के गठन तथा संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, तैयारी और उसके कार्य का संचालन किया। – पृ० ९२।

[40] २०–२५ अगस्त १८६६ को बाल्टिमोर में हुई अमरीकी मज़दूर कांग्रेस में क़ानून द्वारा आठ घंटे के कार्य-दिवस की स्थापना पर विचार-विमर्श हुआ था। इसमें

अलावा बाल्टिमोर कांग्रेस ने इन प्रश्नों पर भी विचार किया – मज़दूरों की राजनीतिक गतिविधियां, सहकारी सोसायटियां, तमाम मज़दूरों को ट्रेड यूनियनों में संगठित करना, हड़तालें, आदि। – पृ० ६५।

[41] यहां इशारा १८६५–१८६७ के दूसरे मताधिकार-सुधार के लिए आम जनवादी आन्दोलन में ब्रिटिश ट्रेड यूनियनों की आम शिरक़त की ओर है। पहला सुधार १८३१–१८३२ में किया गया था, जिसके फलस्वरूप बड़े उद्योग के प्रतिनिधि संसद में प्रवेश कर सके।

मताधिकार-सुधार के समर्थकों की २३ फ़रवरी १८६५ को हुई सभा ने, जो इंटरनेशनल की पहल पर तथा उसकी सक्रिय शिरक़त से हुई थी, एक रिफ़ार्म लीग (सुधार लीग) स्थापित करने का निर्णय किया, जो ब्रिटिश मज़दूरों के दूसरे मताधिकार-सुधार आन्दोलन का संचालन करनेवाला राजनीतिक केन्द्र बन गयी। मार्क्स के आग्रह पर रिफ़ार्म लीग ने पूरे देश की पुरुष आबादी के लिए सार्विक मताधिकार की मांग पेश की। परन्तु लीग के नेताओं के बीच पूंजीवादी आमूल परिवर्तनवादियों के, जो जन-आन्दोलन से घबरा गये थे, कारण तथा अवसरवादी ट्रेड यूनियन नेताओं की समझौतापरस्त नीति के कारण लीग जनरल कौंसिल द्वारा तैयार लाइन पर अमल करने में विफल रही। ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग आन्दोलन में फूट डालने में सफल हो गया। १८६७ में सीमित पैमाने पर सुधार लागू किया गया, जिसमें केवल निम्नपूंजीपति वर्ग को तथा मज़दूर वर्ग के सबसे ऊपरी भागों को मताधिकार दिया गया और अधिकांश आबादी को पहले की तरह मताधिकार से वंचित रखा गया। – पृ० १००।

[42] अमरीका में गृहयुद्ध के दौरान अमरीकी ट्रेड यूनियनों ने उत्तरी राज्यों को दास-स्वामियों के ख़िलाफ़ संघर्ष में सक्रिय सहायता दी थी। – पृ० १००।

[43] शेफ़ील्ड कांफ़्रेंस १७–२१ जुलाई १८६६ में हुई। उसने तालाबन्दी के ख़िलाफ़ संघर्ष के तरीक़ों पर विचार किया। – पृ० १००।

[44] यूरोप के राजाओं का **पुनीत संघ** ज़ारशाही रूस, आस्ट्रिया तथा प्रशा द्वारा १८१५ में स्थापित किया गया था। उसका उद्देश्य कतिपय देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलना तथा वहां सामन्ती-राजतंत्रवादी हुकूमतों को बनाये रखना था। – पृ० १०१।

[45] **'पूंजी'** – मार्क्सवाद की प्रमुख प्रतिष्ठित कृति है, मार्क्स की जीवन-साधना का फल थी। उन्होंने १९ वीं शताब्दी के पांचवें दशक के आरम्भ में इस रचना का काम शुरू कर दिया था और ४० वर्षों तक, अपने जीवन के अंतकाल तक वह उसमें जुटे रहे।

मार्क्स ने १८४३ के अंत से पेरिस में राजनीतिक अर्थशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन शुरू किया। इस क्षेत्र में उनके प्रारंभिक अनुसंधान के निष्कर्ष '१८४४ की आर्थिक तथा दार्शनिक पांडुलिपियां', 'जर्मन विचारधारा', 'दर्शन की दरिद्रता', 'मजदूरी और पूंजी', 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', आदि ग्रंथों में देखे जा सकते हैं।

१८५७ और १८५८ में मार्क्स ने ५० फ़रमों से भी बड़ी एक पांडुलिपि तैयार की, जो वास्तव में उनके भावी ग्रंथ 'पूंजी' का एक स्थूल प्रारूप थी। इस पांडुलिपि को पहले पहल सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा जर्मन में *«Grundrisse der Kritik der politischen Oekonomie»* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा की प्रमुख विशेषताएं') शीर्षक से १९३९ और १९४१ के बीच प्रकाशित किया गया। इन्हीं दिनों मार्क्स ने अपनी सम्पूर्ण कृति की पहली रूपरेखा तैयार की, जिसे आगामी महीनों में उन्होंने विशद रूप दिया। अप्रैल १८५८ में उन्होंने इस रचना को छ: खंडों में पूरा करने का निश्चय किया। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने इसे एक साथ ही नहीं, बल्कि अलग-अलग भागों में प्रकाशित करने का निर्णय किया।

१८५८ में उन्होंने अपनी पहली पुस्तक तैयार करना शुरू किया। यह पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' शीर्षक से १८५९ में प्रकाशित हुई।

काम के सिलसिले में मार्क्स ने आगे चलकर अपनी रचना के मूल आकार को बदल डाला और छ: खंडों की जगह 'पूंजी' के चार खंडों की योजना आ गयी। १८६३ और १८६५ के बीच उन्होंने एक नयी विशद पांडुलिपि तैयार की, जो 'पूंजी' के तीन सैद्धांतिक खंडों का पहला विशद पाठ है। जब समूची रचना लिखी जा चुकी (जनवरी १८६६), तभी मार्क्स ने उसका अंतिम रूप से सम्पादन करना शुरू किया। एंगेल्स की सलाह पर उन्होंने समस्त रचना को एकसाथ ही प्रकाशन के लिए तैयार न करके पहले खंड के प्रकाशन पर अपना ध्यान केंद्रित किया। मार्क्स ने अंतिम सम्पादन इतने सांगोपांग रूप

में किया कि उसके फलस्वरूप 'पूंजी' के पहले खंड का एक नया ही पाठ तैयार हो गया।

सितम्बर १८६७ में पहला खंड निकल जाने के बाद मार्क्स जर्मन भाषा में उसके नये संस्करणों को तैयार करते रहे तथा अन्य भाषाओं में उसके अनुवादों का सम्पादन करते रहे। उन्होंने दूसरे संस्करण (१८७२) में अनेक परिवर्तन किये और रूसी संस्करण के लिए तफ़सील हिदायतें दीं। यह रूसी संस्करण, जो पीटर्सबर्ग से १८७२ में निकला, किसी भी विदेशी भाषा में 'पूंजी' का पहला अनुवाद था। फ़्रांसीसी अनुवाद का, जिसके १८७२ और १८७५ में अलग-अलग संस्करण निकले, सम्पादन करते हुए भी उन्होंने उसमें महत्वपूर्ण संशोधन किये।

इसके साथ ही, मार्क्स समस्त रचना को संक्षिप्त समय में पूर्ण करने के उद्देश्य से बाक़ी खंडों के काम में भी लगे रहे, परन्तु उन्हें इसमें सफलता न मिल सकी, क्योंकि उन्हें अपना बहुत-सा समय पहले इन्टरनेशनल की जनरल कौंसिल के विभिन्न क्रियाकलाप में लगाना पड़ता था। इसके अलावा स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण उनके काम में बार-बार व्याघात होता रहा।

'पूंजी' के दूसरे और तीसरे खंड को कार्ल मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् एंगेल्स ने प्रकाशन के लिये तैयार और प्रकाशित किया; दूसरा खंड १८८५ में निकला और तीसरा १८९४ में। यह काम करके एंगेल्स ने वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के विचार-भंडार को समृद्ध करने में अमूल्य योगदान किया।–पृ० १०३।

[46] यहां मार्क्स का इशारा 'पूंजी' के पहले जर्मन संस्करण में पहले अध्याय ('माल और मुद्रा') की ओर है। इस खंड के दूसरे तथा बाद के जर्मन संस्करणों में यह अध्याय पहला भाग बन गया है।–पृ० १०३।

[47] यहां इशारा फ़र्दीनांद लासाल की पुस्तक *«Herr Bastiat-Schulze von Delitzsch, der ökonomische Julian, oder: Capital und Arbeit»*. Berlin, 1864 ('श्री बास्तिआ शुल्ज़े-डेलिच – आर्थिक जूलियन, या पूंजी और श्रम'। बर्लिन, १८६४) के तीसरे अध्याय की ओर है।–पृ० १०४।

[48] **इस्टेब्लिश्ड चर्च** – आंग्ल चर्च की एक शाखा, जिसके अनुयायी बहुधा अभिजात वर्ग के लोग होते थे। उसने तड़कभड़कदार धार्मिक अनुष्ठानों को क़ायम रखा, जिनमें कैथोलिक चर्च की परम्परा का नैरन्तर्य देखा जा सकता है।–पृ० १०७।

[49] S.Mayer. «*Die sociale Frage in Wien. Studie eines «Arbeitgebers »*. Wien, 1871 ('वियेना में सामाजिक प्रश्न। एक "रोज़गार देनेवाले" का वर्णन'। वियेना, १८७१)।–पृ० ११०।

[50] १८७०–१८७१ के फ़्रांसीसी-जर्मन युद्ध में फ़्रांस पराजित हुआ।–पृ० ११०।

[51] 'पूंजी' के पहले खंड के चौथे जर्मन संस्करण में (१८९०) इस परिशिष्ट के पहले चार पैराग्राफ़ नहीं दिये गये हैं। दूसरे संस्करण की तरह प्रस्तुत खंड में पूरा परिशिष्ट दिया जा रहा है।–पृ० ११०।

[52] **स्वतंत्र व्यापार** के समर्थक देश के आर्थिक जीवन में राज्य की ओर से हस्तक्षेप के विरोधी थे। उनके आन्दोलन के नेता काबडेन और ब्राइट थे, जिन्होंने १८३८ में अनाज-क़ानून विरोधी संस्था का संगठन किया। इन क़ानूनों की मंसूखी औद्योगिक पूंजीपतियों की विजय की द्योतक थी।–पृ० ११३।

[53] «*Der Volksstaat*» ('लोकराज्य') – जर्मन सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी (आइज़ेनाख़ी) का मुखपत्र, जो लाइप्ज़िग से २ अक्तूबर १८६९ से २९ सितम्बर १८७६ तक निकलता रहा। पत्र का सामान्य निर्देशन विल्हेल्म लीब्कनेख़्त के हाथों में था तथा अगस्त बेबल उसके मैनेजर थे। मार्क्स तथा एंगेल्स उसके लिए लेख लिखते थे तथा उसके सम्पादन में मदद देते थे। १८६९ तक अख़बार «*Demokratisches Wochenblatt*» ('जनवादी साप्ताहिक') नाम से छपता रहा (देखें टिप्पणी ९३)।

यहां इशारा जोज़ेफ़ डियेट्ज़गेन के इस लेख की ओर है – «"*Das Kapital*" *Kritik der politschen ökonomie von Karl Marx*», Hamburg, 1867 ('"पूंजी"। राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा'। हैम्बर्ग, १८६७), १८६८ में «*Demokratischen Wochenblatt*» के अंक ३१, ३४, ३५ और ३६ में प्रकाशित।–पृ० ११४।

[54] «*The Saturday Review of Politics, Literature, Science and Art*» ('राजनीति, साहित्य, विज्ञान तथा कला की शनिवारीय समीक्षा') – ब्रिटिश अनुदारपंथी पार्टी का साप्ताहिक, जो लन्दन में १८५५ से १९३८ तक प्रकाशित होता रहा।–पृ० ११४।

[55] '**सेंट पीटर्सबर्ग जर्नल**' ('सांक्त-पेतेर्बुर्ग्स्कीये वेदोमोस्ती') – रूसी दैनिक तथा सरकारी मुखपत्र, १७२८ से १९१४ तक इसी नाम से छपता रहा; १९१४ से १९१७ तक वह पेत्रोग्रादस्कीये वेदोमोस्ती के नाम से छपा। – पृ० ११५।

[56] यहां इशारा १८६७ से १८८३ तक पेरिस में प्रकाशित होनेवाले «*La Philosophie positive. Revue*» ('प्रत्यक्षवादी दर्शन। समीक्षा') पत्रिका की ओर है। नवम्बर–दिसम्बर १८६८ में इसके तीसरे अंक में मार्क्स की 'पूंजी' के पहले खंड की एक संक्षिप्त समीक्षा छपी थी, जिसे अगस्त कोम्त के प्रत्यक्षवादी दर्शन के अनुयायी ई० बी० दे-रोबेरती ने लिखा था। – पृ० ११५।

[57] **न० जीबेर**, 'नवीनतम संवर्द्धनों तथा स्पष्टीकरणों के सिलसिले में मूल्य तथा पूंजी के डी० रिकार्डो का सिद्धान्त' कीयेव, १८७१, पृष्ठ १७०। – पृ० ११५।

[58] '**वेस्तनिक येवरोपी**' ('यूरोपियन दूत') – पूंजीवादी-उदारवादी प्रवृत्ति की इतिहास-राजनीति तथा साहित्य से सम्बन्धित पत्रिका; सेंट पीटर्सबर्ग में १८६६ से १९१८ तक प्रकाशित। – पृ० ११६।

[59] यहां इशारा जर्मन पूंजीवादी दार्शनिक ब्यूख़नेर, लांगे, ड्यूहरिंग, फ़ेख़नेर, आदि की ओर है। – पृ० ११९।

[60] यहां इशारा १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से जेनोआ, वेनिस तथा अन्य उत्तर इतालवी नगरों की पारगमन-व्यापार में भूमिका में बहुत अधिक कमी हो जाने की ओर है। इसका कारण था उन दिनों की बड़ी-बड़ी भौगोलिक खोजें: क्यूबा, हैटी, बहामा द्वीपों, उत्तर अमरीकी महाद्वीप, अफ़्रीका के धुर दक्षिण से भारत जानेवाले समुद्री मार्ग और अन्ततः दक्षिण अमरीकी महाद्वीप की खोज। – पृ० १२५।

[61] यहां इशारा १०६६ में नार्मन ड्यूक विल्हेल्म "विजेता" द्वारा इंगलैंड पर विजय की ओर है। इससे इंगलैंड में सामन्ती व्यवस्था सुदृढ़ हुई। – पृ० १२७।

[62] J. Steuart. «*An Inquiry into the Principles of Political Economy*», vol. I, Dublin, 1770, p. 52 ('राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की जांच', खंड १, डबलिन, १७७०, पृष्ठ ५२)। – पृ० १२७।

[63] Reformation (चर्च का सुधार) – कैथोलिकों के विरुद्ध आम सामाजिक आन्दोलन जिसमें १६ वीं शताब्दी में अनेक यूरोपीय देश उलझे हुए थे। अधिकांश देशों में इस आन्दोलन ने प्रचंड वर्ग संघर्ष का रूप ग्रहण किया था। जर्मनी में १५२४–१५२५ का किसान-युद्ध Reformation के विचारधारात्मक झंडे के नीचे लड़ा गया था। – पृ० १३२।

[64] "Pauper ubique jacet" ("ग़रीब सर्वत्र अपने हिस्से से वंचित हैं") – ये शब्द ओविड की पुस्तक 'फ़ास्टी' (पुस्तक १, दोहा २१८) से लिये गये हैं। – पृ० १३२।

[65] **स्टुअर्ट राजवंश की पुनःस्थापना** – इंगलैंड में इस राजवंश का, जिसका तख़्ता सत्तरहवीं शताब्दी की पूंजीवादी क्रांति द्वारा उलट दिया गया था, दूसरा शासन-काल (१६६०–१६८९)। – पृ० १३५।

[66] यहां इशारा स्पष्टतः भगोड़े किसानों को ढूंढ़ने के लिए जारी किये गये उस हुक्मनामे की ओर है, जो ज़ार फ्योदोर इवानोविच के ज़माने में, जब बरीस गोदुनोव वास्तविक शासक था, जारी किया गया था। इस हुक्मनामे के अनुसार जो किसान ज़मींदारों के असह्य अत्याचारों से बच निकल भागते थे, उन्हें पांच साल के अन्दर-अन्दर ढूंढ़ना और पुराने स्वामियों को लौटाना ज़रूरी था। – पृ० १३५।

[67] **"गौरवशाली क्रान्ति"** – यह अंग्रेज पूंजीवादी इतिहासकारों द्वारा १६८८ के उस बलात सत्ता-परिवर्तन को दिया गया नाम था, जिसके फलस्वरूप स्टूअर्ट राजवंश सिंहासन से हटा दिया गया तथा विलियम आफ़ ओरेंज के अधीन एक संवैधानिक राजतंत्र स्थापित कर दिया गया, जो भूस्वामी अभिजाततंत्र तथा बड़े पूंजीपति वर्ग के बीच एक समझौते पर आधारित था। – पृ० १३५।

[68] यहां इशारा रोमन जनाभिवक्ताओं लीसिनियस और सेक्सटियस के भूमि सुधार क़ानून की ओर है, जो ३६७ ई० पू० में पास किया गया था। इस क़ानून के अनुसार कोई रोमन नागरिक ५०० युगेर (लगभग ३०० एकड़) से ज़्यादा राजकीय भूमि अपने पास नहीं रख सकता था। – पृ० १४१।

[69] यहां मार्क्स स्टूअर्ट राजवंश के समर्थकों द्वारा १७४५–१७४६ में किये गये विद्रोह की ओर इशारा कर रहे हैं। स्टूअर्ट राजवंश के इन समर्थकों ने मांग

की थी कि चार्ल्स एडवर्ड को, तथाकथित "तरुण दावेदार" को आंग्ल राजसिंहासन पर बिठाया जाये। इस विद्रोह ने भूस्वामियों द्वारा किये जानेवाले शोषण तथा बहुत बड़े परिमाण में भूमि-अपहरण के विरुद्ध स्काटलैंड तथा इंगलैंड के जनसाधारण की आवाज़ को भी प्रतिबिम्बित किया था। अंग्रेज सैनिकों द्वारा विद्रोह कुचल दिये जाने के बाद स्काटलैंड के पहाड़ी इलाक़ों में गोत्र-व्यवस्था तेज़ी से विघटित होने लगी और किसानों को ज़मीन से बेदख़ल किये जाने की प्रक्रिया ने गहन स्वरूप ग्रहण कर लिया। – पृ० १४४।

70 स्काटलैंड की कबीला-व्यवस्था के अन्तर्गत बुज़ुर्गों को "**टाक्समैन**" [taksmen] का नाम दिया गया था, जो सीधे कबीले के मुखिया लेयर्ड ("**बड़े आदमी**") के मातहत होते थे। लेयर्ड बुज़ुर्गों को ज़मीन [टाक] सौंप देता था, जो पूरे कबीले की सम्पत्ति होती थी। ये लोग लेयर्ड की सत्ता की मान्यता के प्रतीक के रूप में उसे बहुत मामूली नज़राना देते थे। बुज़ुर्ग अपनी बारी में ज़मीन के टुकड़ों को अपने चाकरों में बांट देते थे। कबीला-प्रणाली के विघटन के साथ लेयर्ड ज़मींदार बन गया और टाक्समैन पूंजीवादी फ़ार्मर बन गये। इसके साथ ही जो पहले नज़राना था, वह ज़मीन के लगान में परिणत हो गया। – पृ० १४४।

71 **गैल** (Gaels) – उत्तरी तथा पश्चिमी स्काटलैंड के पहाड़ी इलाक़ों की देशी आबादी, प्राचीन केल्टों के वंशज। – पृ० १४४।

72 मार्क्स यहां ६ फ़रवरी १८५३ को «*New-York Daily Tribune*» में प्रकाशित अपने लेख 'निर्वाचन – वित्तीय संकट। – सदरलैंड की डचेज़ तथा दासता' की ओर इशारा कर रहे हैं।

«*New-York Daily Tribune*» – १८४१ से १९२४ तक प्रकाशित होनेवाला प्रगतिशील अमरीकी पूंजीवादी अख़बार। मार्क्स तथा एंगेल्स अगस्त १८५१ से मार्च १८६२ तक इस अख़बार के लिए लिखते रहे। – पृ० १४७।

73 **तीस वर्षीय युद्ध** (१६१८–१६४८) – प्रोटेस्टेंटों तथा कैथोलिकों के बीच कलहों के फलस्वरूप होनेवाला आम यूरोपीय युद्ध। लड़ाई का मुख्य रंगमंच जर्मनी था। वह अत्यधिक फ़ौजी लूटमार तथा युद्धरत शक्तियों की विस्तारवादी आकांक्षाओं का शिकार बना। – पृ० १४६।

[74] «*The Economist*» – अर्थशास्त्र तथा राजनीति से सम्बन्धित ब्रिटिश साप्ताहिक पत्र। १८४३ से लन्दन में प्रकाशित होता रहा है; प्रभावशाली औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का मुखपत्र। – पृ० १५१।

[75] Petty Sessions (लघु अधिवेशन) – इंगलैंड में शान्ति-अदालतों की बैठकें, जिनमें छोटे-मोटे मुक़दमों की सुनवाई होती थी तथा अधिक गंभीर अपराधों की प्राथमिक जांच की जाती थी। – पृ० १५६।

[76] A.Smith. «*An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*». Vol. I, Edinburgh, 1814, p. 237 (ऐ० स्मिथ, राष्ट्रों की सम्पदा के स्वरूप तथा कारणों की जांच, खंड १, एडिनबुर्ग, १८१४, पृष्ठ २३७)। – पृ० १५८।

[77] [Linguet, N.] «*Thèorie des loix civiles, ou Principe fondamentaux de la société*». T. I, Londres, 1767, p. 236 ([लेंगे, न०]। 'दीवानी क़ानूनों का सिद्धांत, अर्थात् समाज के प्राथमिक आधार'। खंड १, लन्दन, १७६७, पृ० २३६)। – पृ० १५८।

[78] मज़दूरों के किसी भी प्रकार के संगठन की स्थापना तथा गतिविधियों पर **प्रतिबंध लगानेवाले क़ानून** ब्रिटिश संसद ने १७९९ तथा १८०० में अनुमोदित किये थे। १८२४ में संसद ने ये क़ानून रद्द कर दिये, और १८२५ में उन्हें रद्द किये जाने की एक बार फिर पुष्टि की। इस कार्रवाई के बाद भी मज़दूर यूनियनों की कार्रवाइयां बहुत सीमित रहीं। संघबद्ध होने के लिए आन्दोलन करने तथा हड़तालों में भाग लेने तक को "ज़ोरजबरन" और "हिंसा" माना जाता था तथा उन्हें अपराध करार देकर मज़दूरों को सज़ा दी जाती थी। – पृ० १५९।

[79] **टोरी** – इंगलैंड की एक राजनीतिक पार्टी, जिसकी स्थापना १७ वीं शताब्दी के अंत में की गयी थी। यह पार्टी अभिजात-वर्गीय सामंतों तथा चर्च के उच्चाधिकारियों के हितों के लिए लड़ती थी, पुरानी सामन्ती परम्पराओं का समर्थन करती थी और उदारतावादी तथा प्रगतिशील मांगों का विरोध करती थी। १९ वीं शताब्दी के मध्य काल में इसी पार्टी का कंज़रवेटिव पार्टी में रूपान्तरण हुआ। – पृ० १६२।

[80] "षड्यंत्र"-विरोधी क़ानून इंगलैंड में मध्य युग तक प्रचलित रहा। इस क़ानून के अन्तर्गत मज़दूर-यूनियनों पर प्रतिबंध लगानेवाले क़ानूनों के जारी होने [देखें टिप्पणी ७८] और उनके रद्द किये जाने के बाद भी मज़दूरों को कुचला जाता रहा।—पृ० १६३।

[81] यहां इशारा जून १७९३ से जून १७९४ तक फ़्रांस में जैकोबिन के अधिनायकत्व की ओर है।—पृ० १६३।

[82] A.Anderson. «*An Historical and Chronological Deduction of the Origin of Commerce, from the Earliest Accounts to the Present Time*» (सबसे आरम्भिक वृत्तान्तों से लेकर वर्तमान काल तक वाणिज्य के मूल का ऐतिहासिक तथा कालक्रमानुसार निर्गमन) पुस्तक का पहला संस्करण लन्दन में १७६४ में प्रकाशित हुआ था।—पृ० १६८।

[83] J.Steuart. «*An Inquiry into the Principles of Political Economy*». Vol. I, Dublin, 1770, First book, Ch. XVI (जे० स्टुअर्ट, राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की जांच, खंड १, डबलिन, १७७०, प्रथम पुस्तक, अध्याय १६)।—पृ० १६९।

[84] १५६६–१६०९ की पूंजीवादी क्रान्ति के फलस्वरूप निदरलैण्ड्स (वर्तमान बेल्जियम तथा हालैंड का इलाक़ा) स्पेन से अलग हो गया। क्रांति की परिधि में सामन्तवाद के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग तथा जनसाधारण का संघर्ष और स्पेनी राज के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध दोनों शामिल थे। १६०९ में कई पराजयों के बाद स्पेन पूंजीवादी हालैंड जनतंत्र की स्वतंत्रता स्वीकार करने के लिए विवश हुआ। वर्तमान बेल्जियम का इलाक़ा १७१४ तक स्पेन के अधिकार में बना रहा।—पृ० १७७।

[85] **अफ़ीम के युद्ध**—चीन पर विजय-प्राप्ति के लिए ब्रिटेन द्वारा १८३९–१८४२ और फ़्रांस के साथ मिलकर १८५६–१८५८ और १८६० में किये गये युद्ध। पहली लड़ाई का कारण था अंग्रेज़ों द्वारा अफ़ीम की तस्करी के विरुद्ध चीन सरकार की कार्रवाइयां। इसी पर इन लड़ाइयों का नाम "अफ़ीम के युद्ध" पड़ा।—पृ० १७७।

[86] **ईस्ट इंडिया कम्पनी**—१६०० से १८५८ तक क़ायम रहनेवाली ब्रिटिश व्यापार कम्पनी, जो भारत, चीन तथा अन्य एशियाई देशों में ब्रिटिश विस्तारवादी

नीति का साधन थी। भारत में व्यापार पर कम्पनी की लम्बे अर्से तक इजारेदारी रही और वह देश के प्रशासन के प्रमुख कार्यभार वहन करती रही। १८५७–१८५६ के भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति विप्लव ने ब्रिटेन को औपनिवेशिक शासन का रूप बदलने और १८५८ में कम्पनी भंग करने के लि' विवश किया।—पृ० १७८।

[87] मार्क्स यहां गुस्ताव गुलीह् की इस कृति को उद्धृत कर रहे हैं—«*Geschichtliche Darstellung des Handels, der Gewerbe und des Ackerbaus der bedeutendsten handeltreibenden Staaten unsrer Zeit*». Bd. I, Jena, 1830, S.371 ('हमारे ज़माने के सबसे प्रमुख व्यापारी राज्यों के व्यापार, उद्योग और कृषि का ऐतिहासिक वर्णन'। खण्ड १, जेना, १८३०, पृ० ३७१)।—पृ० १८१।

[88] मार्क्स यहां स्पष्टत: «*Aanwysing der heilsame politike Gronden en Maximen van de Republike van Holland en West-Friesland*» ('हालैंड गणराज्य और पश्चिमी फ़्रीसलैंड के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धांतों और सूत्रों का निर्देश') पुस्तक के, जो पहली बार लेइडेन में १६६२ में प्रकाशित हुई थी, अंग्रेज़ी संस्करण की ओर इशारा कर रहे हैं। पहले यह माना जाता था कि इस पुस्तक के लेखक जान दे विट हैं, परन्तु बाद में यह प्रमाणित हो गया कि उसे डच अर्थशास्त्री तथा व्यापारी पिटेर वान डेर होर ने लिखा तथा जान दे विट ने केवल दो अध्याय ही लिखे थे।—पृ० १८४।

[89] **सप्तवर्षीय युद्ध** (१७५६–१७६३)—सामन्ती-राजतंत्रवादी सत्ताओं और ब्रिटेन तथा फ़्रांस के मध्य औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुआ आम यूरोपीय युद्ध। इसके फलस्वरूप फ़्रांस अपने मुख्य उपनिवेशों (कनाडा, ईस्ट इण्डियन इलाक़े, आदि) को इंगलैंड के हवाले करने के लिए बाधित हुआ। प्रशा, आस्ट्रिया तथा सैक्सोनी की युद्धपूर्व सीमाएं बनी रहीं।—पृ० १८५।

[90] **उत्रेख्त की शान्ति संधि** १७१३ में एक ओर फ़्रांस और स्पेन और दूसरी ओर फ़्रांस-विरोधी संघ (ब्रिटेन, निदरलैण्ड्स, पुर्तगाल, प्रशा तथा आस्ट्रियाई हैप्सबर्ग) के बीच सम्पन्न हुई थी। इस संधि के साथ स्पेनी उपनिवेशों के लिए लम्बे समय से होनेवाले युद्ध (१७०१–१७१३) का अन्त हो गया। इस संधि के

अन्तर्गत वेस्ट इंडीज़ तथा उत्तरी अमरीका में कई फ़ांसीसी तथा स्पेनी उपनिवेश और साथ ही जिब्राल्टर इंगलैंड को सौंप दिये गये।

Asiento Tratcy – यह उन संधियों का नाम है, जिसके अनुसार १६ वीं से लेकर १८ वीं शताब्दी तक स्पेन अपने अमरीकी उपनिवेशों को दूसरे राज्यों तथा लोगों को नीग्रो दास बेचने के विशेष अधिकार दिया करता था। – पृ० १८८।

[91] Tantae molis erat (इतना श्रम लगा) – यह विर्जिल की कविता «*Aeneid*» (पुस्तक १, खन्द ३३) से उद्धृत्। – पृ० १८९।

[92] C.Pecqueur. «*Théorie nouvelle d'économie sociale et politiques, ou Études sur l'organisation des sociétés*». Paris, 1842, p. 435 ('सामाजिक और राजनीतिक अर्थशास्त्र का नवीन सिद्धांत, अर्थात् समाज-संगठन की खोज'। पेरिस, १८४२, पृ० ४३५)। – पृ० १९२।

[93] यह लेख एंगेल्स ने मज़दूरों के तथा जनवादी अख़बारों के लिए लिखा था और वह मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खंड की उन द्वारा की गयी प्रथम समीक्षाओं में से एक है, जो इस पुस्तक के बुनियादी सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए छपी थीं। मजदूरों के लिए इन लेखों के अलावा एंगेल्स ने पूंजीवादी अख़बारों के लिए कई गुमनाम समीक्षाएं लिखीं ताकि मार्क्स के इस प्रतिभापूर्ण कृति के प्रति सरकारी अर्थशास्त्रियों तथा पूंजीवादी अख़बारों द्वारा "जानबूझकर अपनायी गयी" चुप्पी को भंग किया जा सके। इन समीक्षाओं में एंगेल्स पुस्तक की "पूंजीवादी दृष्टिकोण" से आलोचना करते हैं। इस तरीक़े को वह पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों को इस कृति पर बहस के लिए बाधित करने के वास्ते मार्क्स के शब्दों में एक "हथियार" के रूप में इस्तेमाल करते हैं। «*Demokratisches Wochenblatt*» ('जनवादी साप्ताहिक') – जर्मन मजदूरों का अख़बार, जो लाइप्जिग में जनवरी १८६८ से सितम्बर १८६९ तक विल्हेल्म लीब्कनेख़्त के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता रहा। अख़बार ने जर्मन सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। १८६९ की आइज़ेनाख़ कांग्रेस में उसे सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का केन्द्रीय मुखपत्र स्वीकार कर लिया गया और उसका नया नाम «*Volksstaat*» (जन-राज्य) रख दिया गया। मार्क्स तथा एंगेल्स इस अख़बार के लिए लिखते थे। – पृ० १९६।

[94] मार्क्स ने यह **'सन्देश'** लिखा तथा उसे १८६६ के वसन्त में ब्रिटेन तथा अमरीका के बीच युद्ध के ख़तरे के सिलसिले में ११ मई को जनरल कौंसिल की बैठक में पढ़ा था।

राष्ट्रीय मज़दूर संघ अमरीका में अगस्त १८६६ में बाल्टिमोर कांग्रेस में स्थापित हुआ था। इस कार्य में अमरीकी मज़दूर आन्दोलन की जानी-मानी हस्ती विलियम सिल्विस ने सक्रिय भाग लिया था। संघ ने अपनी स्थापना के दिन से ही अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ का समर्थन करना शुरू कर दिया था और १८७० में उसमें शामिल होने का फ़ैसला किया। परन्तु यह फ़ैसला अमल में नहीं आया। उसके नेता मुद्रा-सुधार की कल्पनावादी योजनाओं के चक्कर में आ गये, जिनका उद्देश्य बैंक प्रणाली का उन्मूलन करना तथा राज्य से आसान शर्तों पर कर्ज़े प्राप्त करना था। १८७०–१८७१ में ट्रेड यूनियनें इस मज़दूर संघ से अलग हो गयीं तथा १८७२ तक संघ प्रायः समाप्त हो गया। अपनी सारी ख़ामियों के बावजूद संघ ने मज़दूर संगठनों की स्वतंत्र नीति के लिए, नीग्रो और गोरे मज़दूरों के बीच एकजुटता के लिए, आठ घंटे के कार्य-दिवस के लिए तथा महिला-मज़दूरों के अधिकारों के लिए आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।—पृ० २०६।

[95] «*Shoddy aristocrats*» (छिछोरे अभिजात); «*shoddy*» का शाब्दिक अर्थ है रूई के अवशेष। अमरीका में यह नाम उन लोगों के लिए है, जो युद्ध से मुनाफ़ा कमा कर बहुत जल्दी अमीर बन गये।—पृ० २१०।

[96] «*Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue*» ('नया राइनी समाचारपत्र, राजनीतिक-आर्थिक समीक्षा')—एक पत्रिका, मार्क्स और एंगेल्स द्वारा स्थापित कम्युनिस्ट लीग का सैद्धान्तिक मुखपत्र, जो दिसम्बर १८४६ से नवम्बर १८५० तक निकलता रहा। कुल मिलाकर इसके छः अंक निकले थे।—पृ० २१२।

[97] यहां जिस पुस्तक की ओर संकेत है वह है डब्ल्यू० ज़िम्मरमान की रचना «*Allgemeine Geschichte des großen Bauernkrieges*» ('महान किसान युद्ध का इतिहास')। यह पुस्तक स्टुटगार्ट से १८४१–१८४३ में तीन खंडों में प्रकाशित हुई थी।—पृ० २१२।

[98] यहां इशारा अखिल जर्मन राष्ट्रीय सभा के उग्र वामपंथ की ओर है, जो मुख्यत: निम्नपूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था, परन्तु जिसे जर्मन मज़दूरों के एक भाग का भी समर्थन प्राप्त था। १८४८–१८४९ की क्रान्ति के दौरान राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन फ़्रैंकफ़ुर्ट-ऑन-मेन में होता रहा।

राष्ट्रीय सभा का मुख्य काम जर्मनी की राजनीतिक विच्छिन्नता को दूर करके एक सामान्य संविधान तैयार करना था। परन्तु उसके उदारतावादी बहुमत की बुज़दिली और ढुलमुलपन की वजह से राष्ट्रीय सभा सत्ता-सूत्र अपने हाथों में न ले सकी और जर्मन क्रान्ति के प्रमुख प्रश्नों के सम्बन्ध में दृढ़ स्थिति ग्रहण करने में असमर्थ रही। ३० मई १८४९ को राष्ट्रीय सभा को स्टुटगार्ट में स्थानान्तरित होना पड़ा। १८ जून १८४९ को वह सैन्य बल द्वारा भंग कर दी गई। – पृ० २१२।

[99] १८६६ के प्रशा-आस्ट्रिया युद्ध में पराजय के बाद आस्ट्रिया के शासक वर्गों ने बहुजातीय राज्य के संकट की परिस्थितियों में हंगेरियाई सामन्तों के साथ गठबंधन किया और १८६७ में आस्ट्रो-हंगेरियाई राजतंत्र की स्थापना के समझौते पर हस्ताक्षर किये। – पृ० २१४।

[100] **राष्ट्रीय-उदारतावादी** – जर्मन पूंजीपति वर्ग की पार्टी, जिसकी स्थापना १८६६ के पतझड़ में हुई थी। राष्ट्रीय-उदारतावादियों ने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण को अपना मुख्य लक्ष्य घोषित किया। उनकी यह नीति बिस्मार्क के सामने जर्मन उदार पूंजीपति वर्ग के समर्पण का प्रतिबिंब थी। – पृ० २१४।

[101] **जर्मन जन-पार्टी** की स्थापना १८६५ में की गई थी। उसमें निम्नपूंजीपति वर्ग के जनवादी तत्त्व और पूंजीपति वर्ग का एक भाग, विशेषत: दक्षिण जर्मन राज्यों के पूंजीपति वर्ग का एक भाग शामिल था। जन-पार्टी जर्मनी में प्रशा के नेतृत्व का विरोध करती थी और एक "वृहत्तर जर्मनी", जिसमें प्रशा और आस्ट्रिया दोनों शामिल हों, की हिमायत करती थी। संघीय जर्मन राज्य की स्थापना के लिए वकालत कर यह पार्टी एक पूर्ण, केंद्रीकृत जनवादी जनतंत्र के रूप में जर्मनी के एकीकरण का विरोध करती थी। – पृ० २१५।

[102] १९ वीं सदी के सातवें दशक के मध्य में प्रशा के कतिपय उद्योगों में विशेष लाइसेंसों (कंसेशनों) की व्यवस्था लागू की गई और इनके बिना उद्योग में

हाथ डालने की मनाही कर दी गई। इस अर्द्ध-सामन्ती क़ानून ने पूंजीवाद के विकास में बाधा पहुंचायी। —पृ० २१६।

[103] **सादोवा की लड़ाई** चेक में ३ जुलाई १८६६ को हुई थी और वह १८६६ के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध का एक मोड़ साबित हुई। इसमें प्रशा की विजय हुई। — पृ० २१८।

[104] यहां इशारा इन्टरनेशनल की बाज़ेल कांग्रेस की ओर है, जो ६—११ सितंबर १८६९ में हुई थी। १० सितंबर को बाज़ेल कांग्रेस ने भूमि-संपत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स के अनुयायियों द्वारा पेश किये गये निम्नलिखित प्रस्ताव को स्वीकृत किया :

"१) समाज को निजी भूस्वामित्व का उन्मूलन करने तथा उसे सार्वजनिक स्वामित्व में रूपांतरित करने का अधिकार प्राप्त है ;

"२) निजी भूस्वामित्व का उन्मूलन करना तथा उसे सार्वजनिक स्वामित्व में रूपान्तरित करना आवश्यक है।"

कांग्रेस ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर ट्रेड यूनियनों के एकीकरण के तथा इन्टरनेशनल को मज़बूत बनाने और जनरल कौंसिल के अधिकारों को बढ़ाने के उद्देश्य से संगठन-सम्बन्धी कार्रवाइयों के बारे में भी कई फ़ैसले किये। — पृ० २२०।

[105] २ सितम्बर १८७० को **सेदान की लड़ाई** में फ़्रांसीसी सेना, जिसकी कमान नेपोलियन तृतीय के हाथ में थी, जर्मन सेना द्वारा पराजित हुई और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। सम्राट् नेपोलियन तृतीय तथा सेनानायक बंदी बना लिये गये और वे विल्हेल्म्सहोये (कासेल के निकट) में प्रशा के राजाओं के एक दुर्ग में ५ सितम्बर १८७० से १९ मार्च १८७१ तक क़ैद रहे। सेदान की पराजय ने द्वितीय साम्राज्य के पतन को त्वरित किया और उसके फलस्वरूप ४ सितम्बर १८७० को फ़्रांस में जनतंत्र की घोषणा की गई। एक नई सरकार, जिसे "राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार" कहा गया, स्थापित की गयी। — पृ० २२१।

[106] एंगेल्स ने यहां जर्मन राष्ट्र के मध्ययुगीन पवित्र रोमन साम्राज्य (देखिये टिप्पणी १३५) के नाम का उलथा करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ और उसके साथ-साथ सभी जर्मन राज्यों का प्रशाईकरण हुआ। — पृ० २२१।

[107] **उत्तर जर्मन संघ,** जिसमें प्रशा को शीर्ष स्थान प्राप्त था, १८६७ में बिस्मार्क की राय के मुताबिक़ उत्तर तथा मध्य जर्मनी के १९ राज्यों तथा ३ स्वतंत्र नगरों को लेकर गठित हुआ था। उसकी स्थापना प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के पुनरेकीकरण की एक अत्यंत निर्णायक मंज़िल थी। जनवरी १८७१ में जर्मन साम्राज्य की स्थापना के फलस्वरूप इस संघ का अस्तित्व समाप्त हो गया। – पृ० २२२।

[108] यहां इशारा १८७० में उत्तर जर्मन संघ द्वारा बवारिया, बाडेन, वुर्टेमबेर्ग और हेसन-डर्म्सटाड्ट के अधिनहन की ओर है। – पृ० २२२।

[109] ६ अगस्त १८७० को श्पीख़र्न (लोरेन) की लड़ाई में प्रशा की सेना ने फ़्रांसीसियों को पराजित किया। इतिहास में इसे फ़ोरबाख़ की लड़ाई भी कहते हैं।

१६ अगस्त १८७० को मार्स-ला-तूर की लड़ाई में (जिसे वियोंविल की लड़ाई भी कहते हैं) जर्मन सेना मेत्ज़ से पीछे हट रही फ़्रांसीसी राइनी सेना का रास्ता रोकने और पीछे हटने के मार्गों को काटने में सफल हो गई। – पृ० २२५।

[110] १० जनवरी १८७४ को राइख़स्टाग के चुनावों में नौ सामाजिक-जनवादी चुने गये, जिनमें उस समय जेल में सज़ा काट रहे बेबेल तथा लीब्कनेख़्त भी थे। – पृ० २२६।

[111] **पहले इंटरनेशनल की रूसी शाखा** की स्थापना १८७० के वसन्त काल में स्विट्ज़रलैंड में रूसी राजनीतिक उत्प्रवासियों के एक दल ने, उन जनवादी लोगों ने की थी, जिनकी शिक्षा-दीक्षा का स्रोत महान क्रान्तिकारी जनवादी चेर्निशेव्स्की तथा दोब्रोल्यूबोव के विचार थे। इंटरनेशनल के एक सदस्य अ० सेर्नो-सोलोव्योविच ने इस शाखा के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। १२ मार्च १८७० को रूसी शाखा की समिति ने अपना कार्यक्रम तथा नियमावली जनरल कौंसिल और एक चिट्ठी मार्क्स के पास भेजी। इस चिट्ठी में उसने मार्क्स से कहा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल में उसका प्रतिनिधित्व करें। रूसी शाखा ने अपने कार्यक्रम की इस रूप में व्याख्या की – "१. रूस में इंटरनेशनल के विचारों का... समस्त उपलब्ध साधनों द्वारा प्रचार करना। २. रूस के मज़दूर-वर्गीय जनसाधारण के बीच

इंटरनेशनल की शाखाओं की स्थापना को बढ़ावा देना। ३. रूस तथा पश्चिम यूरोप के श्रमिक वर्गों के बीच एकजुटता के दृढ़ सम्बन्धों की स्थापना में सहायता देना तथा पारस्परिक सहायता से मुक्ति के समान ध्येय की अधिक सफलतापूर्ण पूर्त्ति के लिए पथ प्रशस्त करना" ('नारोद्नोये देलो'–(जन-ध्येय)–अंक १, १५ अप्रैल १८७०)।

जनरल कौंसिल की २२ मार्च १८७० को हुई बैठक में रूसी शाखा को इंटरनेशनल में भर्ती कर लिया गया तथा मार्क्स ने जनरल कौंसिल में उसका प्रतिनिधित्व करना स्वीकार कर लिया। रूसी शाखा के सदस्य न० ऊतिन, अ० त्रूसोव, ये० बार्तेनेवा, ग० बार्तेनेव, ये० द्मित्रियेवा और अ० कोर्विन-क्रुकोव्स्काया ने स्विस तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। शाखा ने रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया। १८७२ में शाखा बन्द हो गयी।–पृ० २२६।

112 **'गोपनीय सन्देश'** मार्क्स ने २८ मार्च १८७० के आसपास, उस समय लिखा था जब बकूनिनपंथियों ने इंटरनेशनल के अन्दर जनरल कौंसिल, मार्क्स और उनके अनुयायियों के विरुद्ध अपना संघर्ष तेज़ कर दिया था। जनरल कौंसिल ने १ जनवरी १८७० में ही अपनी साधारण बैठक में इस प्रश्न पर एक गोपनीय चिट्ठी (इसे भी मार्क्स ने ही लिखा था) अनुमोदित की। यह चिट्ठी स्विट्ज़रलैंड के फ़्रेंच भाषाभाषी क्षेत्रों की फ़ेडरल कौंसिल के नाम थी, जहां बकूनिनपंथियों का जोरदार प्रभाव था। चिट्ठी का पाठ फिर बेल्जियम तथा फ़्रांस को भेज दिया गया। यह पूरी चिट्ठी उस 'गोपनीय सन्देश' में शामिल की गयी थी, जो मार्क्स ने जर्मनी के लिए सहयोगी सचिव के रूप में जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की समिति को भेजा था।

प्रस्तुत भाग में 'गोपनीय सन्देश' के चौथे और पांचवें मुद्दों को शामिल किया गया है, जो अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग तथा आयरिश राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के प्रति जनरल कौंसिल का रुख़ प्रदर्शित करते हैं। ये ऐसे मुद्दे थे, जिन पर बकूनिनपंथियों ने ख़ास तौर पर प्रहार किया था।

अंग्रेज़ मज़दूर आन्दोलन उस समय अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा के आम संघर्ष में जो भूमिका अदा कर रहा था तथा फलस्वरूप अंग्रेज़ मज़दूर आन्दोलन का पथ-प्रदर्शन करने की जो आवश्यकता उत्पन्न हो गयी थी, उन्हें ध्यान में रखते हुए मार्क्स चौथे मुद्दे में बताते हैं कि इंगलैंड में अन्य देशों की तरह इंटरनेशनल की फ़ेडरल कौंसिल स्थापित करना क्यों आवश्यक नहीं है।

पांचवें मुद्दे में मार्क्स आयरलैंड तथा इंगलैंड को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए गुलाम बनाये गये जनगण के मुक्ति संघर्ष तथा सर्वहारा क्रान्ति के बीच सम्बन्ध और सर्वहारा के स्वाभाविक साथियों के रूप में उत्पीड़ित राष्ट्रों की भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। – पृ० २३१।

113 *«L'Égalité»* ('समानता') – स्विस साप्ताहिक, इंटरनेशनल के रोमांस फ़ेडरेशन का मुखपत्र, जो जेनेवा में दिसम्बर १८६८ से दिसम्बर १८७२ तक फ़्रांसीसी भाषा में प्रकाशित होता रहा। कुछ समय तक वह बकूनिन के प्रभाव में भी था। जनवरी १८७० में रोमांस फ़ेडरल कौंसिल बकूनिनपंथियों को सम्पादकमंडल से हटाने में सफल हो गयी। उसके बाद पत्र इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल की नीति का समर्थन करने लगा। – पृ० २३१।

114 *«The Pall Mall Gazette»* – लन्दन का दैनिक समाचारपत्र, जो १८६५ से १९२० तक प्रकाशित होता रहा। सातवें और आठवें दशक में उसका झुकाव अनुदारवादी विचारों की ओर था। मार्क्स तथा एंगेल्स जुलाई १८७० से जून १८७१ तक उसके लिए लिखते रहे।

«The Saturday Review» – देखें टिप्पणी ५४।

«The Spectator» – नरम विचारों की ओर झुकाव रखनेवाला साप्ताहिक, उसका लन्दन में १८२८ से प्रकाशन आरम्भ हुआ।

«The Fortnightly Review» – इतिहास, दर्शन तथा साहित्य से सम्बन्धित पूंजीवादी-उदारवादी पत्रिका, १८६५ से १९३४ तक इसी नाम से छपती रही। – पृ० २३२।

115 इस संस्था की स्थापना लन्दन में अक्तूबर १८६९ में जनरल कौंसिल की शिरकत के साथ हुई थी। उसके कार्यक्रम में ये मांगें शामिल थीं – भूमि का राष्ट्रीयकरण, छोटा कार्य-दिवस, सार्वजनिक मताधिकार तथा कृषि-बस्तियों की स्थापना। परन्तु १८७० के शरत्काल तक उस पर पूंजीवादी तत्व हावी हो गये और १८७२ में इंटरनेशनल से उसके सारे सम्पर्क टूट गये। – पृ० २३२।

116 यहां इशारा **ब्रिटिश-आयरिश संघ** की ओर है, जो १ जनवरी १८०१ को स्थापित हुआ था। उसने आयरलैंड की स्वतंत्रता के अन्तिम अवशेष नष्ट कर दिये, आयरिश संसद को भंग कर दिया तथा आयरलैंड को पूरी तरह ब्रिटेन का दास बना दिया। – पृ० २३३।

[117] **'फ़्रांस में गृहयुद्ध'**—वैज्ञानिक कम्युनिज़्म की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति, जिसमें वर्ग संघर्ष, राज्य, क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सम्बन्ध में मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त पेरिस कम्यून के अनुभव के आधार पर और आगे प्रतिपादित किये गये हैं। यह कृति यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सभी सदस्यों के नाम इन्टरनेशनल की जनरल कौंसिल की चिट्ठी के रूप में इस प्रयोजन से लिखी गई थी कि सभी देशों के मज़दूर कम्यूनार्डों के वीरत्वपूर्ण संघर्ष के चरित्र तथा विश्वव्यापी महत्व की स्पष्ट समझ प्राप्त कर सकें और कम्यूनार्डों के ऐतिहासिक अनुभव का समस्त सर्वहारा वर्ग के बीच प्रचार हो सके।

इस कृति में मार्क्स ने 'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर' (देखिये प्रस्तुत संकलन, खण्ड १, भाग २) में प्रस्तुत अपने इस विचार को और भी पुष्ट और विकसित किया है कि सर्वहारा के लिये पूंजीवादी राज्य-मशीनरी को छिन्न-भिन्न करना ज़रूरी है। मार्क्स ने यह निष्कर्ष स्थापित किया कि "मज़दूर वर्ग बनी-बनाई राज्य-मशीनरी पर केवल क़ब्ज़ा करके उसे अपने उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।" (प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २८५।) सर्वहारा को चाहिये कि इस मशीनरी को तोड़ डाले और उसकी जगह पेरिस कम्यून की तरह का राज्य स्थापित करे। क्रान्तिकारी सिद्धान्त में मार्क्स ने जो नया योगदान किया, उसका सारतत्व यह निष्कर्ष है कि पेरिस कम्यून की तरह का राज्य ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का राजकीय रूप है।

मार्क्स की कृति 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' का ख़ूब प्रचार हुआ। १८७१ और १८७२ में अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद किया गया तथा यूरोप के विभिन्न देशों और संयुक्त राज्य अमरीका में भी उसका प्रकाशन किया गया।—पृ० २३५।

[118] एंगेल्स ने यह भूमिका मार्क्स की पुस्तक 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' के तीसरे जर्मन संस्करण के लिये लिखी थी। यह संस्करण १८९१ में पेरिस कम्यून की बीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर निकला था। भूमिका में पेरिस कम्यून के अनुभव के ऐतिहासिक महत्व तथा मार्क्स द्वारा 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' में उसके सैद्धान्तिक विश्लेषण पर बल देने के बाद एंगेल्स ने पेरिस कम्यून के इतिहास, ब्लांकीपंथियों और प्रूदोंपंथियों के क्रियाकलाप के बारे में अपनी कुछ पूरक टिप्पणियां भी दीं। पुस्तक के तीसरे जर्मन संस्करण में एंगेल्स ने फ़्रांस-प्रशा

युद्ध के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल की मार्क्स द्वारा सूत्रबद्ध पहली और दूसरी चिट्ठियों को शामिल किया, जिन्हें विभिन्न भाषाओं में इस पुस्तक के अलग संस्करणों में भी शामिल किया गया। – पृ० २३५।

[119] यहां इशारा नेपोलियन के शासन के विरुद्ध जर्मन जनता के १८१३–१८१४ के राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध की ओर है। – पृ० २३५।

[120] जर्मनी में **समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून** २१ अक्तूबर १८७८ को लागू किया गया था। इस क़ानून द्वारा सामाजिक-जनवादी पार्टी के सभी संगठनों, मज़दूरों के जनसंगठनों और प्रकाशनों पर रोक लगा दी गई, समाजवादी प्रकाशनों को ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया गया और सामाजिक-जनवादियों का दमन किया गया। मज़दूर आन्दोलन के दबाव के कारण १ अक्तूबर १८९० को यह क़ानून रद्द कर दिया गया। – पृ० २३६।

[121] **नारेबाज़** (demagogues) – जर्मनी में १९ वीं शताब्दी के तीसरे दशक में यह शब्द जर्मन बुद्धिजीवियों के बीच विरोध आन्दोलन में भाग लेनेवालों के लिये प्रयुक्त हुआ। इन लोगों ने जर्मन राज्यों की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक व्यवस्था का खुलकर विरोध किया तथा जर्मनी के एकीकरण का समर्थन किया। अधिकारियों ने "नारेबाज़ों" का निर्मम दमन किया। – पृ० २३६।

[122] यहां इशारा फ़्रांस में १८३० की जुलाई पूंजीवादी क्रांति की ओर है। – पृ० २३७।

[123] यहां इशारा उन गृहयुद्धों की ओर है, जो ४४ से २७ ई० पू० तक जारी रहे और जिनके फलस्वरूप रोमन साम्राज्य स्थापित किया गया था। – पृ० २३८।

[124] यहां इशारा लेजिटिमिस्टों, आर्लियानिस्टों और बोनापार्तपंथियों – बोनापार्त राजवंश के समर्थकों – की ओर है।

लेजिटिमिस्ट – १७९२ में सत्ताच्युत बूर्बों राजवंश के अनुयायियों की पार्टी। यह पार्टी प्रभावशाली भूस्वामी अभिजातों तथा बड़े पादरियों के हितों का समर्थन करती थी। लेजिटिमिस्टों ने १८३० के क्रान्ति के फलस्वरूप यह राजवंश दूसरी बार सत्ताच्युत हो जाने के बाद अपने को एक पार्टी के रूप में संगठित किया। १८७१ में वे पेरिस कम्यून के ख़िलाफ़ आम प्रतिक्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हो गये।

ग्रार्लियानिस्ट – ग्रार्लियां राजवंश के समर्थक। यह राजवंश बूर्बों राजवंश की ही एक शाखा थी, जो १८३० की जुलाई की क्रान्ति के बाद सत्तारूढ़ हुई तथा १८४८ की क्रान्ति द्वारा सत्ताच्युत हो गयी। ग्रार्लियानिस्ट वित्तीय धनिकतंत्र तथा प्रभावशाली पूंजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। – पृ० २३८।

[125] २ दिसम्बर १८५१ को लूई बोनापार्त ग्रौर उसके समर्थकों ने फ़ांस में प्रतिक्रान्तिकारी राज्य-पर्युत्क्षेपण किया, जिसके साथ दूसरे साम्राज्य का बोनापार्तवादी शासन शुरू हुग्रा। – पृ० २३८।

[126] प्रथम जनतन्त्र १७९२ में महान फ़ांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान उद्घोषित किया गया था तथा उसका स्थान नेपोलियन बोनापार्त के पहले साम्राज्य (१८०४–१८१४) ने ले लिया था। उस समय फ़ांस ने बहुत-से युद्ध चलाये, जिनके फलस्वरूप राज्य की सीमाएं विस्तृत की गईं। – पृ० २३९।

[127] यहां इशारा फ़ांस ग्रौर जर्मनी की प्रारंभिक शान्ति-संधि की ग्रोर है, जिस पर एक ग्रोर थियेर ग्रौर जूल फ़ाव्र ग्रौर दूसरी ग्रोर बिस्मार्क ने २६ फ़रवरी १८७१ को वेर्साई में दस्तख़त किये। इस संधि की शर्तों के ग्रनुसार फ़ांस ने ग्रल्सास ग्रौर पूर्वी लोरेन के प्रदेश जर्मनी के हवाले कर दिये ग्रौर उसे बतौर हरजाने के ५०० करोड़ फ़्रांक की रक़म भी ग्रदा की। दोनों देशों के बीच ग्रंतिम रूप से शान्ति-संधि फ़्रैंकफ़ुर्ट-ग्रॉन-मेन में १० मई १८७१ को सम्पन्न की गई। – पृ० २४०।

[128] **संभववादी** – फ़ांस के समाजवादी ग्रान्दोलन की एक ग्रवसरवादी धारा, जिसके नेता ब्रूस, मालों, इत्यादि थे। इन लोगों ने १८८२ में फ़ांसीसी मज़दूर पार्टी में फूट डाल दी। इन्होंने इस सुधारवादी सिद्धान्त की घोषणा की: जो संभव ("possible") है, वही प्राप्त करने का प्रयास करो। इसी लिये इन लोगों को संभववादी कहा गया। – पृ० २४६।

[129] फ़ांस-प्रशा युद्ध के प्रति इंटरनेशनल के दृष्टिकोण के बारे में **पहली चिट्ठी**, जिसे मार्क्स ने युद्ध छिड़ने के तुरंत बाद जनरल कौंसिल के निर्देश पर लिखा था, ग्रौर उनके द्वारा सितम्बर १८७० में लिखी **दूसरी चिट्ठी** भी सैन्यवाद तथा युद्ध के प्रति मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण को ग्रौर उस संघर्ष को प्रतिबिंबित करती हैं, जिसे मार्क्स ग्रौर एंगेल्स ग्राक्रमणकारी युद्धों के ख़िलाफ़ ग्रौर सर्वहारा

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए चला रहे थे। मार्क्स ने शोषक वर्गों द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि और अर्थलाभ के लिए लड़े जानेवाले लुटेरे युद्धों के सामाजिक कारणों के बारे में अपनी शिक्षा की सबसे महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं की पुष्टि के लिए अकाट्य प्रमाण दिया और यह बताया कि इन युद्धों का उद्देश्य लूट-खसोट ही नहीं, सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन का दमन भी है। उन्होंने जर्मन और फ़्रांसीसी मज़दूरों के हितों की एकता पर विशेष बल दिया और दोनों देशों के शासक वर्गों की आक्रमणकारी नीति के ख़िलाफ़ संयुक्त रूप से संघर्ष के लिए उनका आह्वान किया।

पहली चिट्ठी में मार्क्स ने अभूतपूर्व दूरदर्शिता के साथ यह निष्कर्ष निकाला कि सर्वहारा के शासन की स्थापना सभी युद्धों का अंत करेगी और यह कि राष्ट्रों के बीच शान्ति का सिद्धान्त भावी कम्युनिस्ट समाज का एक महान अन्तर्राष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त होगा।–पृ० २५०।

130 नेपोलियन तृतीय ने यह **जनमत-संग्रह** मई १८७० में प्रगटतः इस उद्देश्य से किया था कि साम्राज्य के प्रति आम जनता के दृष्टिकोण की जांच की जा सके। इस मत-संग्रह में प्रश्न इस रूप में पूछे गये थे कि द्वितीय साम्राज्य की नीति के प्रति विरोध प्रगट करना तब तक असंभव था जब तक कि साथ ही सभी जनवादी सुधारों का विरोध न किया जाये। फ़्रांस में पहले इंटरनेशनल की शाखाओं ने इस वाक्छल की क़लई खोल दी और अपने सदस्यों को मतदान से अलग रहने का निर्देश किया। जनमत-संग्रह के ठीक पहले पेरिस शाखा के सदस्यों पर नेपोलियन के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचने का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। इस मिथ्या आरोप का इस्तेमाल कर सरकार ने फ़्रांस के विभिन्न नगरों में इंटरनेशनल के सदस्यों के ख़िलाफ़ ज़ोर-ज़ुल्म का बाक़ायदा एक जेहाद छेड़ दिया। पेरिस शाखा के सदस्यों पर मुक़दमे के दौरान, जो २२ जून से ५ जुलाई १८७० तक चला, षड्यंत्र के आरोप की जालसाज़ी का पूरी तरह भंडाफोड़ हुआ। फिर भी इंटरनेशनल के कई सदस्यों को सिर्फ़ इसलिए सज़ायें दी गयीं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के सदस्य थे। फ़्रांस के मज़दूर वर्ग ने जन-प्रतिवाद प्रकट करके इस ज़ुल्म का जवाब दिया।–पृ० २५०।

131 फ़्रांस-प्रशा युद्ध १९ जुलाई १८७० को भड़क उठा था।–पृ० २५१।

[132] «*Le Réveil*» ('जागरण') में शार्ल देलेक्लूज़ द्वारा स्थापित एक वामपंथी जनतंत्रवादी समाचारपत्र, जो पेरिस में जुलाई १८६८ से जनवरी १८७१ तक प्रकाशित होता रहा। इसमें इंटरनेशनल की दस्तावेज़ें तथा मज़दूर आन्दोलन से सम्बन्धित अन्य सामग्री प्रकाशित हुआ करती थीं। – पृ० २५१।

[133] «*La Marseillaise*» – वामपंथी जनतंत्रवादी दैनिक, जो पेरिस में दिसम्बर १८६९ से सितंबर १८७० तक प्रकाशित होता रहा। इसमें इंटरनेशनल के क्रिया-कलाप के तथा मज़दूर आन्दोलन के बारे में रिपोर्टें छपा करती थीं। – पृ० २५२।

[134] यहां इशारा **१० दिसंबर समाज** की ओर है। यह एक गुप्त बोनापार्ती समाज था, जिसे मुख्यत: वर्गभ्रष्ट तत्वों, राजनीतिक जुआरियों तथा सैनिक प्रतिनिधियों वग़ैरह को लेकर गठित किया गया था। समाज के सदस्यों ने १० दिसंबर १८४८ को फ़्रांसीसी जनतंत्र के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होने में लूई बोनापार्त की मदद की थी (इसी लिये उसे १० दिसंबर समाज कहा गया)। – पृ० २५२।

[135] अगस्त १८०६ तक जर्मनी तथाकथित जर्मन राष्ट्र के पवित्र रोमन साम्राज्य का, जो १० वीं शताब्दी में स्थापित किया गया था, भाग था और वह सामन्ती रियासतों तथा स्वतंत्र नगरों का संघ था, जो सम्राट की सर्वोच्च सत्ता मानते थे। – पृ० २५८।

[136] १६१८ में ब्राण्डनबुर्ग की रियासत प्रशा की डची (पूर्वी प्रशा) के साथ मिल गयी। यह डची १६ वीं शताब्दी में ट्यूटनी सामंतों के इलाक़ों को मिलाकर क़ायम की गई थी और अभी भी पोलैंड की बादशाही के मातहत थी। प्रशा का एक ड्यूक होते हुए ब्राण्डनबर्ग का राजा पोलैंड का ताबेदार बना हुआ था। यह स्थिति १६५७ तक रही, जब स्वीडन के ख़िलाफ़ लड़ाई में पोलैंड की मुसीबतों से फ़ायदा उठाकर ब्राण्डनबर्ग का राजा स्वतंत्र बन बैठा और प्रशा के इलाक़े में पूर्ण प्रभुसत्ता उसके हाथ में आ गयी। – पृ० २५८।

[137] यहां इशारा **बाजेल की शान्ति-संधि** की ओर है, जिसे यूरोपीय राज्यों के प्रथम फ़्रांस-विरोधी संश्रय के सदस्य प्रशा ने फ़्रांसीसी जनतंत्र के साथ पृथक् रूप से ५ अप्रैल १७९५ को सम्पन्न किया था। – पृ० २५९।

[138] **तिलसित की संधि** ७–९ जुलाई १८०७ को नेपोलियनी फ़्रांस और उसके द्वारा

पराजित चौथे फ़्रांस-विरोधी संश्रय में भाग लेनेवाले रूस तथा प्रशा के बीच सम्पन्न हुई थी। शान्ति-संधि की शर्तें प्रशा के लिए बड़ी कठोर थीं, उसे अपने प्रदेश के एक काफ़ी बड़े भाग से हाथ धोना पड़ा। रूस प्रादेशिक क्षति से तो बच गया, परन्तु उसे यूरोप में फ़्रांस की सशक्त और सुदृढ़ हुई स्थिति को स्वीकार करना पड़ा और इंगलैंड की नाकेबंदी (तथाकथित महाद्वीपीय नाकेबंदी) में भाग लेना पड़ा। नेपोलियन प्रथम द्वारा लादी गयी तिलसित की लुटेरी शान्ति-संधि ने जर्मनी की आबादी के बीच भयंकर आक्रोश उत्पन्न किया और नेपोलियन के शासन के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का बीजारोपण किया। यह आन्दोलन १८१३ में शुरू हो गया।—पृ० २५९।

[139] यहां मार्क्स का इशारा नेपोलियन के पतन के बाद जर्मनी में सामंती प्रतिक्रियावाद की विजय की ओर है। जर्मनी में फिर सामंती फूट और बिखराव आ गया, जर्मन राज्यों में सामंती बादशाहियां स्थापित हो गयीं; इन राज्यों ने अभिजात वर्ग के सभी विशेषाधिकारों को अक्षुण्ण रखा और किसानों के अर्द्ध-भूदासों के रूप में शोषण को और भी उग्र कर दिया।—पृ० २६२।

[140] यहां इशारा पेरिस के **तूलरी-प्रासाद** की ओर है जो द्वितीय साम्राज्य के काल में नेपोलियन तृतीय का आवास था।—पृ० २६२।

[141] यहां मार्क्स का इशारा अंग्रेज़ मज़दूरों के उस आन्दोलन की ओर है, जो उन्होंने ४ सितंबर १८७० को घोषित फ़्रांसीसी जनतंत्र को मान्यता देने के लिये छेड़ा था। ५ सितंबर को लन्दन तथा दूसरे बड़े नगरों में सभाओं और प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हुआ, जिनमें यह मांग करते हुए प्रस्ताव और अर्ज़ियां स्वीकृत की गयीं कि ब्रिटिश सरकार फ़्रांसीसी जनतंत्र को अविलंब मान्यता प्रदान करे। पहले इन्टरनेशनल की जनरल कौंसिल ने इस आन्दोलन को संगठित करने में प्रत्यक्ष भाग लिया था।—पृ० २६३।

[142] यहां मार्क्स का इशारा १७९२ में क्रान्तिकारी फ़्रांस के ख़िलाफ़ युद्ध शुरू करनेवाले सामंती राजतंत्रीय राज्यों के संश्रय को स्थापित करने में इंगलैंड की सक्रिय भूमिका की ओर और इस बात की ओर भी है कि यूरोप में अंग्रेज़ शासक अल्पतंत्र ने ही सबसे पहले फ़्रांस में बोनापार्ती हुकूमत को मान्यता दी, जो २ दिसंबर १८५१ को लूई बोनापार्त द्वारा सत्ता-अपहरण के फलस्वरूप क़ायम हुई थी।—पृ० २६३।

143 अमरीका में औद्योगिक उत्तर तथा दास-स्वामी दक्षिण के बीच गृहयुद्ध (१८६१–१८६५) के दौरान अंग्रेज़ पूंजीपति वर्ग ने दक्षिण का साथ दिया यानी दास-प्रणाली का समर्थन किया।–पृ० २६४।

144 *«Journal Officiel de la République Française»* ('फ़्रांसीसी जनतंत्र का सरकारी समाचारपत्र')–पेरिस कम्यून का सरकारी मुखपत्र, जो २० मार्च से २४ मई १८७१ तक प्रकाशित होता रहा। इस समाचारपत्र का नाम वही रहा जो पेरिस में ५ सितम्बर १८७० से प्रकाशित होनेवाले फ़्रांसीसी जनतंत्र की सरकार के आधिकारिक मुखपत्र का था (पेरिस कम्यून के समय वेर्साई में थियेर की सरकार ने भी इसी नाम से एक अख़बार निकाला था)। पत्र का ३० मार्च का अंक *«Journal Officiel de la Commune de Paris»* ('पेरिस कम्यून का सरकारी समाचारपत्र') के नाम से निकला था। इस पत्र में साइमन ग्वीयो की चिट्ठी २५ अप्रैल १८७१ को प्रकाशित हुई थी।–पृ० २६७।

145 २८ जनवरी १८७१ को राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार की ओर से फ़ाव्र और जर्मनी की ओर से बिस्मार्क ने 'युद्ध-विराम तथा पेरिस के समर्पण के बारे में उपसंधि' पर दस्तख़त किये। इस जघन्य कृत्य का अर्थ था फ़्रांस के राष्ट्रीय हितों के प्रति विश्वासघात। इस उपसंधि के अंतर्गत फ़ाव्र ने प्रशा द्वारा पेश की गई अपमानजनक शर्तों को क़बूल कर लिया; ये शर्तें थीं: एक पखवारे के अन्दर बतौर हरजाने के २० करोड़ फ़्रैंक की अदायगी, पेरिस के अधिकांश दुर्गों का समर्पण और पेरिस की सेना के तोपख़ाने और गोला-बारूद की सुपुर्दगी।–पृ० २६७।

146 Capitulards (समर्पणकारी)–१८७० और १८७१ की घेराबंदी के समय पेरिस के समर्पण के समर्थकों के लिए प्रयुक्त अवज्ञासूचक विद्रुपनाम। बाद में फ़्रांसीसी भाषा में यह शब्द सामान्यतः सभी समर्पणकारियों का व्यंजक बन गया।–पृ० २६७।

147 *«L'Étendard»* ('झंडा')–बोनापार्ती प्रवृत्ति रखनेवाला एक फ़्रांसीसी समाचारपत्र, जो पेरिस में १८६६ से १८६८ तक प्रकाशित होता रहा। जब धन-संग्रह के प्रयोजन से की गयी इस अख़बार की वित्तीय ठगी का पता चला, उसका प्रकाशन बंद कर दिया गया।–पृ० २६८।

[148] Société Générale du Crédit Mobilier – १८५२ में स्थापित एक बड़ा फ़्रांसीसी मिश्रित पूंजीवाला बैंक, जिसकी आमदनी का मुख्य ज़रिया सरकारी ऋणपत्रों की सट्टेबाज़ी था। यह बैंक द्वितीय साम्राज्य के सरकारी हल्क़ों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता था। १८६७ में बैंक दिवालिया हो गया और १८७१ में उसे ख़त्म कर दिया गया। – पृ० २६८।

[149] *«L'Électeur libre»* ('स्वतंत्र निर्वाचक') – दक्षिणपंथी जनतंत्रवादियों का मुखपत्र, जो पेरिस में १८६८ से १८७१ तक प्रकाशित होता रहा। १८७० और १८७१ के दौरान फ़्रांस में राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार के वित्त-मंत्रालय के साथ उसका गहरा सम्बन्ध था। – पृ० २६८।

[150] १४ और १५ फ़रवरी १८३१ को पेरिस की एक भीड़ ने बेरी के ड्यूक की शोक-सभा के दौरान किये गये लेजिटिमिस्टों के प्रदर्शन के प्रति प्रतिवादस्वरूप सेंत-जेर्मे लोसेरोवा के चर्च को तथा प्रधान बिशप केलेन के महल को लूट लिया। थियेर वहां मौजूद था, लेकिन उसने राष्ट्रीय गार्ड को हस्तक्षेप करने से रोका।

१८३२ में तत्कालीन गृह-मंत्री थियेर की आज्ञा से फ़्रांसीसी तख़्त के लेजिटिमिस्ट दावेदार काउंट शाम्बोर की मां, बेरी की डचेस को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनकी अपमानजनक डाक्टरी परीक्षा कराई गई ताकि उनके गुप्त विवाह का प्रचार किया जा सके और इस तरह उनका राजनीतिक जीवन नष्ट किया जा सके। – पृ० २६९।

[151] १३–१४ अप्रैल १८३४ को जुलाई-राजतंत्र के ख़िलाफ़ पेरिस के जनविद्रोह का दमन करने में तत्कालीन गृह-मंत्री थियेर ने जो जघन्य भूमिका अदा की थी, यहां इशारा उसकी ओर है। सेना ने विद्रोह का पाशविक दमन किया, उदाहरण के लिए त्रांसनोनैं मार्ग पर एक घर के निवासी मार डाले गये।

सितम्बर के क़ानून – प्रेस-विरोधी प्रतिक्रियावादी क़ानून, जिन्हें फ़्रांसीसी सरकार ने सितम्बर १८३५ में लागू किया और जिनके अंतर्गत तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना करनेवाले प्रकाशनों पर भारी जुर्माने लादे जा सकते थे और उनके लिए ज़िम्मेदार लोगों को जेल भेजा जा सकता था। – पृ० २६९।

[152] जनवरी १८४१ में थियेर ने प्रतिनिधि-सदन में पेरिस के चारों ओर फ़ौजी क़िलेबंदी करने की एक योजना पेश की। क्रांतिकारी-जनवादी हल्क़ों ने फ़ौरन

अधिकांश सदस्य प्रतिक्रियावादी राजतन्त्रवादी – देहाती इलाक़ों से चुने गये ज़मींदार, अफ़सर, लगानजीवी और व्यापारी थे। सभा के ६३० प्रतिनिधियों में ४३० राजतंत्रवादी थे। – पृ० २७४।

[159] १० मार्च १८७१ को राष्ट्रीय सभा ने 'कालातिदेय बिलों की आस्थगित अदायगी' के बारे में एक क़ानून पास किया; इस क़ानून के अंतर्गत १३ अगस्त और १२ नवंबर १८७० के बीच लिये गये क़र्ज़ों की अदायगी स्थगित की जा सकती थी, परन्तु १२ नवंबर के बाद लिये गये क़र्ज़ों की अदायगी मुल्तवी नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार इस क़ानून ने मज़दूरों और आबादी के ग़रीब तबक़ों पर कड़ी चोट की और उसके फलस्वरूप बहुत-से छोटे-छोटे उद्योगपति और व्यापारी दिवालिया हो गये। – पृ० २७५।

[160] Décembriseur (दिसंबरी) – २ दिसम्बर १८५१ के बोनापार्ती राज्य-पर्युत्क्षेपण में भाग लेनेवाला और अपहरणकारी कृत्यों का समर्थन करनेवाला। – पृ० २७५।

[161] अख़बारों के मुताबिक़ थियेर की सरकार जो अन्दरूनी क़र्ज़ा चालू करना चाहती थी, उसकी बदौलत थियेर और उसकी सरकार के सदस्यों को बतौर कमीशन के ३० करोड़ फ़्रैंक प्राप्त हुए। पेरिस कम्यून के दमन के बाद २० जून १८७१ को इस क़र्ज़े के बारे में क़ानून पास किया गया। – पृ० २७६।

[162] **कायेन** – फ़्रांसीसी गिनी (दक्षिण अमरीका) का नगर, जहां राजनीतिक बंदियों को कालापानी भेजा जाता था। – पृ० २७७।

[163] «*Le National*» ('राष्ट्रीय समाचारपत्र') – पेरिस से १८३० से १८५१ तक निकलनेवाला एक फ़्रांसीसी दैनिक, जो नरम पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का मुखपत्र था। – पृ० २७६।

[164] **३१ अक्तूबर १८७० को** यह ख़बर पाकर कि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार ने प्रशियाइओं के साथ समझौता-वार्ता शुरू करने का निश्चय किया है, पेरिस के मज़दूरों और राष्ट्रीय गार्ड के क्रान्तिकारी समूहों ने बग़ावत कर दी। उन्होंने टाउनहॉल पर क़ब्ज़ा कर लिया और अपनी क्रान्तिकारी सरकार – ब्लांकी के नेतृत्व में सार्वजनिक सुरक्षा समिति – की स्थापना की। मज़दूरों के दबाव से विवश होकर राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार को इस्तीफ़ा देने और १ नवम्बर

भांप लिया कि दर असल यह योजना जनप्रदर्शनों के दमन की तैयारी थी। योजना में मज़दूर बस्तियों के पास ख़ास तौर पर मज़बूत क़िलेबंदी की व्यवस्था थी।—पृ० २६६।

[153] अप्रैल १८४९ में आस्ट्रिया और नेपुल्स के साथ मिलकर फ़्रांस ने रोमन जनतंत्र को कुचलने और वहां पोप की धर्मेतर सत्ता को पुनःस्थापित करने के लिए उसके ख़िलाफ़ सैनिक हस्तक्षेप संगठित किया। फ़्रांसीसी सेना ने रोम पर भयंकर गोलाबारी की। वीरत्वपूर्ण प्रतिरोध के बावजूद गणराज्य कुचल दिया गया और फ़्रांसीसी सेना ने रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया।—पृ० २७०।

[154] **अमन की पार्टी**—१८४८ में स्थापित बड़े-बड़े अनुदारपंथी पूंजीपतियों की पार्टी, जो फ़्रांस के दोनों राजतंत्रीय गुटों—लेजिटिमिस्टों तथा आर्लियानिस्टों—की संयुक्त पार्टी थी। १८४९ से २ दिसम्बर १८५१ के राज्य-पर्युत्क्षेपण तक द्वितीय साम्राज्य की विधान सभा में उसकी प्रधानता बनी रही।—पृ० २७१।

[155] १५ जुलाई १८४० को इंगलैंड, रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और तुर्की ने मिस्र के शासक मुहम्मद अली के ख़िलाफ़ तुर्की के सुलतान को मदद देने के बारे में लन्दन समझौता सम्पन्न किया; फ़्रांस, जो मुहम्मद अली का समर्थन करता था, इस संधि से अलग रहा। फलस्वरूप फ़्रांस तथा यूरोपीय शक्तियों के संश्रय के बीच युद्ध का ख़तरा पैदा हो गया, मगर लूई फ़िलिप की लड़ाई शुरू करने की हिम्मत न पड़ी और उसने मुहम्मद अली की पीठ से अपना हाथ हटा लिया।—पृ० २७२।

[156] वेर्साई सेना की मदद से पेरिस कम्यून को कुचलने के लिए थियेर ने बिस्मार्क से अपील की कि वह इस सेना में फ़्रांसीसी युद्ध-बंदियों को शामिल होने दे; ये युद्ध-बंदी अधिकांशतः सेदान और मेत्ज़ में आत्मसमर्पण करनेवाली सेनाओं के सैनिक थे।—पृ० २७२।

[157] "Chambre introuvable" ("अतुल सभा")—१८१५ और १८१६ में (अर्थात् पुनःस्थापना काल के प्रथम वर्षों में) फ़्रांस के प्रतिनिधि-सदन का नाम; इन वर्षों में सदन में घोर प्रतिक्रियावादियों का बोलबाला था।—पृ० २७४।

[158] '"**देहातियों" की सभा**'—१८७१ की राष्ट्रीय सभा को दिया गया लक़ब; उस समय सभा का अधिवेशन बोर्दो नगर में हुआ करता था और उसके

[169] ३१ अक्तूबर को (देखिये टिप्पणी १६४) फ़्लूरें ने राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार के सदस्यों को गोली मार दिये जाने से बचाया; विद्रोहियों में एक ने मांग की थी कि उन्हें गोली मार दी जाये। —पृ० २८३।

[170] यहां इशारा ओलों के बारे में आज्ञप्ति की ओर है, जिसे कम्यून ने ५ अप्रैल १८७१ को स्वीकृत किया था। (मार्क्स ने जो तारीख़ दी है वह अंग्रेज़ी अख़बारों में इस आज्ञप्ति के प्रकाशन की तारीख़ है।) इस आज्ञप्ति के अन्तर्गत जिन लोगों के ख़िलाफ़ वेर्साई के साथ सम्पर्क रखने का अभियोग लगाया गया था, वे सभी दोषी सिद्ध होने पर ओल घोषित कर दिये जाते थे। इस आज्ञप्ति द्वारा कम्यून ने कम्यूनार्डों को वेर्साई वालों द्वारा गोली मार दिये जाने से बचाने की कोशिश की। —पृ० २८३।

[171] *«The Times»* — अंग्रेज़ी अनुदारपंथी दैनिक, जो लन्दन में १७८५ से बराबर प्रकाशित होता रहा। —पृ० २८४।

[172] Investiture — अधिकारियों की नियुक्ति की एक व्यवस्था, जिसमें पदसोपान की निचली सीढ़ियों के लोग पूर्णतः उच्च अधिकारियों पर निर्भर रहते थे। —पृ० २९०।

[173] **जीरांदवाले** — १८ वीं सदी से उत्तरार्द्ध की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के समय का एक पूंजीवादी राजनीतिक दल (इसका नाम जीरांद प्रांत के नाम पर पड़ा)। उसने स्वायत्तता तथा संघ बनाने के ज़िलों के अधिकार की रक्षा के झंडे के नीचे जैकोबिन सरकार और उसका समर्थन करनेवाले क्रान्तिकारी जनसाधारण का विरोध किया। —पृ० २९०।

[174] *«Kladderadatsch»* — एक सचित्र व्यंग्य-साप्ताहिक, जो बर्लिन में १८४८ से निकलना शुरू हुआ। —पृ० २९१।

[175] *«Punch, or the London Charivari»* ('पन्च, या लन्दन का गुल-गपाड़ा') — अंग्रेज़ी उदार-पूंजीवादी हास्य-साप्ताहिक, जो लन्दन में १८४१ से प्रकाशित हो रहा है। —पृ० २९१।

[176] यहां इशारा पेरिस कम्यून की १६ अप्रैल १८७१ की आज्ञप्ति की ओर है, जिसके द्वारा क़र्ज़ों की तीन सालों के दौरान किश्तों में अदायगी की व्यवस्था की गयी और उन पर सूद भरना बंद कर दिया गया। —पृ० २९४।

को कम्यून के लिये चुनाव आयोजित करने का वादा करना पड़ा। परन्तु पेरिस की क्रान्तिकारी शक्तियां पर्याप्त रूप से संगठित न थीं, और विद्रोह के नेताओं के बीच – ब्लांकी के अनुयायियों और निम्न-पूंजीवादी जैकोबिन जनवादियों के बीच – मतभेद भी था। सरकार ने इस परिस्थिति से फ़ायदा उठाया और राष्ट्रीय गार्ड की सरकार के प्रति वफ़ादार टुकड़ियों की सहायता से टाउनहॉल को फिर अपने क़ब्ज़े में ले लिया और अपनी सत्ता पुनःस्थापित की। – पृ० २७६।

[165] **"ब्रेतानी सिपाही"** – ब्रेतानी गश्ती रक्षक दल, जिसे त्रोशू ने पेरिस के क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलने के लिए सशस्त्र पुलिस के रूप में इस्तेमाल किया था।

कार्सिकन फ़ौजी – द्वितीय साम्राज्य के काल में ये लोग सशस्त्र पुलिस का एक काफ़ी बड़ा भाग थे। – पृ० २८०।

[166] **२२ जनवरी १८७१** को पेरिस के सर्वहारा तथा राष्ट्रीय गार्ड ने ब्लांकीपंथियों की पेशक़दमी पर एक क्रान्तिकारी प्रदर्शन किया, जिसमें उन्होंने सरकार का तख़्ता उलटने और कम्यून की स्थापना करने की मांग की। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सरकार के हुक्म पर टाउनहॉल की हिफ़ाजत के लिये तैनात ब्रेतानी गश्ती रक्षक दल ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाई। क्रान्तिकारी आन्दोलन को आतंक के जरिये कुचलने के बाद सरकार ने पेरिस को दुश्मन के हवाले कर देने की तैयारी शुरू की। – पृ० २८०।

[167] Sommations (तितर-बितर होने का प्रारम्भिक आदेश) – कतिपय पूंजीवादी राज्यों के क़ानून के अन्तर्गत यह आदेश भीड़ के सामने तीन बार दोहराया जाता था, जिसके बाद अधिकारी बलप्रयोग कर सकते थे।

इंगलैंड में **बलवा क़ानून** (Riot Act) १७१५ में लागू किया गया था। इसके द्वारा बारह से ज्यादा आदमियों की "विद्रोही सभाओं" की मनाही कर दी गई और अधिकारियों को तीन बार एक विशेष चेतावनी पढ़कर सुनाये जाने के बाद एक घंटे में भीड़ के तितर-बितर न होने की सूरत में बलप्रयोग करने का अधिकार दिया गया। – पृ० २८१।

[168] **जेरिको** – इंजील की पुराण-कथा के अनुसार, फ़िलस्तीन आने पर इस्राइलों द्वारा अधिकृत पहला शहर, जिसकी दीवारें घेरा डालनेवालों की तुरहियों के तुमुल स्वर से ढह पड़ी थीं। – पृ० २८१।

congrégations religieuses» ('धार्मिक सम्प्रदायों के अपराध') नामक पुस्तिका में भी इस धार्मिक दुराचार का भंडाफोड़ किया।—पृ० २६८।

[183] विल्हेल्म्सहोये में फ़्रांसीसी युद्ध-बन्दियों का मुख्य कार्य अपने उपयोग के लिए सिगरेट बनाना था।—पृ० २६८।

[184] **ऐब्सेंटिस्ट**—बड़े-बड़े ज़मींदार, जो अपनी ज़मींदारियों में शायद ही कभी जाते थे और या तो कारिन्दों के ज़रिये अपनी ज़मींदारियों का इंतज़ाम कराते थे या उन्हें पट्टे पर दे देते थे। और ये पट्टेदार उन्हें शिकमी पट्टेदारों को उठा देते थे।—पृ० २६६।

[185] ६ जुलाई १७८६ में फ़्रांसीसी राष्ट्रीय सभा ने अपने को संविधान सभा घोषित किया और प्रथम राजतंत्र-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी कार्रवाइयां कीं।—पृ० ३००।

[186] Francs-fileurs (स्वतंत्र पलायक)—पेरिस की घेराबंदी के समय शहर से भाग खड़े होनेवाले पूंजीपतियों को दिया गया लक़ब; प्रशियाइयों के ख़िलाफ़ सक्रिय रूप से संघर्ष करनेवाले फ़्रांसीसी छापेमारों के लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द fracs-tireurs (स्वतंत्र निशानेबाज़) के साथ अपने ध्वनिसाम्य के कारण उसकी व्यंग्यात्मक व्यंजना बढ़ गयी थी।—पृ० ३०१।

[187] **कोब्लेंज़**—जर्मनी का एक नगर। १८वीं शताब्दी के अंत में जब फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति हुई, यह नगर फ़्रांस के सामंती-राजतंत्रवादी उत्प्रवासियों का एक केंद्र बन गया, जहां वे क्रान्तिकारी फ़्रांस के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप की तैयारियों में लगे हुए थे। लूई सोलहवें के भूतपूर्व मंत्री, घोर प्रतिक्रियावादी दे कैलॉन की अध्यक्षता में उत्प्रवासी सरकार भी कोब्लेंज़ में ही स्थापित थी।—पृ० ३०२।

[188] **शुआं**—यह नाम ब्रेतान-प्रदेश में भर्ती किये गये वेर्साई के राजतंत्रपक्षी सैनिकों को उन लोगों के नमूने पर दिया गया था, जिन्होंने १८वीं शताब्दी के अंत में हुई फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान उत्तर-पश्चिमी फ़्रांस में प्रतिक्रान्तिकारी राजतंत्रवादी विद्रोह में भाग लिया था।—पृ० ३०२।

[189] जब पेरिस में सर्वहारा क्रान्ति हुई, जिसके फलस्वरूप पेरिस कम्यून की स्थापना हुई, तब उसके असर से उसी तरह के क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन लियां और

[177] २२ अगस्त १८४८ को संविधान सभा ने "मैत्रीपूर्ण राज़ीनामा" ("concordats á l'amiable") के विधेयक को, जिसका उद्देश्य क़र्ज़ों की अदायगी का आस्थगन था, अस्वीकृत कर दिया। नतीजा यह हुआ कि निम्नपूंजीपति वर्ग का एक बहुत बड़ा भाग बिल्कुल ही चौपट हो गया और उसने अपने को बड़े पूंजीपति वर्ग के महाजनों पर सर्वथा आश्रित पाया।–पृ० २९४।

[178] Frères ignorantins (अनभिज्ञ भ्राता)–रीम्स नगर में १६८० में स्थापित एक धार्मिक सम्प्रदाय का तिरस्कारसूचक नाम। इस सम्प्रदाय के सदस्य ग़रीबों के बच्चों को शिक्षा देने का बीड़ा उठाते थे। विद्यार्थियों को प्रधानतः धार्मिक शिक्षा दी जाती थी और अन्य क्षेत्रों में उन्हें अत्यंत अल्प ज्ञान प्राप्त होता था।–पृ० २९४।

[179] **प्रांतों का जनतंत्रीय संघ**–फ़्रांस के विभिन्न प्रांतों के पेरिस में रहनेवाले निम्न-पूंजीवादी प्रतिनिधियों का एक राजनीतिक संगठन। इसने जनता का आह्वान किया कि वह वेर्साई सरकार और राजतंत्रवादी राष्ट्रीय सभा से मोर्चा ले तथा पूरे देश में कम्यून का समर्थन करे।–पृ० २९५।

[180] यहां इशारा २७ अप्रैल १८२५ के क़ानून की ओर है, जिसमें भूतपूर्व उत्प्रवासियों को फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान ज़ब्त की गयी उनकी ज़मीनों के लिये मुआवज़ा देने की व्यवस्था थी।–पृ० २९५।

[181] **वांदोम स्तम्भ** १८०६ और १८१० के बीच पेरिस में नेपोलियन की जीतों के स्मारक के रूप में खड़ा किया गया था। इसे शत्रु-सेनाओं से छीनी तोपों के कांसे को गला कर ढाला गया था, और उसके शीर्ष पर नेपोलियन की मूर्ति स्थापित की गयी थी। १६ मई १८७१ को पेरिस कम्यून वांदोम स्तम्भ गिरा दिया गया।–पृ० २९७।

[182] पिक्पुस के भिक्षुणी-मठ में ऐसी भिक्षुणियों का पता चला, जिन्हें सालों से कोठरियों में क़ैद रखा गया था और उन्हें यंत्रणा देने के औज़ार भी पाये गये; सेंत लोरां चर्च में एक गुप्त क़ब्रगाह पाया गया, जो इस बात का सबूत था कि वहां हत्याएं हुई थीं। कम्यून ने *«Mot d' Ordre»* ('परोल') समाचारपत्र के ५ मई १८७१ के अंक में और *«Les Crimes des*

[195] १८१२ के पतझड़ में मास्को की जनता ने नेपोलियन प्रथम की सेना द्वारा अधिकृत मास्को के एक काफ़ी बड़े हिस्से में आग लगा दी ताकि शत्रु-सेना को न तो जाड़े से बचाव के लिए आवास मिल सके और न ही खाद्य की सप्लाई। – पृ० ३१२।

[196] **प्रीटोरियन** – प्राचीन रोम में सेनापति अथवा सम्राट् के अंगरक्षक, जिन्हें अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये लोग आंतरिक उपद्रवों में बराबर हिस्सा लेते थे और अक्सर जिन्हें वे चाहते उन्हें गद्दी पर बैठाते थे। आगे चलकर यह शब्द भाड़े के टट्टुओं, सैन्यवादियों के स्वेच्छाचारी स्वरूप का प्रतीक बन गया। – पृ० ३१३।

[197] मार्क्स ने प्रशियाई सभा को यही संज्ञा दी थी (फ़ांसीसी "chambre introuvable" "अतुल सभा" – के नमूने पर। – देखें टिप्पणी १५७)। जनवरी तथा फ़रवरी १८४६ में निर्वाचित सभा के दो सदन थे, पहला, "सामन्तों का सदन", विशेषाधिकारसम्पन्न अभिजातीय सदन था; दूसरे सदन की सदस्यता दो चरणों में होनेवाले चुनावों द्वारा निश्चित होती थी, जिनमें केवल तथाकथित "स्वतंत्र" प्रशियाई लोग भाग लेते थे। बिस्मार्क दूसरे सदन का सदस्य निर्वाचित हुआ था और वहां वह घोर प्रतिक्रियावादी दल का एक नेता बन गया। – पृ० ३१३।

[198] «*The Daily News*» – अंग्रेज़ी उदारतावादी समाचारपत्र, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का मुखपत्र, जो लन्दन में १८४६ से १९३० तक प्रकाशित होता रहा। – पृ० ३१७।

[199] «*Le Temps*» ('ज़माना') – फ़्रांसीसी अनुदारपंथी दैनिक, बड़े पूंजीपति वर्ग का मुखपत्र, जो पेरिस में १८६१ से १९४३ तक प्रकाशित होता रहा। – पृ० ३१८।

[200] «*The Evening Standard*» – अंग्रेज़ी अनुदारपंथी समाचारपत्र «*Standard*» का सांध्य-संस्करण, जो लन्दन से १८५७ से १९०५ तक निकलता रहा। बाद में निर्दलीय समाचारपत्र। – पृ० ३१८।

[201] यह चिट्ठी कार्ल मार्क्स तथा फ़्रेडरिक एंगेल्स ने लिखी थी। – पृ० ३१८।

मार्सेई के नगरों में भी हुए। परन्तु सरकारी सेना ने इन क्रान्तिकारी जन-प्रदर्शनों को बेरहमी से कुचल दिया।—पृ० ३०४।

[190] फ़ौजी अदालत की कार्रवाई के बारे में जो क़ानून दूफ़ोर ने राष्ट्रीय सभा में पेश किया था, उसके अन्तर्गत यह आदेश दिया गया कि हर मामले में ४८ घंटों के अन्दर तहक़ीक़ात और दंडाज्ञा का पालन होना चाहिये।—पृ० ३०४।

[191] इंगलैंड और फ़्रांस के बीच यह वाणिज्य-संधि २३ जनवरी १८६० को संपन्न हुई थी। इसके अन्तर्गत फ़्रांस ने स्वीकार किया था कि वह अपनी निषेधात्मक नीति का परित्याग करेगा और उसकी जगह सीमाशुल्क लगायेगा। नतीजा यह हुआ कि फ़्रांस में अंग्रेजी माल की बाढ़ सी आ गयी और घरेलू बाज़ार में होड़ बहुत बढ़ गयी, जिसके कारण फ़्रांसीसी कारख़ानेदारों में घोर असंतोष फैल गया।—पृ० ३०६।

[192] यहां इशारा प्राचीन रोम में आतंक के राज और ख़ूनी दमन की ओर है, जो ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी में रोम जनतंत्र के दास-स्वामी समाज के संकट की विभिन्न मंज़िलों में किया गया: **सुल्ला की तानाशाही** (८२–७९ ई० पू०), **प्रथम तथा द्वितीय ट्रायमविरेट (त्रिपुरुषराज्य)** (६०–५३ ई० पू० और ४३–३६ ई० पू०), अर्थात् रोमन सेनापतियों के अधिनायकत्व के काल: पाम्पी, सीज़र और क्रैसस का अधिनायकत्व—प्रथम ट्रायमविरेट; आक्टेवियस, एन्टोनियस और लेपिडस का अधिनायकत्व—द्वितीय ट्रायमविरेट।—पृ० ३०८।

[193] «*Journal de Paris*» ('पेरिस अख़बार')—राजतंत्रवादी-आर्लियांपंथी प्रवृत्ति का साप्ताहिक, जिसका प्रकाशन पेरिस में १८६७ से आरम्भ किया गया।—पृ० ३०९।

[194] अगस्त १८१४ में, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच युद्ध के दौरान, ब्रिटिश सेना ने वाशिंगटन पर क़ब्ज़ा कर लिया और कैपिटल (संसद भवन), राष्ट्रपतिभवन तथा दूसरी सरकारी इमारतों को आग लगा दी।

अक्तूबर १८६० में चीन के ख़िलाफ़ ब्रिटेन और फ़्रांस द्वारा चलाये गये युद्ध के दौरान, ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं ने चीनी सम्राट के ग्रीष्म-प्रासाद को पहले लूटा और फिर उसे जला डाला; यह प्रासाद चीनी कला तथा स्थापत्य का एक भंडार था।—पृ० ३११।

नाम-निर्देशिका

उ

ए

काल्बर (Colbert), जां बप्तिस्त (१६१६–१६८३) – फ़्रांसीसी राजनेता, वाणिज्यवाद के पक्षधर, वित्त-नियंत्रक। – १८५।

कुगेलमन (Kugelmann), लुडविग (१८३०–१६०२) – जर्मन चिकित्सक, १८४८-१८४६ की क्रान्ति में भाग लिया, इंटरनेशनल के सदस्य, इंटरनेशनल की कई कांग्रेसों में भाग लिया, मार्क्स परिवार के मित्र। – १०६।

कूज़ें-मान्ताबां (Cousin-Montauban), शार्ल गिल्योम मारी अपोलिनेयर अन्तुआन, काउंट **दे पालिकाओ** (१७६६–१८७८) – फ़्रांसीसी जनरल, बोनापार्तपंथी, १८६० में चीन में आंग्ल-फ़्रांसीसी अभियान सेना के सेनापति; युद्ध-मंत्री तथा प्रधान मंत्री (अगस्त – सितंबर १८७०)। – २७५।

केंट (Kent), नटानिएल (१७३७–१८१०) – अंग्रेज़ फ़ार्मर, खेती-बारी के विषय में कई रचनाओं के लेखक। – १४०।

केने (Quesnay), फ़्रांसुआ (१६६४–१७७४) – महान फ़्रांसीसी अर्थशास्त्री, फ़िज़ियोक्रेटिक पंथ के संस्थापक। – ११२।

कैरी (Carey), हेनरी चार्ल्स (१७६३–१८७६) – अमरीकी पूंजीवादी अर्थशास्त्री 'दास-व्यापार' तथा कई अन्य पुस्तकों के लेखक। – १४७, १७४।

कैलॉन (Calonne), शार्ल अलेक्सान्द्र **दे** (१७३४–१८०२) – फ़्रांसीसी राजनीतिज्ञ, १८ वीं शताब्दी की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान प्रतिक्रांतिकारी उत्प्रवासियों के एक नेता। – ३०२।

कैवेन्याक (Cavaignac), लूई एजेन (१८०२–१८५७) – फ़्रांसीसी जनरल और राजनीतिज्ञ, नरम पूंजीवादी जनतंत्रवादी, मई १८४८ से युद्धमंत्री, पेरिस के मज़दूरों के जून विद्रोह को बेरहमी से कुचला, कार्यकारी सत्ता के प्रधान (जून-दिसम्बर १८४८)। – ३१३।

कोबेट (Cobbett), विलियम (१७६२–१८३५) – अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ तथा पत्रकार, 'इंगलैंड तथा आयरलैंड में प्रोटेस्टेंट सुधार का इतिहास' तथा अन्य पुस्तकों के लेखक, निम्नपूंजीवादी आमूल परिवर्तनवादी। – १३२, १८१, १८४।

कोम्त (Comte), अगस्त (१७६८–१८५७) – फ़्रांसीसी दार्शनिक, प्रत्यक्षवाद के जन्मदाता। – ११५।

कोम्त (Comte), शार्ल (१७८२–१८३७) – फ़्रांस के भोंदू पूंजीवादी अर्थशास्त्री, 'विधि-निर्माण पर प्रबन्ध' के लेखक। – १७७।

कोयतलोगां (Coëtlogon), लूई शार्ल एमानुएल, काउंट **दे** (१८१४–१८८६) –

च

ज

ट

पेन (Pène), आंरी दे (१८३०–१८८८) – फ़्रांसीसी पत्रकार, राजतंत्रवादी, २२ मार्च १८७१ को पेरिस में की गयी प्रतिक्रांतिकारी कार्रवाई के एक संगठनकर्ता। – २८१।

प्राइस (Price), रिचार्ड (१७२३–१७९१) – अंग्रेज़ उग्रवादी पत्रकार, अर्थशास्त्री तथा नैतिकतावादी दार्शनिक। – १४०, १४२।

प्रीस्तले (Priestley), जोज़ेफ़ (१७३३–१८०४) – प्रसिद्ध अंग्रेज़ रसायनज्ञ, भौतिकवादी दार्शनिक तथा प्रगतिशील जन-नेता। – २०५, २०६।

प्रूदों (Proudhon), पियेर जोज़ेफ़ (१८०९–१८६५) – फ़्रांसीसी पत्रकार, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, निम्नपूंजीवादी विचारधारा के निरूपक तथा अराजकतावाद के एक प्रवर्त्तक, १८४८ में संविधान सभा के प्रतिनिधि। – २५–३४, २४५, २४६।

पूये-कर्तिये (Pouyer-Quertier), ओग्यूस्तेन थोमा (१८२०–१८९१) – फ़्रांस के एक बड़े कारख़ानेदार तथा राजनीतिज्ञ, वित्त-मंत्री (१८७१–१८७२)। – २७५, २७६, ३०६।

फ

फ़र्दीनांद द्वितीय (Ferdinand II) (१८१०–१८५९) – नेपुल्स के राजा (१८३०–१८५९); १८४८ में मेसिना पर गोले बरसाने के लिए "राजा बम" नाम पड़ गया। – २७०।

फ़ायरबाख़ (Feuerbach), लुडविग (१८०४–१८७२) – मार्क्स से पहले के महान जर्मन भौतिकवादी दार्शनिक। – २६।

फ़ाव्र (Favre), जूल (१८०९–१८८०) – फ़्रांसीसी वकील तथा राजनीतिज्ञ, नरम विचारोंवाले पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के नेताओं में से एक; विदेश-मंत्री (१८७०–१८७१) के रूप में पेरिस के समर्पण तथा जर्मनी के साथ शान्ति संधि की शर्तों पर समझौता-वार्ता की; पेरिस कम्यून के संहारकर्ताओं में से एक, इंटरनेशनल के विरुद्ध उकसावाभरी कार्रवाई की। – २५१, २६६, २६७, २६८, २७२, २७६, २७९, २९९, ३०७, ३१८, ३१९, ३२०।

फ़ील्डन (Fielden), जान (१७८४–१८४९) – अंग्रेज़ कारख़ाना-मालिक, लोकोपकारी। – १८६।

फ़ुरिये (Fourier), शार्ल (१७७२–१८३७) – फ़्रांस के महान कल्पनावादी समाजवादी। – २६, १९६, २२७।

प

बेरी (Berry) की डचेस, मारी कैरोलिन फ़र्दीनांद लुईस (१७९८–१८७०) – फ़्रांसीसी राजसिंहासन के लेजिटिमिस्ट दावेदार काउंट शाम्बोर की मां, १८३२ में उन्होंने लूई फ़िलिप का तख़्ता उलटने के उद्देश्य से वंदेय में विद्रोह भड़काने की कोशिश की। – २६६।

बेर्जेरे (Bergeret), जूल विक्तोर (१८३९–१९०५) – पेरिस कम्यून की एक हस्ती, राष्ट्रीय गार्ड के जनरल, बाद में उत्प्रवासी। – २८१।

बेर्वी, वासीली वासील्येविच (**न० फ़्लेरोव्स्की** का छद्मनाम) – रूसी अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री, कल्पनावादी नरोदवादी समाजवाद के प्रतिनिधि, 'रूस में मज़दूर वर्ग की स्थिति' पुस्तक के लेखक। – २२९, २३०।

बेले (Beslay), शार्ल (१७९५–१८७८) – फ़्रांस के उद्यमकर्ता और राजनीतिज्ञ, प्रूदोंपंथी, पहले इंटरनेशनल के सदस्य, पेरिस कम्यून में उन्होंने वित्तीय समिति के सदस्य तथा फ़्रांसीसी बैंक में कम्यून के प्रतिनिधि की हैसियत से बैंक के मामलों में हस्तक्षेप न करने तथा उसके राष्ट्रीयकरण से परहेज़ करने की नीति अपनायी। – २७३।

बोलिंगब्रोक (Bolingbroke), हेनरी (१६७८–१७५१) – अंग्रेज़ निर्गुण ईश्वरवादी दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा टोरी। – १८३।

ब्यूकेनेन (Buchanan), डेविड (१७७९–१८४८) – अंग्रेज़ पूंजीवादी अर्थशास्त्री, एडम स्मिथ के अनुयायी तथा उनकी कृतियों के भाष्यकार। – १४५।

ब्राइट (Bright), जॉन (१८११–१८८९) – अंग्रेज़ उद्योगपति, अन्न क़ानून विरोधी लीग के संस्थापकों में से एक, १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक के अन्त में लिबरल पार्टी के एक नेता, अनेक लिबरल मंत्रिमंडलों में मंत्री। – ११३, १७४, २१६।

ब्रिसो (Brissot), जां पियेर (१७५४–१७९३) – १८ वीं शताब्दी के अन्त में फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के प्रमुख नेता ; पहले जैकोबिन, फिर जिरोंदपंथी पार्टी के नेता और सिद्धांतकार। – २७।

ब्रूनेल (Brunel), अन्तुआन मग्लुआर (जन्म १८३०) – फ़्रांसीसी अफ़सर, ब्लांकीपंथी, राष्ट्रीय गार्ड तथा पेरिस कम्यून की केन्द्रीय समिति के सदस्य ; मई १८७१ में वेर्साई के सैनिकों के हाथों बुरी तरह ज़ख़्मी। – ३१८।

ब्रूम (Brougham), हेनरी पीटर (१७७८–१८६८) – अंग्रेज़ न्यायविद, साहित्यकार, व्हिग तथा लार्ड चांसलर। – १८९।

य

र

तथा प्रत्यक्षवादी दार्शनिक; राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्लासिकीय पंथ के तुच्छ अनुयायी। – ११३, ११४, १७४।

मिलर (Miller)), जोज़ेफ़ (जॉ) (१६८४–१७३८) – लोकप्रिय अंग्रेज हास्य-अभिनेता। – २६८।

मिल्येर (Millière) जान बतिस्त (१८१७–१८७१) – फ़्रांस के पत्रकार, वामपंथी प्रूदोंवादी; मई १८७१ में वेर्साइयों के हाथों मारे गये। – २६७, ३२०।

मुंत्सर (Münzer), टामस (लगभग १४९०–१५२५) – महान जर्मन क्रान्तिकारी, धर्मसुधार तथा १५२५ के किसान युद्ध के काल में ग़रीब किसानों के नेता तथा उनकी विचारधारा के निरूपक, कल्पनावादी समतावादी कम्युनिज़्म के विचारों का प्रचार किया। – २१२।

मेंडेल्स्सोन (Mendelssohn), मोसेस (१७२९–१७८६) – जर्मन प्रतिक्रियावादी दार्शनिक, निर्गुण ईश्वरवादी (deist)। – ११९।

मेनीनियस एग्रिप्पा (मृत्यु ४९३ ई० पू०) – रोम के पेट्रीशियन। – ३९।

मैक-कुलोच (Mac Culloch), जान रैमज़े (१७८९–१८६४) – ब्रिटिश पूंजीवादी अर्थशास्त्री, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र का इतिहास' तथा अन्य कृतियों के लेखक; रिकार्डो के आर्थिक सिद्धांतों को विकृत करने वाले। – १४०।

मैक-मेहन (Mac-Mahon), मारी एडम पैत्रिस मोरिस (१८०८–१८९३) – फ़्रांस के प्रतिक्रियावादी, फ़ौजी नेता तथा राजनीतिज्ञ, बोनापार्तपंथी, पेरिस कम्यून का हत्यारा। – ३०७, ३१३।

मैकाले (Macaulay), टामस बैबिंगटन (१८००-१८५९) – ब्रिटिश पूंजीवादी राजनीतिज्ञ, व्हिग, 'इंगलैंड का इतिहास' तथा अन्य पुस्तकों के रचयिता। – १२६, १३४।

मोंतेई (Monteil), अमान अलेक्सीस (१७६९–१८५०) – फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार, 'इतिहास के विभिन्न भागों से सम्बन्धित पांडुलिपि सामग्री पर प्रबंध' तथा अन्य कृतियों के लेखक। – १६८।

मोर (More), टामस (१४७८–१५३५) – अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ, कल्पनावादी कम्युनिज़्म के आरम्भिक प्रतिनिधियों में से एक, 'यूटोपिया' के लेखक। – १२८, १३०, १५५।

व

रोबिने (Robinel), जान फ़ांसुग्रा एजेन (१८२५–१८६६)–फ़ांस के इतिहासकार, प्रत्यक्षवादी, १८७०–१८७१ में पेरिस की घेराबंदी के दौरान नगर के एक वार्ड के मेयर।–३१५।

रोबेसपियेर (Robespierre), मैक्सिमिलियन (१७५८–१७६४) – १८ वीं शताब्दी के ग्रंत में हुई फ़ांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के प्रमुख नेता, जैकोबिन पार्टी के नेता, क्रान्तिकारी सरकार के ग्रध्यक्ष (१७६३–१७६४)।–४४।

रोस्को (Roscoe), हेनरी एनफ़ील्ड (१८३३–१६१५)–ग्रंग्रेज़ रसायनशास्त्री, रसायन शास्त्र पर कई पाठ्य-पुस्तकों के लेखक।–२०६।

ल

लाफ़ीत (Laffitte), जाक (१७६७–१८४४)–फ़ांस के एक बड़े बैंकपति तथा राजनीतिज्ञ, ग्रार्लियानिस्ट।–२६६।

लावोइज़िए (Lavoisier), ग्रन्तुग्रान लोरां (१७४३–१७६४)–फ़ांस के महान रसायनशास्त्री, जिन्होंने फ्लोजिस्टन संबंधी मत का खंडन किया; राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र तथा सांख्यिकी की समस्याग्रों के संबंध में भी कार्य किया।–२०६।

लासाल (Lassalle), फ़र्दीनांद (१८२५–१८६४)–जर्मन निम्नपूंजीवादी पत्रकार, वकील; १८४८–१८४६ में राइन प्रांत में जनवादी ग्रांदोलन में भाग लिया; सातवें दशक के ग्रारम्भ में मज़दूर ग्रान्दोलन में भाग लेने लगे; ग्राम जर्मन मज़दूर संघ के संस्थापकों में से एक (१८६३); "ऊपर से", प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की नीति के समर्थक; जर्मन मज़दूर ग्रान्दोलन में ग्रवसरवादी प्रवृति में संस्थापक।–१०४।

लिंकन (Lincoln), ग्रब्राहम (१८०६-१८६५)–ग्रमरीका के विख्यात राजनेता; राष्ट्रपति (१८६१–१८६५); रिपब्लिकन पार्टी के संस्थापकों में से एक; ग्रप्रैल १८६५ में दास-स्वामियों के एक दलाल द्वारा कत्ल।–२३, २४, २१०।

लीसिनियस (Licinus Gais Licinius Stolo)–चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध के रोमन राजनेता, जनाभिवक्ता होने के नाते उन्होंने सेक्सटियस के साथ मिलकर प्लेबियनों के हित में क़ानूनों का कार्यान्वयन किया।–१४१।

लूई नेपोलियन (Louis Napoleon)–देखिये **नेपोलियन तृतीय।**

लूई फ़िलिप (Louis Philippe) (१७७३–१८५०)–ग्रार्लियां के ड्यूक, फ़ांस के बादशाह (१८३०–१८४८)।–१३, २३७, २३८, २६६, २७१, २७२, २७६, २६१, ३०४।

श

ह

स

साहित्यिक और पौराणिक पात्रों की सूची

ईसा मसीह – ईसाई धर्म के पुराण-विश्रुत संस्थापक। – ३०२।

काइन – बाइबल के अनुसार आदम का बड़ा पुत्र, जिसने अपने भाई हाबिल की हत्या कर दी थी। – १७४।

जॉब – इंजील का एक पात्र, उस दीन, दुःखी, दरिद्र व्यक्ति का प्रतीक, जिसे ईश्वर ने उसके धैर्य तथा विनयशीलता के लिए पुरस्कृत किया। – २७२।

जोशुआ (येहोशुआ बेन नून) – इंजील का एक वीर पात्र, जिसके तूर्यनाद तथा जिसके शूरवीरों की ललकार से जेरिको की दीवारें ढह पड़ीं। – २८१।

डॉन कार्लोस – स्पेन के फ़िलिप द्वितीय (१५४५–१५६८) का बेटा, जिस पर अपने पिता का विरोध करने के लिए ज़ुल्म ढाये गये, जिसके यातनाग्रस्त जीवन का अन्त जेलखाने में हुआ ; और जिसका भावात्मक, आदर्शीकृत चित्र अनेक साहित्यिक कृतियों में प्रस्तुत किया गया है। – २७१।

डेमोक्लिज़ (यूनानी पुराण) – सिराक़ुस के अत्याचारी राजा डीयोनिसियस (चौथी शताब्दी, ई० पू०) का एक राजसभासद। कहते हैं कि डीयोनिसियस ने उसे भोज के लिए आमंत्रित किया और उसे अपने सिंहासन पर, जिसके ऊपर एक बाल से लटकी नंगी तलवार झूल रही थी, बैठाया। प्रयोजन यह था कि डेमोक्लिज़, जो डीयोनिसियस से ईर्ष्या करता था, मनुष्य के सुख की अनिश्चितता का अनुभव कर सके ; लाक्षणिक अर्थ में – सिर के ऊपर बराबर मंडराने वाला भारी ख़तरा। – २३६।

पर्सियस (यूनानी पुराण) – ज़ीयस तथा डाने का पुत्र, जिसने मेदूसा राक्षसी का सिर काट डाला और बड़े बड़े करतब दिखाये। – १०६।

पिस्टल – शेक्सपियर के नाटक, 'हेनरी चतुर्थ', 'हेनरी पंचम' तथा 'विन्डसर

की मगन बीवियां' का एक पात्र, कपटी, कायर और घमंडी। – ३१८।

पूरसोन्याक – मोलियेर के प्रहसन 'मोशिये दे पूरसोन्याक' का मुख्य पात्र, एक अहमक़ जाहिल जमींदार। – २७४।

फ़ल्स्ताफ़ – शेक्सपियर के नाटक 'विंडसर की मगन बीवियां' तथा 'हेनरी चतुर्थ' का एक पात्र; कायर, हंसोड़ और पियक्कड़। – २६८।

मेगेरा – प्रतिशोध की तीन देवियों में एक; क्रोध तथा ईर्ष्या की मूर्त्ति; लाक्षणिक अर्थ में दुष्टा, लड़ाकू स्त्री। – ३१०।

मेदूसा (यूनानी पुराण) – भयंकर राक्षसिनी, जिसे देखने वाला पत्थर बन जाता था। – १०६।

मोलोख – प्राचीन फ़िनिकिया धर्म तथा कार्थेज का सूर्य-देवता, जिसके लिए लोगों को बलि दी जाती थी; आगे चल कर भयावह शक्ति के प्रतीक को दिया गया नाम। – १६।

शाइलाक – शेक्सपियर के नाटक 'वेनिस का व्यापारी' का पात्र; लोलुप सूदख़ोर, जिसने कोशिश की कि उसका क़र्ज़दार, जिसने वादे पर रुपया नहीं चुकाया था, अपने शरीर का एक पौंड गोश्त देकर क़र्ज की शर्त्त पूरी करे। – २७५।

हरकुलीज़ (यूनानी पुराण) – लोकप्रिय वीर नायक, जो अपने पौरुष तथा अतिमानवीय पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है। – २६३।

हाबिल – बाइबल के अनुसार आदम का पुत्र, जिसकी उसके बड़े भाई ने हत्या कर दी थी। – १७४।

हेकेटा (यूनानी पुराण) – चन्द्रकिरणों की देवी, जिसके तीन सिर और तीन शरीर थे, पाताल लोक के पिशाचों और राक्षसों की स्वामिनी, अनिष्ट और जादू-टोने की देवी। – ३१०।

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन सम्बन्धी आपके विचारों के लिये आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। हमारा पता है:

प्रगति प्रकाशन,
२१, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।